

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी



विधि पत्रिका

वर्ष ३] मार्गशीर्ष (सौर) सं० २०१५ : शक १८८० : नवंबर-दिसंबर १९५८ [अंक १

विधिविषयक लेखों, केंद्रीय-राज्य अधिनियमों आदि से युक्त, इलाहाबाद तथा भारत के अन्य उच्च न्यायालयों के महत्वपूर्ण अँगरेजी निर्णयों का हिंदी रूपांतर तथा विवरण प्रकाशित करनेवाली हिंदी जगत् की एकमात्र मासिक पत्रिका

विषय सूची

वार्षिक शुल्क १०)   एक प्रति का १)

परामर्शदातृ समिति

(१) श्री कमलाकांत वर्मा, भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद
(२) श्री बलराम उपाध्याय, न्यायाधीश, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद ।
(३) श्री कन्हैयालाल मिश्र, महाधिवक्ता, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद ।
(४) श्री गोपालचंद्र सिंह, विशेष अधिकारी, सचिवालय, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ ।
(५) श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय ।

संपादक मंडल

(१) श्री ब्रजरत्नदास, वकील, वाराणसी ।
(२) श्री प्रतापनारायण सिंह, राजकीय अधिवक्ता, वाराणसी ।
(३) श्री गौरीनंदन उपाध्याय, ऐडवोकेट, वाराणसी ।
(४) श्री देवीनारायण, ऐडवोकेट, वाराणसी ।
(५) श्री कैलासपति त्रिपाठी, ऐडवोकेट, वाराणसी ।
(६) श्री गोपीकृष्ण, बार-ऐट-ला, वाराणसी ।
(७) श्री चतुर्भुजदास पारिख, ऐडवोकेट, वाराणसी ।
(८) श्री राघवराम वर्मा, वकील, वाराणसी ।
(९) चौधरी शुकदेव सिंह, वकील, वाराणसी ।
(१०) श्री मोतीलाल बापुली, ऐडवोकेट, वाराणसी ।

श्री चंद्रभूषण मिश्र, ऐडवोकेट }
श्री रामसुरत सिंह, ऐडवोकेट } प्रतिवेदक, इलाहाबाद

संपादक (संयोजक)—सिद्धनाथ सिंह बी० ए०, एल-एल० बी०, वकील
सहायक संपादक—पारसनाथ सिंह बी० ए०, एल-एल० बी०

विधि पत्रिका नवंबर-दिसंबर १९५८

(शक १८८०)

वाद तालिका

विधि पत्रिका

[लेख खंड]

वर्ष ३] मार्गशीर्ष (सौर) सं० २०१५ : शक १८८० : नवंबर-दिसंबर १९५८ [अंक १

संपादकीय

अर्थ और न्याय—

सिद्धांततः न्याय के सिर पर अर्थ का बोझ नहीं होना चाहिए। न्याय पाने का अधिकार प्रत्येक प्राणी का है। यदि समाज या राष्ट्र अन्याय से रक्षा करने में असमर्थ है तो उसकी उपयोगिता नहीं—हत्यारे, लुटेरे और डाकू से यदि रक्षा न हो सकी तो राज्य की यथार्थता ही क्या ? मनुष्य ने इन्हीं आपदाओं से रक्षा पाने के लिये ही तो राज्य की सत्ता के अंतर्गत रहना स्वीकार किया। शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करने के एकमात्र उद्देश्य से प्रेरित होकर मनुष्य ने अपनी कुछ स्वतंत्रताओं को छोड़ना स्वीकार किया और वह राजा की सत्ता के भीतर आया। उसे विश्वास था कि अन्याय होने पर राजा हमारी रक्षा करेगा। अन्याय से घिर जाने पर ही न्याय की आवश्यकता प्रतीत हुई। राज्य का न्याय विभाग एक प्रमुख अंग हुआ। प्राचीन काल में राजा न्यायकर्ता और शासक दोनों का अधिष्ठाता था। राजा के अच्छे या बुरे होने पर न्याय बहुत कुछ अवलंबित था। राजा को स्वयं सत्य की खोज करने का अधिकार था। आचार, संहिता और दंडविधान धीरे धीरे राजा के प्रथप्रदर्शन के लिये आए।

आज न्याय विभाग स्वतंत्र है। इसका गठन बहुत कुछ वैज्ञानिक ढंग पर है फिर भी न्याय के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो रही है। आज भी न्यायार्थी के सामने कठिनाइयाँ अनेक हैं। जब तक उसके पास द्रव्य नहीं न्याय नहीं प्राप्त हो सकता। व्यवहार और आपराधिक मुकदमों में कठोर परिश्रम के साथ साथ उसे अधिक धन व्यय करना पड़ता है। साक्षियों को न्यायालय के संमुख प्रस्तुत करने का दायित्व न्यायार्थी पर रहता है। धन के अभाव में उसका वाद या प्रतिवाद समाप्त हो जाता है। यदि धन की कमी हुई तो वह न्यायालय में मारा मारा फिरता है। इसके कुछ अपवाद हैं पर नगण्य। धनी पुरुषों के लिये यह अर्थभार संभव भी होता है पर निर्धन की स्थिति अत्यंत भयावह हो जाती है। यों तो न्याय सबके लिये सुलभ होना चाहिए और इसमें धन यदि व्यय न करना पड़े तो बहुत ही अच्छा है पर निर्धन के लिये न्याय अनिवार्यतः निःशुल्क होना चाहिए। आज की न्यायप्रणाली में हमें देखना है कि इस उद्देश्य की पूर्ति कहाँ तक हो सकती है और किस अंश तक निर्धन को बिना अर्थ के न्याय की प्राप्ति संभव है।

व्यवहार (सिविल) वादों में निर्धनवाद (प्रापर सूट) की व्यवस्था है। यह व्यवस्था निर्धनों को निःशुल्क

न्याय प्रदान करने के विचार से की गई है किंतु प्रार्थी निर्धन है कि नहीं केवल इसी बात को प्रमाणित करना एक मुकदमे के निर्णय से कम कठिन नहीं है। निर्धनता को प्रमाणित करने के लिये तहसीलदार के पास जाना पड़ता है और आज की दूषित न्याय पद्धति में वहाँ पैसा खर्च करना ही पड़ता है। तहसीलदार का आदेश प्राप्त हो जाने के बाद भी इसके लिये अनेक कार्यवाहियाँ करनी पड़ती हैं। निर्धन व्यक्ति को न्याय सुलभ हो इसीलिए यह व्यवस्था है किंतु वह व्यक्ति निर्धन है कि नहीं इसको प्रमाणित करना एक प्रकार से निर्धन को दुर्लभ ही है। इस प्रकार निर्धन के लिये यह सुविधा अपर्याप्त और असंतोषजनक है।

आपराधिक (क्रिमिनल) मामलों में भी निर्धनों को दी जानेवाली सहायता शून्य के बराबर है। सर्वप्रथम यह सुविधा केवल प्राणहत्या के संबंध में दी जाती है। यदि किसी अभियुक्त पर प्राणहत्या का आरोप हो और वकील रखने की उसकी सामर्थ्य न हो तो न्यायकर्ता के अनुरोध पर राज्य की ओर से उसके लिये वकील रखने का नियम है पर ऐसे वकीलों की एक सूची होती है और उसी सूची से बारी बारी से वकील इन मुकदमों के लिये नियुक्त किए जाते हैं। इस प्रकार निर्धन की ओर से सरकार द्वारा नियुक्त जो वकील काम करते हैं वे क्षमता में उन वकीलों से कम होते हैं जो भारी शुल्क देकर व्यक्तिगत रूप से नियुक्त किए जाते हैं। इस प्रकार संभव है धनाभाव के कारण निर्दोष व्यक्ति भी दंडित हो जाय। अर्थाभाव में निर्दोष व्यक्ति का दंड पा जाना या अर्थ के बाहुल्य से दोषी व्यक्ति का दंड से बच जाना दोनों ही न्याय के विकृत रूप हैं और इतने विकृत रूप हैं कि इसकी कल्पना मात्र से ही सिहरन पैदा हो जाती है। कंगाल दुःखी और असहाय मनुष्य को भी न्याय प्राप्त करने का उतना ही अधिकार होना चाहिए जितना धनी और संपन्न व्यक्ति को होता है। निर्धनों को सहायता प्राप्त करनेवाली उपर्युक्त व्यवस्थाएँ नाममात्र की हैं जिनसे कोई ठोस लाभ नहीं होता।

उत्तर प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय

अधिनियम १९५८

[उ० प्र० अधिनियम संख्या ४५, १९५८]

(जैसा कि उत्तर प्रदेश विधानमंडल द्वारा पारित हुआ)

उत्तर प्रदेश के लिये एक कृषि विश्वविद्यालय स्थापित तथा निगमित करने का

अधिनियम

यह इष्टकर है कि कृषि के विकास तथा उत्तर प्रदेश की ग्रामीण जनता के लाभ के लिये एक कृषि विश्वविद्यालय स्थापित और निगमित किया जाय।

अतएव भारतीय गणतंत्र के नवें वर्ष में निम्नलिखित अधिनियम बनाया जाता है।

संक्षिप्त शीर्षनाम तथा प्रारंभ

१—(१) यह अधिनियम, उत्तर प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय अधिनियम, १९५८ कहलाएगा।

(२) यह तुरंत प्रचलित होगा।

परिभाषाएँ

२—विषय या प्रसंग में किसी बात के प्रतिकूल न होने पर इस अधिनियम में।

(क) "विद्वत् परिषद्" का तात्पर्य विश्वविद्यालय की विद्वत् परिषद् से है।

(ख) "कृषि" का तात्पर्य भूमि तथा जल के प्रबंध, फसल तथा पशुधन के उत्पादन एवं प्रबंध और ग्रामीण जनता के सुधार के आधारभूत तथा व्यावहारिक विज्ञान से है।

(ग) "बोर्ड" का तात्पर्य विश्वविद्यालय के प्रबंधक बोर्ड से है।

(घ) "फैकल्टी" का तात्पर्य विश्वविद्यालय की फैकल्टी से है।

(ङ) "राज्यपाल" का तात्पर्य उत्तर प्रदेश के राज्यपाल से है।

(च) (सजातीय पदों सहित) "नियत" का तात्पर्य परिनियमों द्वारा नियत से है।

(छ) "पंजीकृत स्नातक" का तात्पर्य इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन पंजीकृत किसी स्नातक से है।

(ज) "राज्य सरकार" का तात्पर्य उत्तर प्रदेश की सरकार से है।

(झ) "परिनियमों" तथा "विनियमों" का तात्पर्य क्रमशः इस अधिनियम के अधीन बनाए गए विश्वविद्यालय के परिनियमों तथा विनियमों से है।

(ञ) "विश्वविद्यालय का छात्र" का तात्पर्य किस ऐसे व्यक्ति से है जो विश्वविद्यालय में यथाविधि स्थापित किसी उपाधि, डिप्लोमा या शिक्षा संबंधी अन्य विशिष्टता के निमित्त किसी पाठ्यक्रम के अध्ययन के प्रयोजन से नामांकित हो।

(ट) "अध्यापक" का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो अध्यापन अथवा अनुसंधान या प्रसार कार्यक्रम के संचालन तथा पथ प्रदर्शन के प्रयोजन के लिये विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त अथवा अभिज्ञात हो और इसके अंतर्गत ऐसा व्यक्ति भी है जो परिनियमों द्वारा अध्यापक घोषित किया जाय और।

(ठ) 'विश्वविद्यालय' का तात्पर्य उत्तर प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय से है।

विश्वविद्यालय

३—(१) विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति तथा प्रथम उप-कुलपति तथा बोर्ड और विद्वत् परिषद् के प्रथम सदस्य, और वे समस्त व्यक्ति, जो एतद्पश्चात् ऐसे पदाधिकारी या सदस्य बनें, जब तक वे उक्त पद पर या सदस्य बने रहें, एतद्द्वारा 'उत्तर प्रदेश कृषि-विश्वविद्यालय' के नाम से एक निगमित संस्था संघटित किए जाते हैं।

(२) विश्वविद्यालय का शाश्वत उत्तराधिकार होगा और उसकी एक सामान्य मुद्रा होगी, तथा उक्त नाम से ही वह वाद प्रस्तुत करेगा और उसके विरुद्ध वाद प्रस्तुत किया जायगा।

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

४—विश्वविद्यालय अन्य प्रयोजनों के साथ-साथ निम्नलिखित प्रयोजनों के निमित्त स्थापित तथा निगमित समझा जायगा :

(क) उत्तर प्रदेश की ग्रामीण जनता को विभिन्न विषयों, विशेषकर कृषि, ग्रामीण उद्योग तथा व्यवसाय और अन्य संबंधित विषयों, में शिक्षा देने के लिये व्यवस्था करना ;

(ख) अनुसंधान कार्य को, विशेषकर कृषि तथा अन्य संबंधित विज्ञानों में, आगे बढ़ाना; तथा

(ग) क्षेत्रीय तथा प्रसार कार्य-क्रम अपनाना ।

विश्वविद्यालय सभी के लिए होगा

५—विश्वविद्यालय, इस अधिनियम तथा परिनियमों के उपबंधों के अधीन रहते हुए, सभी व्यक्तियों के लिये खुला होगा, किंतु इस धारा की किसी बात से यह अपेक्षित न समझा जायगा कि विश्वविद्यालय किसी भी पाठ्यक्रम में निर्धारित संख्या से अधिक विद्यार्थी प्रविष्ट करें ।

विश्वविद्यालय के अधिकार

६—विश्वविद्यालय के निम्नलिखित अधिकार होंगे :

(१) कृषि, ग्रामीण उद्योग तथा व्यवसाय और संबंधित विज्ञानों तथा विद्या की ऐसी अन्य शाखाओं में, जिन्हें विश्वविद्यालय उचित समझे, शिक्षा की व्यवस्था करना ;

(२) अनुसंधान-कार्य और ज्ञान की अभिवृद्धि एवं प्रसार तथा प्रसार-कार्यक्रमों के लिये व्यवस्था करना;

(३) उपाधियों, डिप्लोमाओं तथा शिक्षा संबंधी अन्य विशिष्टताओं की स्थापना करना;

(४) उपाधियों, डिप्लोमाओं तथा शिक्षा संबंधी अन्य विशिष्टताओं के निमित्त परीक्षाओं का आयोजन करना तथा उन्हें ऐसे व्यक्तियों को प्रदान एवं संप्रदान करना—

(क) जिन्होंने किसी पाठ्यक्रम का यथानियत अध्ययन किया हो; या

(ख) जिन्होंने विश्वविद्यालय में या विश्वविद्यालय द्वारा तदर्थ अभिज्ञात किसी संस्था में परिनियमों में उल्लिखित प्रतिबंधों के अधीन अनुसंधान कार्य किया हो ;

(५) परिनियमों में निर्दिष्ट शर्तों के अधीन तथा रीति से सम्मान्य उपाधियाँ अथवा अन्य विशिष्टताएँ प्रदान करना ;

(६) क्षेत्र-कर्मियों तथा अन्य व्यक्तियों को, जो विश्वविद्यालय के छात्र न हों, ऐसे डिप्लोमा प्रदान करना तथा उनके लिये ऐसे व्याख्यानों तथा शिक्षण की व्यवस्था करना जो विश्वविद्यालय निर्धारित करे ;

(७) अन्य विश्वविद्यालयों तथा प्राधिकारियों से ऐसी रीति से तथा ऐसे प्रयोजनों के निमित्त सहयोग करना जो विश्वविद्यालय निर्धारित करे ;

(८) विश्वविद्यालय द्वारा अपेक्षित अध्यापन, अनुसंधान तथा प्रसार के पदों की स्थापना करना तथा उन पदों पर व्यक्तियों की नियुक्ति करना ;

(९) परिनियमों के अनुसार परिषद् वृत्तियाँ (जिनके अंतर्गत यात्रिक परिषद् वृत्तियाँ भी हैं) छात्र-वृत्तियाँ तथा पारितोषिक स्थापित और प्रदान करना ;

(१०) विश्वविद्यालय के छात्रों के निवासस्थानों की स्थापना एवं उनका अनुरक्षण ;

(११) ऐसे शुल्क तथा अन्य परिव्यय माँगना और प्राप्त करना जो नियत किए जाँय ;

(१२) विश्वविद्यालय के छात्रों के निवास-स्थान का पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण करना तथा उनके अनुशासन को विनियमित करना और उनके स्वास्थ्य एवं कल्याण की वृद्धि के लिये प्रबंध करना ;

(१३) प्रशासकीय, कारणिक तथा अन्य आवश्यक पदों का सृजन करना और उन पर नियुक्तियाँ करना; तथा

(१४) विश्वविद्यालय के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये अपेक्षित अन्य समस्त कार्य और बातें करना, चाहे वे उपर्युक्त अधिकारों से आनुषंगिक हों या न हों ।

निरीक्षण

७—(१) राज्य सरकार, किसी ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों द्वारा, जैसा वह आदेश दे, विश्वविद्यालय, उसके भवनों, प्रयोगशालाओं तथा साजसज्जा और विश्वविद्यालय द्वारा अनुरक्षित किसी संस्था का निरीक्षण करा सकती है और साथ ही विश्वविद्यालय के प्रशासन तथा वित्त से संबंधित किसी मामले में उसी प्रकार जाँच करवा सकती है।

(२) राज्य सरकार प्रत्येक दशा में विश्वविद्यालय को अपने इस आशय का नोटिस देगी कि वह निरीक्षण अथवा जाँच करवाना चाहती है और विश्वविद्यालय को अपना एक प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार होगा जिसे उक्त निरीक्षण अथवा जाँच के समय उपस्थित रहने तथा सुनवाई का अधिकार प्राप्त होगा।

(३) राज्य सरकार उक्त निरीक्षण और जाँच के फल के संबंध में बोर्ड को ऐसे परामर्श के साथ, जो राज्य सरकार कार्यवाही करने के संबंध में दे, संबोधित कर सकती है।

(४) बोर्ड राज्य सरकार को ऐसी कार्यवाही की, यदि कोई हो, सूचना देगा जो वह ऐसे निरीक्षण अथवा ऐसी जाँच के फल को दृष्टि में रखकर करना चाहे या जो उसने की हो।

(५) यदि बोर्ड उचित समय के भीतर राज्य सरकार के संतोषानुसार कार्यवाही न करे, तो राज्य सरकार उक्त बोर्ड द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण अथवा अभ्यावेदन पर विचार करके ऐसे निदेश प्रचारित करेगी जो वह उचित समझे और बोर्ड उनका अनुपालन करने के लिए बाध्य होगा।

विश्वविद्यालय के पदाधिकारी तथा प्राधिकारी

८—विश्वविद्यालय के पदाधिकारी और प्राधिकारी निम्नलिखित होंगे :

(क) विश्वविद्यालय के पदाधिकारी

(१) कुलपति ;

(२) उप-कुलपति ;

(३) लेखानियंत्रक ;

(४) रजिस्ट्रार ;

(५) छात्र-कल्याण का डीन ;

(६) फैकल्टियों के डीन ;

(७) कृषि-प्रयोग-केंद्र-संचालक ;

(८) प्रसार-संचालक और ;

(९) विश्वविद्यालय की सेवा में संलग्न ऐसे अन्य व्यक्ति जो परिनियमों द्वारा विश्वविद्यालय के पदाधिकारी घोषित किए जायं।

(ख) विश्वविद्यालय के प्राधिकारी

(१) प्रबंधक बोर्ड ;

(२) विद्वत् परिषद् ;

(३) फैकल्टियों के बोर्ड ; तथा

(४) ऐसे अन्य प्राधिकारी जो परिनियमों द्वारा विश्वविद्यालय के प्राधिकारी घोषित किए जायँ।

कुलपति

९—(१) उत्तर प्रदेश के राज्यपाल विश्वविद्यालय के कुलपति होंगे। वे पदेन विश्वविद्यालय के अध्यक्ष होंगे और उपस्थित रहने पर विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह को सभापतित्व करेंगे।

(२) कुलपति को ऐसे अन्य अधिकार प्राप्त होंगे जो इस अधिनियम या परिनियमों द्वारा उन्हें दिए जायं।

बोर्ड का संघटन तथा उसके अधिकार और कर्तव्य

१०—(१) कुलपति इस अधिनियम के प्रारंभ होने के बारह महीनों के भीतर बोर्ड का संगठन करेंगे।

(२) बोर्ड में निम्नलिखित व्यक्ति होंगे, अर्थात्

पदेन सदस्य

(क) उपकुलपति ;

(ख) कृषि संचालक, उत्तर प्रदेश ;

(ग) शिक्षा संचालक, उत्तर प्रदेश ;

(घ) पशुपालन संचालक, उत्तर प्रदेश।

अन्य सदस्य

(ङ) राज्य की विधान सभा के दो सदस्य, जो उक्त विधान सभा द्वारा निर्वाचित होंगे ;

(च) राज्य की विधान परिषद् का एक सदस्य, जो उक्त विधान परिषद् द्वारा निर्वाचित होगा;

(छ) कृषि की शिक्षा तथा उसके विकास में अभिरुचि रखनेवाले दो व्यक्ति, जिन्हें राज्य सरकार नामनिर्दिष्ट करेगी ;

(ज) निम्नलिखित में से प्रत्येक का एक प्रतिनिधि—
(१) दि स्टेट फार्मर्स फोरम ;
(२) दि इंडियन कौंसिल आफ एग्रीकल्चरल एजुकेशन ;
(३) दि यू० पी० इञ्जीनियर्स एसोसियेशन ;
(४) राज्य समाज कल्याण बोर्ड ।
(५) दि यू० पी० कोआपरेटिव बैंक लिमिटेड तथा ।

(६) पंजीकृत स्नातक ।

प्रतिबंध यह है कि स्टेट फार्मर्स फोरम का प्रतिनिधि ऐसा व्यक्ति होगा जो खेती करता हो, राज्य समाज कल्याण बोर्ड की प्रतिनिधि ऐसी स्त्री होगी जो सरकारी अधिकारी न हो, तथा यू० पी० कोआपरेटिव बैंक लिमिटेड का प्रतिनिधि ऐसा व्यक्ति होगा जो सरकारी अधिकारी न हो ।

(३) बोर्ड अपना सभापति अपने सदस्यों में से निर्वाचित करेगा ।

(४) बोर्ड के पदेन सदस्यों से भिन्न सदस्यों की पदावधि छः वर्ष की होगी, परंतु बोर्ड का प्रथम संघटन हो जाने पर उस समय चुने हुए कुछ सदस्यों की पदावधि को कम करने के लिये परिनियमों में व्यवस्था की जायगी जिससे कि उसके पश्चात् प्रत्येक दो वर्षों में एक तिहाई या उसके निकटतम सदस्य पदनिवृत्त हों ।

(५) अपने पूर्वाधिकारी की शेष पदावधि ही आकस्मिक रिक्ति को भरने के लिये चुने गए सदस्य की पदावधि होगी ।

(६) सदस्य बिना वेतन के कार्य करेंगे; परंतु दैनिक भत्ता तथा यात्रिक व्यय पाने के अधिकारी होंगे, जो विश्वविद्यालय के आय व्ययक से दिए जायँगे ।

(७) बोर्ड के अधिकार तथा कर्तव्य निम्नलिखित होंगे—

(क) उप कुलपति द्वारा प्रस्तुत आयव्ययक का अनुमोदन ।

(ख) विश्वविद्यालय के शैक्षिक तथा प्रशासकीय कर्मचारिवर्ग के सदस्यों को नियत रीति से नियुक्त करना ।

(ग) विश्वविद्यालय की संपत्ति तथा निधियों को अपने अधिकार में रखना और उनपर नियंत्रण रखना तथा इस संबंध में कोई सामान्य आदेश प्रचारित करना ।

(घ) किसी चल अथवा अचल संपत्ति के हस्तांतरण को विश्वविद्यालय की ओर से स्वीकार करना ।

(ङ) विशिष्ट प्रयोजनों के लिये विश्वविद्यालय के अधिकार में दी गई निधियों का प्रशासन ।

(च) विश्वविद्यालय के रुपए का विनियोजन ।

(छ) विश्वविद्यालय की सामान्य मुद्रा के आकार तथा प्रयोग का निर्देश करना ।

(ज) ऐसी स्थायी अथवा अस्थायी समितियों की नियुक्ति करना जिन्हें वह अपने कृत्यों के उचित संपादन के लिये आवश्यक समझे ।

(झ) धारा ११ की उपधारा (१) के उपबंधों के अधीन रहते हुए, उप कुलपति को नियुक्त करना ।

(ञ) पूंजीगत सुधारों के लिये धन उधार लेना तथा उसकी वापसी का उपयुक्त प्रबंध करना ।

(ट) ऐसे समय तथा ऐसे स्थानों में, जिसे वह आवश्यक समझे, बैठक करना । किंतु प्रतिबंध यह है कि प्रत्येक दो मास में कम से कम एक नियमित बैठक की

जायगी, और प्रतिबंध यह भी है कि इसकी नियमित बैठकों में से कम से कम आधी बैठकें विश्वविद्यालय में की जायँगी; और।

(ठ) इस अधिनियम तथा परिनियमों के अनुसार विश्वविद्यालय से संबंधित सभी मामलों को विनियमित तथा निर्धारित करना तथा ऐसे अधिकारों का प्रयोग करना और ऐसे कर्त्तव्यों का पालन करना जो इस अधिनियम तथा परिनियमों द्वारा उसे दिए जायँ या उस पर आरोपित किए जायँ।

उपकुलपति

११—(१) उपकुलपति विश्वविद्यालय का पूर्णकालिक पदाधिकारी होगा। प्रथम उप कुलपति, कुलपति द्वारा चार वर्ष से अनधिक ऐसी अवधि के लिये तथा ऐसी शर्तों पर नियुक्त किया जायगा जो कुलपति निर्धारित करें। अनुवर्ती उप कुलपति बोर्ड द्वारा नियत रीति से नियुक्त किए जायँगे।

(२) उपकुलपति की पदावधि चार वर्ष होगी।

(३) कोई व्यक्ति दो पदावधियों से अधिक के लिये उपकुलपति के पद पर आसीन रहने का पात्र न होगा।

(४) उपकुलपति की उपलब्धियाँ तथा सेवा की अन्य शर्तें वे होंगी जो नियत की जांय और नियुक्ति के पश्चात् उसके हितों के प्रतिकूल उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा।

(५) उपकुलपति बोर्ड को संबोधित लिखित त्याग पत्र द्वारा अपना पद त्याग सकता है। साधारणतया त्याग पत्र उस दिनांक से जब कि उपकुलपति कार्यभार से मुक्त होना चाहता हो ६० दिन पूर्व बोर्ड के सचिव को दिया जायगा।

(६) यदि छुट्टी लेने के कारण अथवा पदावधि की समाप्ति से भिन्न किसी-अन्य कारण से उपकुलपति का पद रिक्त हो जाय या उसके रिक्त होने की संभावना हो, तो रजिस्ट्रार इस बात की सूचना तुरंत बोर्ड को देगा। ऐसी रिक्ति की पूर्ति यथासंभव उपधारा (१) के उपबंधों के अनुसार की जायगी।

(७) जब तक कि उपधारा (६) के अधीन रिक्ति की पूर्ति न हो जाय या जब तक कि बोर्ड कार्यवाहक उपकुलपति नाम निर्दिष्ट न करे, तब तक रजिस्ट्रार उपकुलपति के पद के सांप्रतिक कर्त्तव्यों का पालन करेगा।

उपकुलपति के अधिकार और कर्त्तव्य

१२—(१) उपकुलपति विश्वविद्यालय का मुख्य कार्यपालक तथा शैक्षिक पदाधिकारी होगा और कुलपति की अनुपस्थिति में विश्वविद्यालय के किसी भी दीक्षांत समारोह का सभापतित्व करेगा। वह विद्वत् परिषद् का पदेन सदस्य तथा सभापति होगा और बोर्ड का पदेन सदस्य होगा।

(२) उपकुलपति का यह कर्त्तव्य होगा कि वह यह सुनिश्चित करे कि इस अधिनियम तथा परिनियमों के उपबंधों का निष्ठा के साथ पालन किया जाय और, धारा २३ के अधीन कुलपति के अधिकारों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, उसे ऐसे सब अधिकार प्राप्त होंगे जो तदर्थ आवश्यक हों।

(३) उपकुलपति को विद्वत् परिषद् की बैठक बुलाने का अधिकार होगा :

प्रतिबंध यह है कि वह अपने अधिकार को विश्वविद्यालय के किसी अन्य पदाधिकारी को प्रतिनिहित कर सकता है।

(४) उपकुलपति विश्वविद्यालय के कार्यों पर सामान्य नियंत्रण रखेगा और विश्वविद्यालय में समुचित अनुशासन बनाए रखने के लिये उत्तरदायी होगा।

(५) उपकुलपति बोर्ड के समक्ष आय-व्ययक तथा लेखा-विवरण प्रस्तुत करने के लिये उत्तरदायी होगा।

(६) किसी ऐसी आपातिक स्थिति में, जिसमें उपकुलपति के मतानुसार तुरंत कार्यवाही करना आवश्यक हो, वह ऐसी कार्यवाही करेगा जो वह आवश्यक समझे और की गई कार्यवाही का प्रतिवेदन यथाशीघ्र उस पदाधिकारी, प्राधिकारी या अन्य निकाय को देगा, जिसके

द्वारा उस मामले में साधारणतया कार्यवाही की जाती, किंतु इस उपधारा को किसी बात से उपकुलपति को कोई ऐसा व्यय करने का अधिकार दिया गया नहीं समझा जायगा, जो समुचित रूप से प्राधिकृत न हो और जिसकी व्यवस्था आय-व्ययक में न की गई हो।

(७) यदि उपधारा (६) के अधीन उपकुलपति द्वारा की गई किसी कार्यवाही से विश्वविद्यालय की सेवा में लगे किसी व्यक्ति पर हानिप्रद प्रभाव पड़ता हो तो वह व्यक्ति उस दिनांक के, जिस पर उसे कार्यवाही की सूचना दी गई हो, तीस दिन के भीतर बोर्ड के समक्ष अपील कर सकता है।

(८) पूर्वोक्त बातों के अधीन रहते हुए, विश्व-विद्यालय के पदाधिकारियों, वृत्तिक कर्मचारिवर्ग तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति, निलंबन और पदच्युति के संबंध में बोर्ड द्वारा दी गई आज्ञाओं को उपकुलपति कार्यान्वित करेगा।

(९) उपकुलपति दीक्षांत समारोह में ऐसे व्यक्तियों को उपाधियाँ प्रदान करेगा जो उन्हें प्राप्त करने के अधिकारी हों किंतु प्रतिबंध यह है कि यदि कुलपति उपस्थित हो तो वह ही कोई या समस्त उपाधियाँ प्रदान करेगा।

(१०) उपकुलपति अध्यापन, अनुसंधान तथा प्रसार के प्रगाढ़ समन्वय तथा एकीकरण के लिये उत्तरदायी होगा।

(११) उपकुलपति ऐसे अन्य अधिकारों का प्रयोग करेगा जो नियत किए जायँ।

लेखा-नियंत्रक

१३—(१) लेखा नियंत्रक विश्वविद्यालय का पूर्णकालिक पदाधिकारी होगा तथा उपकुलपति द्वारा, बोर्ड के अनुमोदन के अधीन रहते हुए, नियुक्त किया जायगा।

(२) वह बोर्ड का पदेन सचिव होगा तथा उसको देय वेतन और भत्ते वे होंगे जो नियत किए जायँ।

(३) धारा ११ की उपधारा (४), (५) (६) तथा (७) में उल्लिखित, उपलब्धियों से भिन्न सेवा की शर्तों, त्यागपत्र, अस्थायी रिक्तियों की पूर्ति तथा सांप्रतिक कर्तव्यों के पालन की व्यवस्था के संबंध में उपबंध आवश्यक परिवर्तनों सहित लेखा-नियंत्रक के पद के संबंध में लागू होंगे।

(४) लेखा नियंत्रक विश्वविद्यालय की संपत्ति तथा विनियोजित धनराशियों का प्रबंध करेगा और उसकी वित्तीय नीति के संबंध में परामर्श देगा। वह उपकुलपति के समक्ष प्रस्तुत किए जाने के निमित्त आय व्ययक तथा लेखा विवरण तैयार करने के लिये उत्तरदायी होगा।

(५) लेखा-नियंत्रक का निम्नलिखित कर्तव्य होगा—

(क) यह सुनिश्चित करना कि विश्वविद्यालय द्वारा, विनियोजन से भिन्न किसी रूप में, कोई ऐसा व्यय न किया जाय जो आयव्ययक में प्राधिकृत न किया गया हो, और ;

(ख) किसी ऐसे व्यय को अस्वीकृत करना जो किसी परिनियम के निबंधनों का उल्लंघन करे, या जिसके लिये परिनियमों द्वारा व्यवस्था अपेक्षित हो, किंतु की न गई हो।

रजिस्ट्रार

१४—(१) रजिस्ट्रार विश्वविद्यालय का पूर्णकालिक पदाधिकारी होगा तथा उपकुलपति द्वारा बोर्ड के अनु-मोदन के अधीन रहते हुए नियुक्त किया जायेगा।

(२) रजिस्ट्रार को देय वेतन तथा भत्ते वे होंगे जो नियत किए जायँ।

(३) रजिस्ट्रार विश्वविद्यालय के अभिलेखों तथा सामान्य मुद्रा की अनुचित अभिरक्षा के लिये उत्तरदायी होगा। वह विद्वत् परिषद् का पदेन सचिव होगा और उसके समक्ष ऐसी समस्त सूचना रखने के लिये बाध्य होगा जो कार्य संपादन के लिये आवश्यक हों। वह विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिये प्रार्थनापत्रों को लेगा तथा समस्त पाठ्यक्रमों, पाठ्यचर्या और अन्य सूचना का, जिसे आवश्यक समझा जाय, स्थायी अभिलेख रखेगा।

विधि पत्रिका वर्ष ३ (१९८०) १९५८

सर्वोच्च न्यायालय १

(नागपुर से)

अनंत गोपाल शेवरे — अपीलकर्ता

वि०

बंबई राज्य — उत्तरवादी

आपराधिक अपील सं० १७८।१९५७

अ—परिनियमों की व्याख्या - अतीत प्रभावी (रिट्रास्पेक्टिव) होना प्रक्रिया (प्रोसीजर) का परिवर्तित होना—

ब—दंड प्रक्रिया संहिता (१८९८), धा० ३४२ ए० ११६ सी०–धा० ११६ सी० का प्रभाव-विचाराधीन मामलों में धारा ३४२ ए० लागू होती है।

न्यायमूर्ति जे० एल० कपूर—

मजिस्ट्रेट के न्यायालयमें एक मुकदमा चल रहा था। उस मुकदमे में अभियुक्त ने एक प्रार्थनापत्र दिया कि हमें दं० प्र० संहिता की धारा ३४२ के अनुसार साक्षी के रूप में साक्ष्य देने की अनुमति प्रदान की जाय। मजिस्ट्रेट ने इस प्रार्थनापत्र को अस्वीकार कर दिया। पुनरीक्षण करने पर नागपुर उच्च न्यायालय ने भी इस प्रार्थनापत्र को अस्वीकार कर दिया और मजिस्ट्रेट के निर्णय का स्थिरीकरण किया। नागपुर उच्च न्यायालय के इसी निर्णय और आदेश के विरुद्ध यह अपील निवेशित की गई है।

दंड प्रक्रिया संहिता (संशोधन) अधिनियम (२६।१९५५) २–१–१९५६ को लागू हुआ। इस निर्णय में इसे संशोधन अधिनियम कहा जायगा और दंड प्रक्रिया संहिता को संहिता। संशोधन अधिनियम के लागू होने के पहले ही अपीलकर्ता का अभियोजन अन्य व्यक्तियों के साथ हो रहा था। २–१–५६ को संशोधन अधिनियम लागू हुआ और १४–१–५६ को अपीलकर्ता ने मजिस्ट्रेट के न्यायालय में एक प्रार्थनापत्र दिया कि संशोधन अधिनियम की धारा ३४२ ए० के अंतर्गत हमें अनुमति प्रदान की जाय कि हमारे विरुद्ध लगाए गए आरोपों को निष्प्रमाणित करने के लिये हम अपनी ओर से साक्षी के रूप में साक्ष्य दें। मजिस्ट्रेट ने इस प्रार्थनापत्र को अस्वीकार कर दिया। नागपुर उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण निवेशित करने पर उच्च न्यालय का विचार यह हुआ कि जो कार्यवाही मजिस्ट्रेट के समक्ष चल रही है वह असंशोधित संहिता के अनुसार होगी और इस प्रकार संशोधित अधिनियम की धारा ३४२ ए० के अनुसार साक्षी रूप में उपस्थित होने का अधिकार अपीलकर्ता को नहीं है।

असंशोधित संहिता के अंतर्गत कोई अभियुक्त साक्षी रूप में उपस्थित नहीं हो सकता था इसलिए साक्ष्य अधिनियम की धारा ११८ इसमें लागू नहीं होती थी। संविधान के अनुच्छेद २० (३) में है कि किसी अभियुक्त को अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता। संशोधन अधिनियम द्वारा संहिता में धारा ३४२ ए० जोड़ी गई। इस धारा में है कि कोई अभियुक्त आरोपों को निष्प्रमाणित करने के लिये अपनी बचत में साक्ष्य दे सकता है। इसके परंतुक में यह भी कह दिया गया कि अभियुक्त की स्वतःलिखित प्रार्थना के बिना वह साक्ष्य देने के लिए बुलाया नहीं जा सकता और यदि वह साक्ष्य नहीं देता है तो इससे उस पर कोई टीका टिप्पणी नहीं की जा सकती। दूसरे शब्दों में संशोधन अधिनियम द्वारा अभियुक्त साक्षी हो सकता है किंतु वह साक्ष्य देने के लिये न तो बाध्य किया जा सकता है और न बुलाया जा सकता है। वह केवल अपनी लिखित प्रार्थना से ही साक्षी हो सकता है और उसके साक्ष्य न देने पर न्यायालय या पक्षों द्वारा उस पर टीका टिप्पणी नहीं की जा सकती।

यहाँ निर्णय के लिए जो प्रश्न है वह यही है कि विचाराधीन मामलों में संशोधन अधिनियम लागू हुआ है कि नहीं। किसी भी व्यक्ति का किसी प्रक्रिया (प्रोसीजर) में निहित अधिकार (वेस्टेड राइट) नहीं है। उसको उस समय केवल निर्धारित प्रकार से अभियोजन या बचाव का अधिकार है। यदि संसद के किसी

अधिनियम द्वारा प्रक्रिया का ढंग बदल दिया जाता है तो उसको सिवा बदले हुए ढंग पर चलने के कोई दूसरी उपाय नहीं है। देखिए मैक्सवेल आन इंटरप्रेटेशन आफ स्टेच्यूट्स पृ० २२५ और १९०५ ए० सी० ६। दूसरे शब्दों में निहित अधिकार से संबंधित विधि की तरह केवल भविष्य प्रभावी न होकर प्रक्रिया विधि (ला आफ प्रोसीजर) का परिवर्तन अतीत प्रभावी होता है।

उत्तरवादी का कहना है कि संशोधन अधिनियम की धारा ११६ सी० में दिए हुए ये शब्द "ऐसी प्रत्येक जांच या अन्वीक्षा का निर्वर्तन उसी प्रकार होगा मानो यह अधिनियम पारित ही नहीं हुआ है" इस बात के द्योतक हैं कि इसके उपबंध विचाराधीन मामलों में लागू नहीं होंगे। किंतु यदि इसकी इस प्रकार व्याख्या की जायगी तो धारा के अंतिम अंश से विरोध होगा जैसे—"उपर्युक्त को छोड़कर इस अधिनियम के उपबंध और उसके द्वारा संशोधन इस अधिनियम के प्रारंभण के बाद निवेशित की गई समस्त कार्यवाहियों में लागू होंगे और उन कार्यवाहियों में भी लागू होंगे जो कि ऐसे प्रारंभण के समय किसी न्यायालय में विचाराधीन थीं"। इसका अर्थ हुआ कि विचाराधीन मामलों में भी यह लागू होगा। यह केवल उन्हीं मामलों में लागू नहीं होगा जो कि स्पष्टरूपेण दे दिए गए हैं।

यदि उत्तरवादी के कहने के अनुसार व्याख्या की जाय तो मुख्य धारा ११६ में प्रयुक्त शब्दों और वाक्यांशों में विरोध होगा और व्याख्या का यह सिद्धांत है कि शब्दों का अर्थ इस प्रकार निकाला जाना चाहिए कि विरोध न पैदा हो। इस प्रकार व्याख्या करने पर यही आता है कि केवल उन धाराओं को छोड़कर जो स्पष्ट रूप से गिना दी गई हैं संशोधन अधिनियम ऐसी कार्यवाहियों में लागू होगा और प्रक्रिया संबंधी विधि के संशोधन के बारे में जो सामान्य सिद्धांत लागू होता है उसके अनुकूल यह है भी। संशोधन अधिनियम या संशोधित संहिता में कहीं कोई ऐसी बात नहीं दी गई है जिससे यह पता चले कि धारा ३४२ ए० उन आपराधिक कार्यवाहियों में लागू नहीं होती जो मजिस्ट्रेट के समक्ष विचाराधीन हैं और जिसमें साक्ष्य का लिखा जाना आरंभ हो चुका है।

हमारे विचार से संशोधन अधिनियम की धारा ११६ में प्रयुक्त शब्दों का सामान्य अर्थ यही निकलता है कि अपीलकर्ता धारा ३४२ ए० का लाभ उठा सकता है। उच्च न्यायालय ने "मानों यह अधिनियम पारित ही नहीं हुआ" का अर्थ लगाने में गलती किया है। हमारे विचार से अपीलकर्ता को अपनी बचत में स्वतः साक्षी होने का अधिकार है और इस प्रकार आरोपों को निष्प्रमाणित करने के लिये अभिसाक्ष्य दिया जा सकता है।

इसलिए अपील स्वीकार की जाती है, नीचे के न्यायालयों का आदेश निराकृत किया जाता है और निर्णय दिया जाता है कि साक्षी होने के लिये अपीलकर्ता द्वारा दिया हुआ प्रार्थनापत्र ठीक था।

अपील स्वीकृत

विधि पत्रिका वर्ष ३, (१९८०) १९५८

सर्वोच्च न्यायालय २

(कलकत्ता से)

१९ सितंबर १९५८

जफर इमाम, एस० के दास और जे० एल० कपूर न्यायमूर्तिगण।

विपिन विहारी सरकार तथा अन्य— अपीलकर्तागण

वि०

पश्चिमी बंगाल राज्य — उत्तरवादी

आपराधिक अपीलें सं० १०२ और १०३/१९५८

दंड प्रक्रिया संहिता (१८९८), धा० ३३९ (१)– धारा ३३९ (१ की प्रयोज्यता (अप्लिकेबिलिटी) धा० ३३९ (१) के अंतर्गत पहले ही मान लिया गया रहता है कि जो क्षमा प्रदान की गई है उसे स्वीकार किया गया है—

न्यायमूर्ति एस० जफर इमाम—

इन अपीलों में अपीलकर्ताओं पर मालचंद के बध का आरोप लगा था। प्रत्येक के विरुद्ध दंड संहिता की धारा ३०२ का आरोप था। सत्र न्यायाधीश के विचार के अनुसार एक ही अभिप्राय से प्रेरित होकर यह बध किया गया इसलिए विपिन बिहारी सरकार की दोषसिद्धि धारा ३०२ के अंतर्गत हुई और विष्णुचरण साह की दोषसिद्धि धा० ३०२।३४ के अंतर्गत हुई। सत्र न्यायाधीश ने दोनों अपीलकर्ताओं को मृत्यु दंड दिया। अपीलकर्ताओं ने कलकत्ता उच्च न्यायालय में इसके विरुद्ध अपील निवेशित किया और सत्र न्यायाधीश ने मृत्युदंड के आदेश के स्थिरीकरण के लिये निर्देश (रेफरेंस) किया। उच्चन्यायालय ने अपीलकर्तागण को दं० संहिता की धाराएँ ३०२।३४ के अंतर्गत दोषी पाया। तद्नुसार उच्चन्यायालय ने मृत्युदंड के आदेश का स्थिरीकरण किया।

अभियोजन के कहने के अनुसार ताराचंद की कपड़े की एक बहुत भारी दूकान थी। वह अपने दो लड़कों पृथ्वीराज और मालचंद (मृतक) के साथ रहकर व्यापार करता था। घटना के दिन ताराचंद राजस्थान गया था और पृथ्वीराज फलकटा हाट में किसी काम से गया था। इस प्रकार उस दिन दूकान पर मालचंद अकेले था। साढ़े आठ बजे रात के लगभग जब मालचंद दूकान के पिछले हिस्सेवाले कमरे में बैठकर रोकड़ गिन रहा था उस उमय वर्तमान अपीलकर्तागण सनातनदास के साथ (जो अन्वीक्षा (ट्रायल) के समय छोड़ दिया गया) कुछ कपड़ा खरीदने के वचार से आए और पुकारा। मालचंद रोकड़ को वहीं छोड़कर ग्राहकों के पास आया। ग्राहकों ने कपड़ा पसंद किया और तब वे सब बंडलों में बाँध दिए गए। दो कैशमेमो काटकर निकाले गए पर तीसरे कैशमेमो के निकालने के पहले ही अपील कर्ताओं ने मालचंद पर एक भारी तेज धारदार हथियार से प्रहार किया। गरदन धड़ से अलग हो गया। ठीक उसी समय एक पड़ोसी मालचंद की दूकान पर अचानक आ पहुँचा। उसके आने से ये लोग इतना डर गए कि तुरत भागे। रुपया जो सेफ में खुला ही पड़ा था ज्यों का त्यों था, चोरी नहीं गया। सेफ से रुपया चुराने के विचार से मालचंद का बध किया गया।

१८ दिसंबर की यह घटना है। २५ दिसंबर को मालचंद की दूकान के पास की एक झाड़ी से पुलिस ने तलवार, गड़ासा आदि अनेक हथियारों को प्राप्त किया। इन हथियारों पर मनुष्य के रक्त के धब्बे थे। उस समय दूकान में ३६१३ रुपया रोकड़ में था और ८१/४ तोला सोना था। इस प्रकार धनराशि पर्याप्त थी और यदि वह पड़ोसी अचानक न आ पहुँचा होता तो अपीलकर्तागण मालचंद का बध करने के बाद उसे चुरा ले गए होते।

जैसा उच्च न्यायालय ने कहा है अपीलकर्तागण की दोषसिद्धि पारिस्थितिक साक्ष्य पर अवलंबित है। उच्चन्यायालय ने विष्णुचरण साह की दोष स्वीकृति (कनफेसन) पर निर्भर इसलिए नहीं किया कि वह इच्छापूर्वक नहीं थी। इस पर विचार करने के पहले दंड प्रक्रिया संहिता की धारा ३३७ के अंतर्गत क्षमा प्रदान करने के संबंध में अपीलकर्ताओं के इस कथन पर विचार करना है कि अभियोजन ने दंड संहिता की धारा ३३९ के उपबंधों का पालन नहीं किया है।

अपीलकर्ताओं की ओर से कहा गया कि चूँकि दं० प्र० संहिता की धारा ३३९ का पालन नहीं किया गया इसलिए सारी अन्वीक्षा (ट्रायल) दोषपूर्ण हो गई। तात्पर्य यह कि विष्णु को क्षमा प्रदान की गई थी इसलिए उसकी अन्वीक्षा विपिन बिहारी सरकार अपीलकर्ता के साथ नहीं की जा सकती थी। इस संबंध में तथ्य इस प्रकार हैं कि अभियोजन की ओर से एक प्रार्थनापत्र दिया गया कि विष्णु अभियुक्त को दं० प्र० संहिता की धारा ३३७ के अंतर्गत भेदी साक्षी (अप्रूवर) बना दिया जाय। धारा ३३९ (१) में है कि भेदी साक्षी को जब क्षमा प्रदान की जाय और अभियुक्त उसे स्वीकार कर ले और स्वीकार करने के बाद जब उस व्यक्ति के बारे में जन अभियोजक (पब्लिक प्रासिक्यूटर) प्रार्थनापत्र देता है कि वह जानबूझकर आवश्यक तत्व को छिपाता है या झूठा साक्ष्य देता है या जिस शर्त पर क्षमा प्रदान की

गई थी उस शर्त का पालन नहीं करता है तो जिस अपराध के लिये उसे क्षमा प्रदान की गई थी या किसी संबद्ध अन्य अपराध के लिये यदि वह दोषी पाया जाय तो उसकी अन्वीक्षा हो सकती है। इस उपधारा के परंतुक (प्राविज़ो) में है कि ऐसे व्यक्ति की अन्वीक्षा दूसरे अभियुक्त के साथ नहीं की जा सकती और अन्वीक्षा के बीच में इस व्यक्ति को यह दिखलाने का अधिकार है कि जिस शर्त पर क्षमा प्रदान की गई थी उस शर्त का पालन हमने किया है।

इस धारा के उपबंध से यह स्पष्टरूप से प्रकट होता है कि इसमें यह पहले मान लिया जाता है कि जिस व्यक्ति को क्षमा प्रदान की गई है उसने उसे स्वीकार कर लिया है। स्वीकार करने के बाद ही अन्य बातें आएँगी, केवल क्षमा प्रदान करना पर्याप्त नहीं है। धारा ३३९ लागू होने के लिये यह आवश्यक है कि क्षमा प्रदान की गई हो और उस व्यक्ति ने उसे स्वीकार किया। स्वीकार करने के बाद यदि जन अभियोजक प्रमाणित करता है कि उसके विचार से उक्त व्यक्ति ने उस अपराध के संबंध में जानबूझकर कोई आवश्यक बात छिपाई है, या झूठा साक्ष्य दिया है या क्षमा प्रदान जिन शर्तों पर की गई है उनका पालन नहीं किया है तब धारा ३३९ लागू होती है और उस व्यक्ति की अन्वीक्षा उस अपराध के संबंध में की जा सकती है। इस मामले में विष्णु अभियुक्त ने भेदी साक्षी होना स्वीकार नहीं किया वरन् इसके विपरीत उसने बयान दिया कि जो मैंने दोष स्वीकृति की वह पुलिस द्वारा पीटे जाने के कारण की, इच्छा से दोष स्वीकृति नहीं किया। कोई प्रमाण नहीं है कि जो क्षमा प्रदान की गई उसे विष्णु ने स्वीकार किया। ऐसी परिस्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि धारा ३३७ के अंतर्गत प्रभावपूर्ण क्षमा प्रदान किया गया था इसलिए धारा ३३९ लागू नहीं होगी। हमारे विचार से अपीलकर्ताओं ने इस संबंध में जो अनुरोध किया है वह मानने योग्य नहीं है।

अब पारिस्थितिक साक्ष्यों पर विचार करना है। पारिस्थितिक साक्ष्यों पर ही उच्च न्यायालय ने दोषसिद्धि किया था। इन साक्ष्यों का सारांश इस प्रकार है:—

१—यह निश्चित है कि अपीलकर्तागण स्थानीय व्यक्ति थे जो मालचंद की दूकान के निकट रहते और काम करते थे। इसलिए वे उस दिन की दूकान की स्थिति जानते थे और जानने के लिये उन्हें साधन और अवसर दोनों प्राप्त था।

२—हत्या के ठीक पहले अपीलकर्ताओं का सनातन से मिलना।

३—मालचंद की दूकान की ओर उनके बढ़ने के संबंध में साक्ष्य।

४—इस साक्ष्य का होना कि मालचंद की हत्या के ठीक पहले वे लोग उसकी दूकान में उपस्थित थे।

५—इस साक्ष्य का होना कि मालचंद की दूकान की ओर से विपिन विहारी सरकार तेजी से भागा आ रहा था और उसके ठीक पीछे पीछे विष्णुचरण साह अपीलकर्ता था।

६—अपीलकर्ताओं की उँगलियों और हथेलियों पर ताजे घावों के संबंध में साक्ष्य का होना।

७—विष्णु चरण साह की कमीज पर मनुष्य के रक्त के धब्बों के होने के संबंध में साक्ष्य और विपिन विहारी के रैपर पर जले हुए उन स्थानों पर छिद्र जहाँ पर रक्त पाए गए थे।

८—विष्णु चरण साह के हस्ताक्षर के कैशमेमो।

९—मालचंद के घावों की प्रकृति से डाक्टर की राय कि पहले किसी ने पटक दिया और उसके बाद दूसरे व्यक्ति ने गरदन पर प्रहार किया।

इन पारिस्थितिक साक्ष्यों पर विचार करने से प्रतीत हुआ कि अपीलकर्ताओं ने इस हत्या में भाग लिया। संपूर्ण पारिस्थितिक साक्ष्यों पर विचार करने से अपील कर्ताओं के दोषी होने के बारे में संदेह नहीं है।

हमारे विचार से उच्च न्यायालय का यह निर्णय ठीक था कि अपीलकर्तागण दंड संहिता की धा० ३०२।३४ के अंतर्गत दोषी हैं। परिस्थिति को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि मृत्यु दंड का दंड अधिक है। अपीलें तद्नुसार उत्सर्जित की जाती है।

अपीलें उत्सर्जित

विधि पत्रिका वर्ष ३, (१८८०) १६५८
सर्वोच्च न्यायालय ५
(पटना से)
१६ सितंबर, १६५८

एस० जफर इमाम, एस० के० दास और जे० एल० कपूर न्यायमूर्ति गण।

रतन गोंड़ — अपीलकर्ता

वि०

बिहार राज्य — उत्तरवादी

आपराधिक अपील सं० ७६।१६५८

अ - साक्ष्य अधिनियम (१८७२), धा० ३२ और ३३ वह बयान जो बयान देनेवाले की मृत्यु के कारण के संबंध में नहीं है और न्यायिक कार्यवाही के बीच में अभिलिखित भी नहीं है उसकी प्रति ग्राह्यता (ऐडमिसिबिलिटी)

ब भारतीय संविधान अनुच्छेद १३६-तथ्यों के समवर्ती (कांकरेंट) निष्कर्ष में हस्तक्षेप।

स - साक्ष्य अधिनियम (१८७२), धा० २४-न्यायातिरिक्त दोष स्वीकृति (एक्स्ट्राजुडिशियल कानफेशन)—इसका साक्ष्यिक महत्व।

द—साक्ष्य अधिनियम (१८७२), धा० २४ स्वेच्छा से दोष स्वीकृति।

न्यायमूर्ति एस० के० दास—

यह अपील विशेष अनुमति पर निवेशित की गई है। रतन गोंड़ की अन्वीक्षा दंड संहिता की धारा ३०२ के अंतर्गत हुई और राँची के अतिरिक्त न्यायिक आयुक्त द्वारा दोष सिद्ध होने पर उसे मृत्यु दंड का आदेश दिया गया। विद्वान् अतिरिक्त न्यायिक आयुक्त ने मृत्यु दंड के आदेश के स्थिरीकरण के लिये दं० प्र० संहिता की धारा ३७४ के अंतर्गत इसके अभिलेख को पटना उच्चन्यायालय में भेजा और रतन गोंड़ ने भी उच्चन्यायालय में अपील निवेशित किया। पटना उच्चन्यायालय के विभागीय न्यायासन ने अपील और निर्देश (रेफरेंस) की सुनवाई एक साथ किया और निर्देश को स्वीकार करके तथा अपील को उत्सर्जित करके अपीलकर्ता को दिए गए मृत्यु दंड के आदेश का स्थिरीकरण किया। अपीलकर्ता ने विशेष अनुमति के लिये प्रार्थना किया और विशेष अनुमति प्राप्त होने पर यह अपील निवेशित की।

इसके तथ्य इस प्रकार हैं कि अपीलकर्ता राँची जिले के एक पहाड़ी गाँव का रहनेवाला था। उस गाँव में मुसम्मात जात्री नाम की एक विधवा स्त्री रहती थी। जात्री को दो लड़कियाँ थीं। एक का नाम वैशाखी था और दूसरी का अगहनी। वैशाखी की आयु लगभग ६ वर्ष थी और अगहनी की लगभग ५ वर्ष। ७ मई १६५७ को ये दो बहनें वैशाखी और अगहनी अपने गाँव के निकटवर्ती पहाड़ी जंगल में जंगली बेर तोड़ने के लिये गई हुई थीं। मुसम्मात जात्री भी उस दिन दूसरी जगह जंगली बेर तोड़ने के लिये गई हुई थी। जात्री उस सवेरे जब घर से रवाना हुई थी उस समय उसकी दोनों लड़कियाँ घर पर ही थीं। मुसम्मात जात्री जब दोपहर के समय घर पर लौटी तो उस समय अगहनी अकेले ही घर पर मिली। मु० जात्री ने जब अगहनी से वैशाखी के बारे में पूछा तो उसने कुछ बयान दिया और उस दिन तथा दूसरे दिन भी अगहनी ने दूसरे दूसरे लोगों से इसके बारे में बतलाया। अपीलकर्ता की ओर से इसके बारे में आपत्ति की गई है कि यह बयान न तो साक्ष्य अधिनियम की धारा ३२ और न तो साक्ष्य अधिनियम की धारा ३३ के अंतर्गत ही प्रतिग्राह्य (ऐडमिसिबुल) है। इस कथन से हम भी सहमत हैं। इसलिए इसके बारे में अन्य बातें छोड़ दी जाती हैं। शाम को भी जब वैशाखी नहीं लौटी तो मु० जात्री उस पहाड़ी की ओर गई पर कहीं उसका कुछ पता नहीं चला। रूपराम को समाचार भेजा गया कि वैशाखी का पता नहीं चल रहा है। रूपराम इन दोनों लड़कियों का चाचा था जो एक दूसरे गाँव में खपरैल बनाने के लिये गया हुआ था। रूपराम ८ मई को आया। इसी बीच दलपत साय मुखिया और गाँव के सोहार चौकीदार को भी बतला दिया गया था कि

वैशाखी का पता नहीं चल रहा है। अगहनी रूपराम और इन गाँववालों को पहाड़ी के पास के सोते और कुएँ के पास ले गई। इन गाँववालों ने सोते से थोड़ी दूर पर एक लाश पाया जिसमें सिर नहीं था। मु० जात्री ने यह पहचान दाहिने हाथ की ५ लाल चूड़ियों से की जिसे वैशाखी पहने हुए थी तथा श्वेत सारी जिसका किनारा लाल था तथा बाँए हाथ की दो लाल चूड़ियाँ बाँए हाथ की पीतल की अँगूठी और एक माला के कुछ दाने से जिसे वैशाखी पहने हुए थी जात्री ने पहचान की। दलपतसाय ने लाश को देखते रहने के लिये गाँववालों को सिपुर्द किया और वे स्वयं अपीलकर्ता के घर पर गए पर वह घर पर नहीं मिला। उन्होंने तब चौकीदार और रूपराम को थाने पर भेजा जो वहाँ से ४३ मील की दूरी पर था। थाने पर रूपराम ने यह सूचना दिया और इसे पुलिस के सहायक थानेदार ने लिखा। इस सूचना में अगहनी के दिए हुए बयान की ओर संकेत था और उस समय तक जो वस्तुएँ प्राप्त हो गई थीं उनकी भी चर्चा थी। उसी दिन बृहस्पतिवार को अपीलकर्ता अपने बहनोई के घर एक दूसरे गाँव में पकड़ा गया। दलपत साय मुखिया ग्राम पंचायत, कृष्णचंद सिंह सरपंच ग्राम पंचायत और पंचायत के एक सदस्य प्रदुमन सिंह ने उससे पूछा और कहा जाता है कि उसने न्याया-तिरिक्त दोष स्वीकृति (एक्स्ट्राजुडिशियल कनफेशन) किया कि रुपए के लालच से हमने वैशाखी बच्चे का बध कर दिया क्योंकि लुर्की नदी पर जो ठीकेदार पुल बनवा रहा है उसने कहा था कि जो मुझे मनुष्य का एक सिर लाकर देगा उसे मैं ८० रु० दूँगा। अपीलकर्ता गाँववालों द्वारा तब तक रोक रखा गया जब तक कि सहायक थाने-दार आ नहीं पहुँचे। सहायक थानेदार को लोग वहाँ लिवा ले गए जहाँ पर बिना सिर की लाश पड़ी थी। उस स्थान पर उस माला के यत्र तत्र बिखरे हुए २६ दाने मिले जिसे वैशाखी पहने हुए थी। थानेदार ने अपील कर्ता को पकड़ लिया और उसके घर की तलाशी ली। तलाशी में 'बलुवा' नामक एक तेज धारदार हथियार प्राप्त हुआ। उस पर कुछ रक्त के धब्बे थे किंतु उनके बिगड़ जाने से उसके मूल का पता नहीं चलता था। उससे पूछे जाने पर कि वैशाखी का सिर कहाँ पर है कहा जाता है कि अपीलकर्ता सहायक थानेदार को उस स्थान पर लिवा ले गया जो लाश पाए जानेवाले स्थान से १०० गज की दूरी पर था। उस स्थान पर रक्त के धब्बे वाले कुछ बालों के गुच्छे मिले। सहायक थानेदार ने इसे ले लिया। ये बालों के गुच्छे स्त्री के सिर के बाल प्रतीत होते थे और रासायनिक परीक्षक ने कहा था कि ये स्त्री के सिर के बाल प्रतीत होते हैं। कुछ और छानबीन करने के बाद अपीलकर्ता अन्वीक्षा के लिये भेजा गया। मजिस्ट्रेट द्वारा जाँच करने के बाद सत्र न्यायाधीश के समक्ष अन्वीक्षा के लिये उसका उपार्पण (कमिटल) हो गया।

अपनी बचत में अपीलकर्ता का कहना था कि वह झूठे ही फँसा दिया गया है। उसने इस बात से इनकार किया कि पहाड़ी जंगल में मैंने वैशाखी की हत्या की है। उसने यह भी अस्वीकार किया कि हमने दलपत साय, कृष्णचंद्र सिंह और प्रदुमन सिंह के सामने न्यायातिरिक्त दोष स्वीकृति (एक्स्ट्राजुडिशियल कनफेशन) किया है। उसने इनकार किया कि हमारे घर से रक्त के धब्बोंवाला कोई हथियार प्राप्त हुआ है। उसने यह भी इनकार किया कि उस दिन मैं अपने घर पर उपस्थित नहीं था या मैं अपने बहनोई के घर से पकड़ा गया।

विद्वान् अतिरिक्त न्यायिक आयुक्त और उच्च न्याया-लय दोनों का निर्णय था कि अपीलकर्ता के विरुद्ध निर्णय दो बातों पर निर्भर करता है। १—पारिस्थितिक साक्ष्य और। २—न्यायातिरिक्त दोष स्वीकृति। निर्णय था कि यह दोष स्वीकृति स्वेच्छा से की गई थी किसी दबाव आदि से नहीं। उनका निर्णय था कि यों तो दोष स्वीकृति से इनकार किया गया है किंतु यह दोष स्वीकृति पारिस्थितिक साक्ष्य से इस प्रकार संपोषित (करोबोरेटेड) है कि सिवा इसके कि अपीलकर्ता ने वैशाखी की हत्या कुछ रुपए के लालच से की कोई और युक्तिसंगत बात नहीं आती।

इसमें झगड़ा नहीं है कि संविधान के अनुच्छेद १३६ के अंतर्गत विशेष अनुमति पर निवेशित की गई इस

अपील में नीचे के दोनों न्यायालयों के तथ्य के प्रश्न पर के समवर्ती निष्कर्ष को कुछ प्रतिबंधों के साथ मानना हमारे लिये अनिवार्य है। अपीलकर्ता के वकील श्री आयंगर ने यहाँ ३ बातों पर बहुत जोर दिया है कि जो कहा जाता है कि अपीलकर्ता ने दोष स्वीकृति की वह दोष स्वीकृति साक्ष्य में प्रतिग्राह्य नहीं है। दूसरे, यदि प्रतिग्राह्य हो तो भी यह सत्य नहीं है। तीसरे, पारिस्थितिक साक्ष्य के संबंध में भी नीचे के न्यायालयों ने अप्रतिग्राह्य साक्ष्य पर निर्भर किया है, जैसे यह दिखलाने के लिये कि अपीलकर्ता बैशाखी के साथ हत्या के पहले देखा गया अगहनी के बयान पर निर्भर किया गया। दूसरे शब्दों में अपीलकर्ता के विद्वान् वकील का कहना है कि पारिस्थितिक साक्ष्य द्वारा दोष सिद्धि प्रमाणित करने के लिये जितने सुदृढ़ साक्ष्य की आवश्यकता होती है उतना दृढ़ साक्ष्य यहाँ है नहीं।

बैशाखी की हत्या हुई इसमें संदेह नहीं है। हत्या होने की बात अनेक महत्वपूर्ण साक्ष्यों द्वारा अच्छी तरह प्रमाणित हो चुकी है। इसलिए नीचे के न्यायालय ने जो केवल एक प्रश्न पर विचार किया कि क्या इस हत्या में प्रार्थी का हाथ था वह ठीक था।

इस संबंध में अपीलकर्ता के विद्वान् वकील की उपर्युक्त आपत्तियों पर विचार करना है। इस संबंध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हम अपीलकर्ता के इस कथन से सहमत हैं कि अगहनी का बयान जो अगहनी कि घटना के कुछ ही महीने बाद मर गई और उसका बयान किसी न्यायिक कार्यवाही में नहीं लिखा जा सका साक्ष्य में प्रतिग्राह्य नहीं है। यह साक्ष्य निश्चय ही साक्ष्य अधिनियम की धारा ३३ के अंतर्गत नहीं आ सकता क्योंकि यह किसी न्यायिक कार्यवाही में नहीं था। केवल धारा ३२ (१) इसमें लागू हो सकती है किंतु यह उपबंध भी उस बयान से संबंध रखता है जो बयान देनेवाले व्यक्ति की मृत्यु के कारण के वे संबंध में हो या उन व्यवहारों की किसी ऐसी परिस्थिति से संबंधित हो जिसके परिणाम स्वरूप उसकी मृत्यु हुई हो। यहाँ इस मामले में अगहनी का बयान उसकी मृत्यु के कारण से संबंध नहीं रखता अथवा उसकी मृत्यु से संबंधित किसी परिस्थिति से संबंध नहीं रखता वरन् इसके विपरीत यह बयान उसकी बहन की मृत्यु से संबंध रखता है। इसलिए हमारे विचार से यह बयान साक्ष्य अधिनियम की धारा ३२ (१) के अंतर्गत नहीं आता। सरकार के वकील ने भी मान लिया है कि धारा ३२ (१) इसमें लागू नहीं होती।

अगहनी का बयान निकाल देने पर अपीलकर्ता के विरुद्ध दो प्रकार के साक्ष्य रह जाते हैं १—न्यायातिरिक्त दोष स्वीकृति और २—पारिस्थितिक साक्ष्य। पारिस्थितिक साक्ष्य में तलाशी में रक्त के धब्बेवाला 'बलुवा' की प्राप्ति, रक्त के धब्बोंवाले बालों के गुच्छों की प्राप्ति और अपीलकर्ता की अनुपस्थिति इत्यादि अनेक परिस्थितियाँ हैं। न्यायातिरिक्त दोष स्वीकृति के संबंध में दो प्रश्न पैदा होते हैं—क्या यह स्वेच्छा से थी और यदि यह स्वेच्छा से थी तो क्या यह सत्य थी? अपीलकर्ता ने इनकार किया था कि हमने कोई दोष स्वीकृति की किंतु यहाँ पर हमें इस निरपेक्ष प्रश्न पर विचार नहीं करना है कि यदि दोष स्वीकृति स्वेच्छा से की गई या सत्य पाई जाय तो इस पर दोष सिद्धि हो सकती है कि नहीं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रायः और सावधानी के लिये ऐसी दोष स्वीकृति के लिये न्यायालय तात्विक संपोषण (करोबोरेशन) की माँग करता है। यह संपोषण ऐसा होना चाहिए जो अपराधी का संबंध प्रश्नगत् अपराध से स्थापित कर दे। यहाँ वास्तविक प्रश्न एकमात्र यही है कि दोष स्वीकृति यदि स्वेच्छा से की गई और सत्य पाई जाती है तो अपराधी के विरुद्ध प्रमाणित पारिस्थितिक साक्ष्य इसका पर्याप्त संपोषण करते हैं कि नहीं।

हमें पहले देखना है कि दोष स्वीकृति स्वेच्छा से की गई थी कि नहीं। साक्ष्य अधिनियम की धारा २४ में है कि आपराधिक कार्यवाही में अभियुक्त द्वारा दोष स्वीकृति उस समय असंबद्ध (इरेलवेंट) समझी जाती है जब कि न्यायालय को यह प्रतीत होता है कि यह दोष स्वीकृति अभियुक्त के विरुद्ध आरोप के संबंध में अधिकारी व्यक्ति की ओर से किसी साम-दाम-दंड के कारण की गई है

और न्यायालय को जब यह प्रतीत होता है कि यह साम-दाम-दंड ऐसा है कि इससे अभियुक्त के मन में यह मान लेने का युक्तिसंगत आधार हो जाता है कि दोष स्वीकृति द्वारा उसके विरुद्ध कार्यवाही के संबंध में उसे कोई लाभ होगा या उससे कोई सांसारिक ढंग की बुराई दूर होगी तो ऐसी स्थिति में दोष स्वीकृति असंबद्ध (इरेलवेंट) होती है।

इसके लिये अपीलकर्ता के विद्वान् वकील के इस कथन से मैं सहमत होता हूँ कि दलपत साय, कृष्णचंद सिंह और प्रदुमन सिंह बिहार पंचायत राज अधिनियम के अंतर्गत धारा २८ के अंतर्गत अधिकारी व्यक्ति (परसन इन अथारिटी) में आते हैं। किंतु प्रश्न यह है कि क्या वह दोष स्वीकृति इनकी ओर से साम-दाम-दंड के फल स्वरूप की गई है और वह आरोप के संबंध में है और न्यायालय का उसे असंबद्ध पाने के लिये क्या उपर्युक्त परिस्थितियाँ हैं ? नीचे के न्यायालयों ने इसका स्पष्ट नकारात्मक उत्तर दिया है। हमने उपर्युक्त तीनों साक्षियों के साक्ष्य का परीक्षण किया है। दलपतसाय के बयान में है कि उससे लगभग २ घंटे तक प्रश्न किया गया परंतु प्रश्न लगातार नहीं किया गया। उसे भोजन दिया गया और तब उससे प्रश्न किया गया तो वह थोड़ी देर तक मौन रहा और तब कहा कि हमने उस लड़की की हत्या की है क्योंकि उक्त ठेकेदार ने मनुष्य के सिर के लिये ८० रु० देने को कहा था। न्यायातिरिक्त दोष स्वीकृति को प्रमाणित करने के लिये हमने उपर्युक्त तीनों साक्षियों के साक्ष्य का जब परीक्षण किया तो नीचे के न्यायालयों के निर्णय से भिन्न मत प्रकट करने के लिये कोई आधार नहीं मिला। श्री आयंगर ने १८६३ २ क्वींस बेंच १२ को दिखलाया। यह एक गबन का मुकदमा था। इसमें कंपनी के अध्यक्ष ने अभियुक्त के भाई से कहा था कि 'तुम्हारे भाई के लिये यही अच्छा होगा कि बयान दे दे।' दोष स्वीकृति के समय अभियुक्त जानता था कि हमारे भाई से इस संबंध में उपर्युक्त बात कही गई है। इसी लिए इसमें न्यायमूर्ति केव ने कहा था कि अभियोजन ने यह प्रमाणित नहीं किया है कि दोष स्वीकृति स्वेच्छा से की गई है तथा स्वतंत्र है। उन्होंने यह भी कहा था कि उस दोष स्वीकृति पर संदेह करने के लिये पर्याप्त कारण है जो पश्चाताप के कारण तो समझी जाती है पर बाद में अभियुक्त उससे हट जाता है। यह सत्य है कि इस मामले में अभियुक्त पहलेवाली दोष स्वीकृति से हट गया किंतु उपर्युक्त रुलिंग में जो परिस्थिति थी वह इसमें नहीं है। ग्रामीण स्वयं सेवक दल द्वारा उपर्युक्त अपने बहनोई के घर से पकड़कर लाया गया और गाँव के अधिकारियों के समक्ष उसने दोष स्वीकृति की। केवल एक बात पर बहस की गई है कि अभियुक्त जब अधिकारियों के समक्ष लाया गया और जब उसने दोष स्वीकृति की उस बीच २ घंटा समय बीत चुका था। इसके लिए भी आयंगर ने ए० आई० आर० १९४० मद्रास १३६ पर निर्भर किया। इसमें पुलिस के अधीक्षक सुपरिटेंडेंट ने अभियुक्त से ४ घंटे तक रात्रि में प्रश्न किया था और २ घंटे तक सवेरे। इस संबंध में निर्णय हुआ था कि इसमें स्पष्ट रूपेण पुलिस विनियमन का उल्लंघन किया गया। इतनी अधिक देर तक लगातार इस मामले में प्रश्न नहीं पूछा गया था। दूसरा निर्णय जिसपर थी आयंगर ने ध्यान दिलाया है वह ए० आई० आर० १९३४ लाहौर ४१७ है। किंतु उसके तथ्य इससे भिन्न थे। इस प्रकार उक्त न्यायातिरिक्त दोष स्वीकृति के संबंध में साम-दाम-दंड का तनिक भी आभास नहीं मिलता।

दोष स्वीकृति की सत्यता के संबंध में कोई बात ऐसी नहीं बतलाई गई जिससे यह प्रतीत हो कि इसमें कुछ असत्य बयान था। यों तो अभियोजन ने यह प्रमाण नहीं दिया कि जो ठेकेदार लुर्की नदी पर पुल बनवा रहा है उसने मनुष्य के सिर के लिए ८० रु० देने को कहा था किंतु यह बात ऐसी है कि कोई ठेकेदार इसे स्वीकार नहीं करेगा कि हमने ऐसा कहा था चाहे उसने कहा भले ही हो। साधारणतया कोई न तो मनुष्य के सिर की माँग करता है और न तो कोई ऐसी माँग स्वीकार करता है, यह बात हम मानते हैं किंतु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इस मामले में आदिम निवासी हैं जिनमें अभी भी अंधविश्वास की भावना भरी पड़ी है। इस

विधि पत्रिका, वर्ष ३ (१८८०) १९५८
इला० उच्च न्या० १

न्यायमूर्ति बी० आर० जेम्स

व्यवहार प्रकीर्णक लेख सं० २५५६/१९५८—

१३ नवंबर १९५८

कुमारी आशालता — (प्रार्थी)

वि०

आचार्य मेरठ कालेज, मेरठ— विपक्षी

आगरा विश्वविद्यालय अधिनियम तथा अध्यादेश (आर्डिनेंस) अध्याय २०, नियमावली—शिक्षा संस्था में कोई विद्यार्थी अधिकार के बल पर प्रवेश नहीं पा सकता—

न्यायमूर्ति जेम्स —

भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६ के अंतर्गत यह लेख प्रार्थनापत्र निवेशित किया गया है। यों तो सभी की यह इच्छा होती है कि देश में सभी लड़कों और लड़कियों को जैसा वे चाहते हैं शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था हो किंतु यहाँ प्रमुख प्रश्न केवल यही है कि जिस कक्षा में वह लड़की या लड़का प्रवेश पाना चाहता है उसमें भर्ती करने के लिये क्या उस विद्यालय को बाध्य किया जा सकता है ?

तथ्य इस प्रकार है कि प्रार्थी कुमारी आशालता मेरठ के श्री ओम्प्रकाश गुप्त की पुत्री है। कुमारी आशालता मेरठ कालेज की छात्रा थी। मेरठ कालेज आगरा विश्वविद्यालय से संबंधित है। उसने १९५७ में बी० एस सी० परीक्षा उत्तीर्ण किया। १९५८ की एम० एस सी० प्रथम वर्ष की परीक्षा में वह सफल नहीं हुई। १९५८-५९ के सत्र के लिये उसी कक्षा में पुनः प्रवेश पाने के लिये उसने प्रार्थनापत्र दिया तो प्राधिकारियों ने उसे भर्ती नहीं किया। इसका कारण यह था कि विज्ञान की कक्षाओं में व्यावहारिक शिक्षा का महत्व उतना ही होता है जितना सैद्धांतिक का और विज्ञान की प्रयोगशाला में केवल ८ विद्यार्थियों के लिये सामान था। इसलिए अधिकारियों ने उपयुक्त विद्यार्थी की भर्ती कर ली और प्रार्थी कुमारी आशालता को बतलाया गया कि अब उसकी भर्ती के लिये स्थान रिक्त नहीं है। कुमारी आशालता के पिता ने कालेज के आचार्य को कई पत्र लिखा पर जब उन्होंने उसकी भर्ती नहीं की तो कुमारी आशालता ने इस न्यायालय में परमादेश लेख (रिट आफ मैंडमस) जारी करने की प्रार्थना की है कि आचार्य को आदेश दिया जाय कि वे उसे एम० एस सी० प्रथम वर्ष के चालू सत्र में भर्ती कर लें।

इसमें प्रार्थी तभी सफल हो सकती है जब दो बातें प्रमाणित हो जाँय, एक यह कि जिस कक्षा में वह चाहती थी उस कक्षा में प्रवेश पाने का उसे अधिकार था और दूसरा यह कि आचार्य का यह विधिक कर्तव्य (लीगल ड्यूटी) था कि उसे उस कक्षा में भर्ती करें।

उसके विद्वान् वकील एक भी शर्त पूरी करनेवाला प्रमाण नहीं दे सके। उसके कथनानुसार यदि इस प्रकार का कोई अधिकार और कर्तव्य था तो वह आगरा विश्वविद्यालय अधिनियम या तदंतर्गत निर्मित परिनियम, अध्यादेश या विनियम (रेगुलेशंस) में ही हो सकता है। अधिनियम में ऐसी कोई बात नहीं दी गई है। विद्वान् वकील ने अध्यादेश का अध्याय २० नियम ३ दिखलाया किंतु उसके अनुसार वह कालेज का मान्य सदस्य तब होती जब वह आचार्य द्वारा 'स्वीकार' (ऐक्सेप्ट) की गई होती। वह स्वीकार नहीं की गई है इसलिए उपबंध के अनुसार वह कालेज का मान्य सदस्य नहीं है। विद्वान् वकील ने अध्यादेश का अध्याय १६ बी० नि० २ (२) दिखलाया पर नियम ५ के पढ़ने से पता चलता है कि यह भूतपूर्व विद्यार्थियों के लिये है। इस नियम के अनुसार प्रार्थी वार्षिक परीक्षा में बैठ सकती है किंतु चूँकि वह कक्षा में नियमित रूप से भर्ती होकर पढ़ना चाहती है इसलिए वह उपबंध यहाँ लागू नहीं होगा।

इससे यह स्पष्ट है कि कोई नियम ऐसा नहीं है जिससे आचार्य को बाध्य किया जाय कि प्रार्थी को भर्ती कर लें।

आचार्य की ओर से विद्वान् वकील ने बतलाया कि

नियम ६ के अनुसार बी० एस सी० के सफल विद्यार्थी ही एम० एस सी० में प्रवेश पावेंगे। चूँकि प्रार्थी सफल नहीं है इसलिए वह इस नियम का भी लाभ नहीं उठा सकती।

प्रार्थी के विद्वान् वकील का दूसरा तर्क है कि जब प्रार्थी प्रथम सत्र (सेशन) में विद्यार्थी रही है तो उसे अधिकार है कि दूसरे सत्र में भी विद्यार्थी रहे। वे इस सिद्धांत पर निर्णय चाहते हैं कि "जो एक बार सदस्य हो चुका हो वह सर्वदा सदस्य है।" मैं इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं हूँ। एक तो नियमावली में कहीं ऐसी बातें नहीं हैं दूसरे ओमप्रकाश के शपथपत्र से पता चलता है कि प्रार्थी की भर्ती सत्र से सत्र तक थी।

प्रार्थी के विद्वान् वकील ने एक दूसरे प्रकार का तर्क रखा है। उनका कहना है कि प्रथम वर्ष और अंतिम वर्ष में कुल १६ लड़कों के लिये स्थान है, ८ प्रथम वर्ष में और ८ द्वितीय वर्ष में। प्रार्थी के असफल होने पर अंतिम वर्ष में ७ ही लड़के पहुँचे इसलिए इस समय कुल मिलाकर १५ लड़के हैं। इसलिए यदि प्रार्थी की भर्ती प्रथम वर्ष में हो जाय तो भी अध्यापक अच्छी तरह पढ़ा लेंगे, ऐसी व्यवस्था है। दूसरे शब्दों में इस कथन का परिणाम है कि आचार्य को अपने विवेक (डिस्क्रीशन) को प्रयोग करने के लिये कहा जाय। परमादेश लेख (रिट आफ मैंडमस) में यह आदेश नहीं दिया जा सकता कि आचार्य अपने विवेक का प्रयोग एक विशेष ढंग पर करें।

अंत में प्रार्थी के विद्वान् वकील श्री खरे ने एक भावुक तर्क रखा। उनका कहना है कि प्रार्थी की भर्ती यदि न की गई तो उसका शैक्षणिक जीवन बरबाद हो जायगा। आचार्य की ओर से कहा गया कि उसका शैक्षणिक जीवन बरबाद नहीं होगा क्योंकि अब भी वह विश्वविद्यालय के नियमानुसार १९५९ की परीक्षा में बैठ सकती है। यह भी कहा गया कि इससे अधिक हानि तो उस विद्यार्थी की होगी जो कई महीने तक पढ़ चुका है और प्रार्थी की भर्ती हो जाने पर उसे निकालना पड़ेगा और इस प्रकार उसके शैक्षणिक जीवन की बरबादी की अधिक आशंका है। आचार्य की ओर से दिए गए इस तर्क में अधिक बल दीखता है। इसके अतिरिक्त प्रार्थी ने जब न्यायालय में आना निश्चय किया तो उसे अपनी माँग को विधिक अधिकारों पर अवलंबित करना चाहिए, भावुकता पर नहीं।

यह स्पष्ट है कि आगरा विश्वविद्यालय अधिनियम और तदन्तर्गत निर्मित नियमावली में कोई ऐसा उपबंध नहीं है जिसके आधार पर प्रार्थी की भर्ती की जा सके। दूसरे, विद्वान् वकील ने कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं दिया जिसमें किसी विद्यालय को बाध्य किया गया हो कि किसी विद्यार्थी की भर्ती करे। यह मामला विश्वविद्यालय का भीतरी मामला है इसलिए यह अधिकारियों पर छोड़ दिया गया है। इसका निर्णय आचार्य ही कर सकते थे। प्रार्थी को इस न्यायालय में आने की राय गलत दी गई है। कुछ भी हो प्रार्थी ने अधिकार और कर्तव्य को प्रमाणित नहीं किया और बिना इसको प्रमाणित किए वह सफल हो नहीं सकती। परिणामतः प्रार्थनापत्र असफल होता है और परिव्यय के साथ उत्सर्जित किया जाता है। प्रार्थनापत्र—न्यायाधीश का दिनांक १२-८-१९५८ का अंतरिम आदेश एतद्द्वारा प्रभावशून्य किया जाता है।

प्रार्थनापत्र उत्सर्जित

———

विधि पत्रिका, वर्ष ३ (१९८०) १९५८

इला० उच्च न्यायालय २

न्यायमूर्ति एस० एल० चतुर्वेदी

एफ० ए० सं० ५५३ और ५५४।१९४५—

१२ अगस्त १९५८

कामता प्रसाद तथा अन्य — प्रतिवादी—अपीलकर्तागण

विरुद्ध

मुसम्मात पार्वती बीबी — वादी—उत्तरवादी

श्री शिवशंकर लाल व्यवहार न्यायाधीश के वाद सं०

६६।१६४४ में दिए गए निर्णय दिनांक २१-५-१६४५ के विरुद्ध प्रथम अपील—

अ—व्याज उधार अधिनियम (यूज़ूरियस लॉस ऐक्ट) १६१८, धारा ३ - व्याज कम करते समय मुकदमें की परिस्थितियों पर विचार करना चाहिए।

ब—हिंदू विधि—'दामदुपत' का नियम उत्तर प्रदेश में लागू नहीं होता—ऋण लिए हुए धन का दूना यदि ऋणी को देना पड़ता है तो इसमें कोई अनौचित्य नहीं है।

न्यायमूर्ति चतुर्वेदी—

ये दो संबद्ध अपीलें हैं जो वादी—उत्तरवादी पारबती बीबी द्वारा निवेशित किए हुए दो मुकदमों से आई हैं।

दोनों मुकदमें सामान्य बंधक बंधपत्र पर आधारित हैं। इलाहाबाद शहर में खलीफा मंडी में का हिस्सा बंधक में दिया गया है। ये बंधक पहले के एक बंधक के स्थान पर दिए गए। पहला बंधक १६१६ में दिया गया था। प्रतिवादियों का प्रतिवाद में प्रमुख कथन यही है व्याज की दर बहुत अधिक है और वह कम की जानी चाहिए। विद्वान् व्यवहार न्यायाधीश ने इसकी परिस्थितियों पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि व्याज की दर बहुत अधिक नहीं है और इसके कम करने का कोई कारण नहीं है। तदनुसार मुकदमों में पूर्ण रूपेण डिग्री दे दी गई।

व्याज उधार अधिनियम (युज़ूरियस लॉस ऐक्ट) १६१८ के संबद्ध उपबंध के विषय में कानूनी स्थिति यह है कि जहाँ तक इस राज्य (स्टेट) का संबंध है विधान मंडल ने उन परिस्थितियों को बतला दिया है जिनमें व्याज को बहुत अधिक समझना चाहिए और उन परिस्थितियों को भी बतला दिया है जिनमें व्याज को बहुत अधिक नहीं समझना चाहिए। इन दोनों स्थितियों के बीच में जगह बहुत ही अधिक है और ये मामले उस जगह के एक किनारे पर पड़ते हैं। ये मामले निचली सीमा के अधिक निकट हैं अपेक्षाकृत ऊँची सीमा के, क्योंकि उक्त उपबंध में जब ७% व्याज की दर है तो इसमें ७½% व्याज की दर तय हुई है।

विद्वान् वकील ने व्याज कम करनेवाली जो परिस्थिति बतलाया है उसकी और उन विद्वान् व्यवहार न्यायाधीश का भी ध्यान आकृष्ट किया गया था जिन्होंने इसका निर्णय किया। उनसे भिन्न विचार व्यक्त करने का मैं कोई कारण नहीं देखता। यह बात कि न्यायालय व्याज की दर कम कर सकता है, है अवश्य पर इसका अर्थ यह नहीं है कि न्यायालय को वास्तव में ऐसा करना चाहिए। मुकदमें की परिस्थितियों पर विचार करना चाहिए। इस मामले में कोई परिस्थिति ऐसी नहीं दिखलाई पड़ती। पक्षों के बीच जो संविदा हुई है उसमें हस्तक्षेप करने का मैं कोई कारण नहीं देखता।

इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि पहले के बंधक की व्याज की दर कम थी। इस तथ्य से भी कोई सहायता नहीं मिल सकती कारण कि पहले बंधक की धनराशि २८०० रु० थी और वर्तमान प्रत्येक बंधक की धनराशि केवल २००० रुपया है। यह सर्वविदित है कि उधार लिए हुए ऋण की धनराशि यदि अधिक है तो व्याज दर कम होगी और धनराशि यदि कम है तो व्याज दर अधिक होगी। इस प्रकार व्याज दर कम करने का कोई आधार नहीं है।

विद्वान् वकील का कहना है कि 'दामदुपद' का सिद्धांत इसमें लागू होता है और मूलधन के दूने से अधिक धनराशि के बारे में डिग्री पारित नहीं करनी चाहिए। मुझे एक भी प्रमाण ऐसा नहीं दिखलाया गया जिसमें 'दामदुपद'का सिद्धांत न्याय, समता और सद्विचार के आधार पर लागू किया गया हो। इस मामले की जैसी परिस्थिति है उसके अनुसार ऋणी को यदि मूलधन के दूने से अधिक देने को बाध्य किया जाता है तो उसमें कोई अनौचित्य नहीं है क्योंकि ऋणी ने भी उचित समय पर रुपया नहीं दिया और देर किया। 'दामदुपद' का सिद्धांत हिंदू विधि में है परंतु इस राज्य के किसी अधिनियम द्वारा यह इस प्रदेश में लागू नहीं किया गया है। इसलिए उपर्युक्त सिद्धांत केवल न्याय, समता और सद्विचार के आधार पर ही प्रयुक्त हो सकता है और इसके लिये उपयुक्त परिस्थिति है नहीं।

उपर्युक्त कारणों से ये दोनों अपीलें असफल होती हैं और परिव्यय के साथ उत्सर्जित की जाती है।

अपीलें उत्सर्जित

——

विधि पत्रिका, वर्ष ३ (१९८०) १९५८

इला० उच्च न्यायालय ४

न्यायमूर्ति बी० जी० ओक

श्रीमती बलवंत कुँवर तथा अन्य— प्रार्थीगण

वि०

अतिरिक्त मुंसिफ, देहरादून तथा अन्य— विपक्षीगण

व्यवहार प्रकीर्णक लेख सं० ११२०।१९६६ दिनांक ३०-४-१९५८

हिंदू विवाह अधिनियम (१९५५) धारा ९—दांपत्य अधिकार की पुनर्स्थापना के लिये वाद (सूट) के विषय में मुंसिफ और व्यवहार न्यायाधीश के अधिक्षेत्र

आदेश—

यह प्रार्थनापत्र भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६ और २२७ के अंतर्गत निवेशित किया गया है। इसमें यही है कि हिंदू विवाह अधिनियम १९५५ (जिसे एतत्पश्चात् अधिनियम कहा जायगा) के लागू होने पर जब कि उभयपक्ष हिंदू हैं तो मुंसिफ को दांपत्य अधिकार की पुनर्स्थापना के मुकदमें की सुनवाई का अधिकार है कि नहीं।

रंजीत सिंह ने देहरादून के मुंसिफ के न्यायालय में एक वाद निवेशित किया जिसमें प्रतिवादी गण सं० १ श्रीमती बलवंत कुँवर, सं० २ बखशीश सिंह तथा सं० ३ इंद्र कुँवर थे जो क्रम से वादी की पत्नी, वादी की पत्नी का भाई और वादी की पत्नी की माता हैं। वादी ने सहायता माँगी है कि:—

अ—प्रतिवादी १ के विरुद्ध डिग्री पारित की जाय कि वह उसके साथ रहे और दांपत्य अधिकार का प्रयोग करने दे।

ब—प्रतिवादी सं० २ और ३ को निषेधाज्ञा द्वारा मना किया जाय कि प्रतिवादी सं० १ को वादी के घर आने में रुकावट न डालें।

प्रतिवाद में बहुत सी बातें कही गईं जिनमें से एक यह थी कि न्यायालय को मुकदमें की सुनवाई का अधिक्षेत्र नहीं है। मुंसिफ ने इसको आरंभिक वादपद माना और निर्णय दिया कि न्यायालय को सुनवाई का अधिकार है।

प्रतिवादीगण इस निर्णय से संतुष्ट नहीं हैं। उनका कहना है कि हिंदू विवाह अधिनियम १९५५ के लागू होने पर यह वाद संधार्य (मेनटेनेबुल) नहीं है। अतः अनुच्छेद २२६ और २२७ के अंतर्गत यह प्रार्थनापत्र निवेशित किया गया है।

प्रार्थी का कहना है कि अधिनियम की धारा ९ के अंतर्गत वादी केवल प्रार्थनापत्र निवेशित कर सकता था, मुकदमा नहीं।

यहाँ पर उभयपक्ष सिक्ख हैं। अधिनियम की धारा २ उपधारा १ उपवाक्य बी० के अनुसार यह अधिनियम सिक्खों के लिये भी लागू होता है इसलिए उभयपक्ष हिंदू विवाह अधिनियम १९५५ से शासित हैं।

व्यवहार प्रक्रिया संहिता की धारा ९ व्यवहार प्रक्रिया संहिता के सामान्य अधिक्षेत्र से संबंध रखती है। उसमें दिया हुआ है कि न्यायालयों को व्यवहार (सिविल) प्रकृति के समस्त मुकदमों की सुनवाई का अधिकार होगा बशर्ते स्पष्ट रूप से या ध्वनितार्थ से सुनवाई मना न गई हो। यहाँ देखना है कि १९५५ के अधिनियम से व्यवहार न्यायालय द्वारा इस मामले की सुनवाई मना की गई है कि नहीं। ए० आई० आर० १९५५ सर्वोच्च न्यायलय ५७६ में निर्णय हुआ कि देखने में यदि प्रतीत होता हो कि व्यवहार न्यायालय को इसकी सुनवाई का अधिकार है परंतु कहा यह जाता है कि न्यायालय को उसकी सुनवाई का अधिकार नहीं है तो इसके लिये भाषा स्पष्ट होनी चाहिए या आवश्यक ध्वनितार्थ से अधिकार न

होने की बात प्रकट होनी चाहिए। व्यवहार प्रक्रिया संहिता के चिटले द्वारा लिखित भाष्य में है कि यदि किसी अधिनियम द्वारा अन्य उपाय है या सरसरी तौर पर सहायता पाने के लिये उपबंध है तो यह आवश्यक नहीं व्यवहार न्यायालय की सुनवाई में यह बाधक है; पूरे मुकदमे की सुनवाई का अधिकार जब व्यवहार न्यायालय को नहीं होता तभी अधिक्षेत्र में बाधा पड़ती है, अन्यथा नहीं। यदि अभ्यर्थना (क्लेम) के एक भाग की सुनवाई का अधिकार व्यवहार न्यायालय को नहीं है और दूसरे का है तो जिस भाग के सुनवाई का अधिकार है उसकी सुनवाई व्यवहार न्यायालय कर सकता है···यदि संदेह हो कि सुनवाई का अधिकार है कि नहीं तो न्यायलय का झुकाव उसी व्याख्या की ओर होगा जिसके द्वारा सुनवाई का अधिकार होता है। पृ० २५५ पर यह भी दिया हुआ है कि यह भी एक सामान्य सिद्धांत है कि जहाँ विधि में दो कार्यवाहियाँ या दो उपाय उपलब्ध हों वहाँ एक का प्रयोग दूसरे को कम करने के लिये नहीं होना चाहिए। अधिनियम की धारा ४ अधिभावी (ओवरराइडिंग) प्रभाव की है जिसमें दिया हुआ है कि इसके उपबंध से अतंर्गत उपबंध लागू नहीं होंगे।

१९५५ से पहले सामान्यतः कोई हिंदू, मुंसिफ के न्यायालय में न्यायिक पार्थक्य (जुडिशियल सेपेरेशन) के लिये वाद निवेशित नहीं कर सकता था। अधिनियम में कोई बात ऐसी नहीं दी गई है जिससे पता चले कि १९५५ के बाद मुंसिफ न्यायिक पार्थक्य के मुकदमे की सुनवाई कर सकते हैं। मुंसिफ यदि न्यायिक पार्थक्य के मुकदमे की सुनवाई नहीं कर सकते तो कोई विशेष कारण नहीं है कि मुंसिफ को दांपत्य अधिकार की पुनर्स्थापना के मुकदमे की सुनवाई का अधिकार क्यों होना चाहिए।

इस बात पर ध्यान रहना चाहिए कि धारा ९ और धारा १९ दोनों इस बात पर जोर देती हैं कि दांपत्य अधिकार की पुनर्स्थापना के लिये प्रार्थपनपत्र जिला न्यायालय में निवेशित करना चाहिए।

श्री बृजलाल गुप्त का कहना है कि अधिनियम की धारा ९ केवल सरसरी उपाय के लिये है। धारा २१ के अनुसार व्यवहार प्रक्रिया संहिता इसमें लागू होती है और सरसरी तौर पर जो उपाय उपलब्ध है उसके अतिरिक्त भी नियमित वाद (रेगुलर सूट) निवेशित किया जा सकता है।

धारा ९ में दिया हुआ है कि प्रार्थी यदि अपनी बात प्रमाणित कर देता है तो जिला न्यायालय दांपत्य अधिकार की पुनर्स्थापना के लिये डिग्री पारित कर सकता है। धारा २८ में इस डिग्री के विरुद्ध अपील करने का विधान है। इस प्रकार धारा ९ के अंतर्गत की कार्यवाही ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार नियमित वाद में कार्यवाही की जाती है। इसलिए धारा ९ के अंतर्गत दिए हुए प्रार्थनापत्र को सरसरी तौर की कार्यवाही नहीं कहा जा सकता।

श्री बृजलाल गुप्त का कहना है कि अधिनियम की धारा ९ (२) के अनुसार प्रतिवाद (डिफेंस) में केवल अभिकथन (प्ली) विशेष ही लिया जा सकता है उसके अतिरिक्त यदि अन्य अभिकथनों का आश्रय लेना हो तो नियमित वाद निवेशित करके लिया जा सकता है।

धारा ९ के अंतर्गत दिए गए प्रार्थनापत्र को सरसरी कार्यवाही समझने का परिणाम यह होगा कि इसके अतिरिक्त भी नियमित वाद निवेशित किया जा सकता है। इस प्रकार ऐसा नियमित वाद मुंसिफ के न्यायालय में निवेशित होगा और मुंसिफ इसमें जो आदेश देंगे हो सकता है कि वह उस आदेश के विरुद्ध हो जिसे जिला न्यायालय ने धारा ९ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र में पारित किया था। ऐसी परिस्थिति में दो विरोधी निर्णय होने की संभावना है। मैं सोचता हूँ कि संसद (पार्लियामेंट) ने इस प्रकार दो विरोधी निर्णय होने की परिस्थिति के लिये विधायन नहीं किया है।

संसद का अभिप्राय हिंदू विवाह को संहिता बद्ध करना था और इस संबंध में हिंदू विवाह और तत्संबद्ध बातों पर ही एकमात्र विचार किया गया है। अतः संसद ने सोचा कि दांपत्य अधिकार की पुनर्स्थापना, विवाह की प्रभावशून्यता आदि गंभीर विषयों पर निर्णय देने

का काम कनिष्ठ (जूनियर) अधिकारियों को न सौंपा जाय। जिला न्यायालय में प्रार्थनापत्र देने का विधान इसीलिए है। विद्वान् वकील के कथन से मैं सहमत हूँ कि इसमें ऐसे स्पष्ट शब्द नहीं हैं जिनसे पता चले कि व्यवहार न्यायाधीश और मुंसिफ का अधिक्षेत्र (जुरिस्डिक्शन) ले लिया गया है फिर भी अधिनियम की योजना से यह प्रकट होता है कि एकमात्र जिला न्यायालय को ही इस मामले की सुनवाई का अधिकार है। एकमात्र जिला न्यायालय को दांपत्य अधिकार की पुनर्स्थापना, न्यायिक पार्थक्य, विवाह शून्यता और विवाह विच्छेद के मामलों की सुनवाई का अधिकार है। ध्वनितार्थ से मुंसिफ को दांपत्य अधिकार की पुनर्स्थापना के मामले की सुनवाई का अधिकार नहीं होता।

वादपत्र में दो सहायता के लिये प्रार्थना की गई है। एक तो दांपत्य अधिकार की पुनर्स्थापना के लिये है और दूसरी है कि प्रतिवादी सं० २ और ३ को मना किया जाय कि प्रतिवादी सं० १ को वादी के घर आने से रोकें न। कहा गया है कि पहली सहायता तो धारा ९ के अंतर्गत आती है इसलिए मुंसिफ को इसकी सुनवाई का अधिकार नहीं है किंतु दूसरी प्रार्थना के संबंध में मुंसिफ को अधिकार है। ऐसी बात नहीं है। धारा ९ का अर्थ यह नहीं है कि तदंतर्गत पति केवल पत्नी के ही विरुद्ध प्रार्थनापत्र दे सकता है—प्रतिवादी सं० २ और ३ के विरुद्ध भी प्रार्थना कर सकता है कि उन्हें मना किया जाय कि उसकी पत्नी को आने से रोकें न। वादपत्र की दूसरी सहायता पहली की प्रासंगिक (इंसिडेंटल) है। वादी को अधिकार है कि इन दो सहायता (रिलीफ्स) को मिला कर धारा ९ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र निवेशित करे।

यदि ऐसा प्रार्थनापत्र निवेशित किया गया है तो जिला न्यायालय को दोनों सहायता प्रदान करने का अधिकार है। दोनों सहायताएँ (रिलीफ्स) धारा ९ के अंतर्गत आती हैं इसलिए मुंसिफ को दूसरी सहायता के संबंध में भी सुनवाई का अधिकार नहीं है।

चूँकि मुंसिफ को मुकदमे की सुनवाई का अधिकार नहीं है इसलिए प्रतिषेध लेख (रिट आफ प्राहिबिशन) जारी किया जा सकता है। अधिक्षेत्र का प्रश्न कठिनाई से खाली नहीं है इसलिए उभयपक्ष अपने अपने परिव्यय को सहन करें।

प्रार्थनापत्र स्वीकार किया जाता है। विद्वान् मुंसिफ के न्यायालय की उपर्युक्त कार्यवाही अभिखंडित की जाती है। उभयपक्ष अपने अपने परिव्यय को सहन करेंगे।

प्रार्थनापत्र स्वीकृत

विधि पत्रिका, वर्ष ३ (१८८०) १९५८
इला० उच्च न्यायालय ६

मुख्य न्यायाधिपति ओ० एच० मूथम और न्यायमूर्ति ए० पी० श्रीवास्तव

देवकीनंदन — प्रार्थी

वि०

उ० प्र० राज्य तथा अन्य — विपक्षीगण

सर्वोच्च न्यायालय अपील सं० १०४।१९५७ दिनांक १२-५-१९५८

भारतीय संविधान अनुच्छेद १३३ (१) "ठीक नीचे का न्यायालय"—उच्च न्यायालय के अतिरिक्त कोई दूसरा न्यायालय होना चाहिए

मुख्य न्यायाधिपति ओ० एच० मूथम—

इस न्यायालय के अपील के न्यायासन ने आरंभिक पक्ष (ओरिजिनल साइड) के न्यायालय के आदेश के विरुद्ध निवेशित की गई एक अपील को उत्सर्जित कर दिया था। इसमें भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६ के अंतर्गत निवेशित किए गए एक प्रार्थनापत्र को उत्सर्जित कर दिया गया था। यह मान्य है कि इस न्यायालय के आदेश द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष से २०००० रुपए से अधिक मूल्य की संपत्ति प्रभावित है इसलिए प्रार्थी का कहना है कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद १३३ (१) के अंतर्गत प्रमाणपत्र प्राप्त करने का हमारा अधिकार है।

प्रार्थी की इस बात का विरोध उत्तरवादी ने किया है कि अपील के पक्ष के न्यायालय ने जब आरंभिक पक्ष (ओरिजिनल साइड) के निर्णय का स्थिरीकरण किया है तो इसके आगे इसको भी प्रमाणित करने की आवश्यकता है कि अपील में मूलभूत विधि का प्रश्न है। उत्तरवादी का कहना है कि इसमें विधि का कोई मूलभूत प्रश्न उठा नहीं है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद १३३ (१) के अनुसार यह स्पष्ट है कि इस प्रकार का प्रमाण कि अपील में विधि का मौलिक प्रश्न है तभी आवश्यक होता है जब कि जिस "निर्णय, डिग्री या अंतिम आदेश के विरुद्ध" अपील निवेशित की जानेवाली है उसके द्वारा ठीक नीचे के न्यायालय के निर्णय का स्थिरीकरण हुआ हो। इसमें जो "निर्णय, डिग्री या अंतिम आदेश" है वह निश्चय ही उच्च न्यायालय का निर्णय, डिग्री या अंतिम आदेश है इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि "ठीक नीचे का न्यायालय" वह न्यायालय है जो उच्च न्यायालय के नीचे है। अतः इस मामले में धारा १३३ (१) के अंतवाले शब्द लागू नहीं होते।

संविधान के अनुच्छेद १३३ (१) का उपबंध व्यवहार प्रक्रिया संहिता की धारा १०९ और ११० से लिया गया है। इस संहिता में यह माना गया है कि अधिनियमों के आधार पर न्यायालयों की उच्चोच्च परंपरा है, जैसे बंगाल, आसाम और आगरा व्यवहार न्यायालय अधिनियम। इस उच्चोच्च परंपरा में उच्च न्यायालय एक न्यायालय है जिसका काम एक न्यायाधीश या कई न्यायाधीशों का न्यायासन करता है। आई० एल० आर० ३६ मद्रास १३८ में स्पष्ट कहा गया है कि उच्च न्यायालय एक है किंतु यह अपील या आरंभिक दोनों अधिक्षेत्रों का प्रयोग करता है।

उच्च न्यायालय की अपील उच्च न्यायालय में ही करने का नियम संहिता में नहीं है किंतु इसके अध्याय या इसकी नियमावली में है और उन अवस्थाओं में जिनमें अपील निवेशित करने की अनुमति दी गई है, सर्वत्र यही कहा गया है कि उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के निर्णय से। ऐसी स्थिति में उच्च न्यायालय जब अपने अपील के अधिक्षेत्र का प्रयोग करता है तो जिस न्यायाधीश का निर्णय अपील में है वह इसके अधीन न्यायालय नहीं है और उनके निर्णय का पुनरीक्षण संहिता की धारा ११५ के अंतर्गत नहीं किया जा सकता (ए० आई० आर० १९१६ कलकत्ता ९७३)

ए० आई० आर० १९१६ कलकत्ता ९७३ में अन्वीक्षा न्यायालय ने तथा नीचे के अपील के न्यायालय ने प्रार्थी के विरुद्ध निर्णय दिया था। उच्च न्यायालय में अपील के न्यायालय के एकाकी न्यायाधीश ने नीचे के अपील के न्यायालय की डिग्री उलट दिया। इस निर्णय के विरुद्ध अध्याय के उपवाक्य १५ के अंतर्गत उच्च न्यायालय में अपील निवेशित की गई और दो न्यायाधीशों के न्यायासन द्वारा एकाकी न्यायाधीश का निर्णय उलट दिया गया। इस प्रसंग में मुख्य न्यायाधिपति ने कहा था कि उच्च न्यायालय के पहले निर्णय द्वारा ठीक नीचे के न्यायालय की डिग्री उलट दी गई थी परंतु यह निर्णय भी इसके बाद निराकृत कर दिया गया और इसका परिणाम हुआ कि उच्च न्यायालय का जो प्रभाव पूर्ण निर्णय था उसके द्वारा ठीक नीचे के न्यायालय के निर्णय का स्थिरीकरण ही किया गया।

इसके पश्चात् लाहौर उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायासन के ए० आई० आर० १९४४ लाहौर (४५८) के मुकदमें में कहा गया कि उच्च न्यायालय के एकाकी न्यायाधीश जब अपील के न्यायालय के अधिकार का प्रयोग करते हैं और जब वे अकेले बैठकर आरंभिक (ओरिजिनल) अधिक्षेत्र का प्रयोग करते हैं तब इन दोनों अवस्थाओं में अंतर होता है। पहली अवस्था में अर्थात् जब वे अपील के अधिकार का प्रयोग करते हैं तो वह न्यायालय "ठीक नीचे का न्यायालय" (कोर्ट इमेडिएट्ली बीलो) नहीं होता; दूसरी अवस्था में जब वे आरंभिक अधिक्षेत्र का प्रयोग करते हैं तो वह न्यायालय 'ठीक नीचे का न्यायालय' होता है।

न्यायमूर्ति ब्लैकर उपर्युक्त दोनों अवस्थाओं में अंतर नहीं समझते थे और ए० आई० आर० १९१६

कलकत्ता ६७३ के ही सिद्धांत को मानते किंतु आई० एल० आर० २३ कलकत्ता ६१८ में प्रिवी कौंसिल ने निर्णय दिया था कि वे न्यायाधीश जो अकेले बैठते हैं और जब वे अपील के न्यायासन के अधिकार का प्रयोग करते हैं तो ये दो विभिन्न न्यायालय होते हैं। ४५ कलकत्ता वीक्ली नोट्स १००२ में कहा गया था कि आरंभिक पक्ष में अकेले बैठे हुए न्यायाधीश का न्यायालय अपील के न्यायासन के नीचे का न्यायालय होता है। किंतु इस मामले में १६१६ कलकत्ता ६७३ की रुलिंग नहीं दिखलाई गई थी।

आई० एल० आर० २३ कलकत्ता ६१८ में प्रिवी कौंसिल में कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील की गई थी जिसमें उच्च न्यायालय के आरंभिक पक्ष के एकाकी न्यायाधीश के निर्णय का स्थिरीकरण हुआ था। किस आधार पर प्रिवी कौंसिल में अपील करने की अनुमति प्रदान की गई थी यह प्रतिवेदन (रिपोर्ट) से मालूम नहीं होता परंतु लार्ड डेवी ने निर्णय देते समय कहा था कि "उच्च न्यायालय के निर्णय पर विधि का··· कोई प्रश्न नहीं उठता है और नीचे के दोनों न्यायालयों के समक्ष जो···साक्ष्य दिए गए उनके आधार पर दोनों न्यायालय एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। ऐसी बात है इसलिए यह अपील नहीं ली (एंटरटेंड) जा सकती।"

इसमें हम समझते हैं कि "नहीं ली जा सकती" का तात्पर्य स्वीकृत (अलाऊ) होने से है।

इसी निर्णय के आधार पर न्यायमूर्ति ब्लेकर ने ए० आई० आर० १६४४ लाहौर ४१८ में कहा था कि प्रिवी कौंसिल के इस निर्णय ने यह निश्चित कर दिया है कि उच्च न्यायालय के आरंभिक पक्ष के एकाकी न्यायाधीश का न्यायालय उसी उच्च न्यायालय के अपील के न्यायालय से भिन्न और अलग न्यायालय होता है और पहला न्यायालय दूसरे से ठीक नीचे का होता है। अत्यंत संमान के साथ हम सोचते हैं कि विद्वान न्यायाधीश ने, प्रिवी कौंसिल के निर्णय का जो अभिप्राय है, उससे अधिक अर्थ लगाया है। उद्धृत परिच्छेद से केवल इतना ही प्रकट होता है कि अन्वीक्षा न्यायालय और अपील के न्यायासन के निर्णय एक समान थे।

हमारे विचार से ए० आई० आर० १६१६ कलकत्ता ६७३ में व्यक्त किया हुआ विचार सही है और आरंभिक अधिक्षेत्र (ओरिजिनल जुरिडिक्शन) का प्रयोग करते हुए एकाकी न्यायाधीश के न्यायालय और अपील के न्यायासन के न्यायालय में कोई अंतर नहीं है; दोनों अवस्थाओं में वे वही काम करते हैं जो उच्च न्यायालय को सौंपा गया है।

यह तर्क मन में नहीं बैठता कि उच्च न्यायालय एक न्यायालय नहीं है। अतः संविधान के अनुच्छेद १३३ (१) में प्रयुक्त "ठीक नीचे का न्यायालय" (कोर्ट इमेडिएट्ली बिलो) उच्च न्यायालय न होकर कोई अन्य न्यायालय होना चाहिए। इस प्रकार हमारा निष्कर्ष है कि उपर्युक्त अनुच्छेद के अंतर्गत प्रार्थी को प्रमाणपत्र प्राप्त करने का अधिकार है तथा उसके साथ इस अतिरिक्त प्रमाणपत्र की आश्यकता नहीं है कि इसमें विधि का मौलिक प्रश्न है। तदनुसार आवश्यक प्रमाणपत्र जारी किया जाय।

आदेश तदनुसार

विधि पत्रिका, वर्ष ३ (१८८०) १६५८

इला० उच्च न्यायालय ८

न्यायमूर्ति ए० पी० श्रीवास्तव

राम नंदन तथा अन्य — प्रार्थीगण

वि०

राज्य — विपक्षी

वाराणसी के द्वितीय अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश के आदेश दिनांक २०-६-५७ के आपराधिक पुनरीक्षण सं० १७२७।१६५७, दिनांक २०-२६-१६५८

दंड प्रक्रिया संहिता (१८९८), धारा ४०३, २६०, ५३० उपवाक्य (जी०) – समर्थ अधिक्षेत्र (कंपीटेंट जुरिडिक्शन) का न्यायालय अपराध की

अन्वीक्षा नियमित ढंग पर होनी चाहिए थी किंतु सरसरी तौर पर हुई और अभियुक्त छोड़ दिया गया—उसी अपराध के लिये पुनः अन्वीक्षा (ट्रायल) में रुकावट नहीं है।

आदेश—

इस पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र में विधि का एक महत्व-पूर्ण प्रश्न है जिसपर कोई रूलिंग सीधे नहीं है। रामनंदन, छेदी और संकठा सिंह की अन्वीक्षा प्रथम श्रेणी के मजि-स्ट्रेट ने की। यह अन्वीक्षा आवश्यक पदार्थ अधिनियम (एशंसल कमोडिटीज़ ऐक्ट) के अंतर्गत उ० प्र० कोयला नियंत्रण आदेश १६५५ की धारा २ के उल्लंघन करने के संबंध में थी। अन्वीक्षा (ट्रायल) सरसरी तौर पर हुई थी।

अन्वीक्षा जब समाप्त हो गई तब अभियुक्तों की ओर से बतलाया गया कि सरसरी तौर पर अन्वीक्षा अनुमित नहीं है। मजिस्ट्रेट ने इस तर्क को मान लिया किंतु उन्होंने कहा कि अब इस अवस्था में कार्यवाही पुनः आरंभ करके नियमित रूप से अभियुक्तों की अन्वीक्षा नहीं की जा सकती इसलिए उन्होंने अभियुक्तों को छोड़ दिया। इसके बाद इसी अपराध के लिये अभियुक्तों की चालान फिर की गई और इस बार उनकी अन्वीक्षा नियमित ढंग पर होने को हुई।

अभियुक्तों की ओर से आपत्ति उठाई गई कि चूँकि उसी अपराध के संबंध में वे पहले छोड़ दिए गए हैं इसलिए द० प्र० संहिता की धारा ४०३ के अनुसार पुनः अभियोजन नहीं हो सकता। मजिस्ट्रेट ने इस आपत्ति को नहीं माना। उन्होंने सत्र न्यायाधीश के यहाँ पुन-रीक्षण किया और उन्होंने भी विद्वान् मजिस्ट्रेट की बात मान ली और हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया। वे अब इस न्यायालय में पुनरीक्षण में आए हैं और उनका कहना है कि दं० प्र० संहिता की धारा ४०३ के अनुसार दूसरी बार उनकी अन्वीक्षा नहीं हो सकती।

दं० प्र० संहिता की धारा ४०३ के अनुसार दूसरी बार अन्वीक्षा नहीं की जा सकती। इसके लिये प्रमाणित करना पड़ता है कि पहले समर्थ न्यायालय द्वारा उनकी अन्वीक्षा हुई थी और छोड़ दिए गए थे। प्रार्थी के विद्वान् वकील का कहना है कि पहले जिस मजिस्ट्रेट ने अन्वीक्षा की थी वह समर्थ न्यायालय की अन्वीक्षा थी और मजिस्ट्रेट ने यदि सरसरी तौर पर अन्वीक्षा की तो यह केवल प्रक्रिया (प्रोसीजर) की अनियमितता है और केवल इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि मजिस्ट्रेट का न्यायालय समर्थ न्यायालय (कंपीटेंट कोर्ट) नहीं था। प्रार्थी का कहना है कि ऐसे समर्थ न्यायालय ने जब अभियुक्तों को एक बार छोड़ दिया तो पुनः अन्वीक्षा में धारा ४०३ बाधक है।

इस मामले की परिस्थिति पर कोई रूलिंग सीधे नहीं हुई है। सत्र न्यायाधीश के समक्ष ए० आई० आर० १६२३ इलाहाबाद ३६० पर निर्भर किया गया था किंतु यहाँ उसे नहीं दिखलाया गया क्योंकि इसमें वह लागू नहीं होती। उस रूलिंग में परिस्थिति यह थी कि परि-वादी (कंप्लेनेंट) उपस्थित नहीं था इसलिए अभियुक्तों को छोड़ दिया गया। परिवादी ने जब दूसरा परिवाद (कंप्लेंट) निवेशित किया तो निर्णय हुआ कि यह परि-वाद नहीं लिया जा सकता।

विद्वान् सत्र न्यायाधीश ने इस बात के समर्थन में कि पहले के न्यायालय को अधिक्षेत्र नहीं था ए० आई० आर० १६४८ बंबई १५३ पर निर्भर किया। ऐसी कई रूलिंग्स हो चुकी है कि जिस अपराध की अन्वीक्षा के लिये संमोदन (सैंक्शन) की आवश्यकता है और बिना संमोदन लिए ही अन्वीक्षा की गई और अभियुक्त को छोड़ दिया गया तो उसकी अन्वीक्षा पुनः हो सकती है। ए० आई० आर० १६५७ सर्वोच्च न्यायालय ४६४ में यह सिद्धांत अंतिम रूप से निश्चित हो चुका है—प्रश्न अब यही रह जाता है जिस सिद्धांत पर उपर्युक्त मामलों का निर्णय हुआ था उसकी व्याप्ति में वर्तमान मामला आ सकता है कि नहीं।

प्रार्थी के विद्वान् वकील ने उन रूलिंग्स और इस मुकदमे की परिस्थिति में अंतर दिखलाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि संमोदन न रहने से उन अव-

स्थाओं में न्यायालय के अधिक्षेत्र (जुरिडिक्शन) पर प्रभाव पड़ा किंतु यह बात कि मजिस्ट्रेट ने अन्वीक्षा नियमित ढंग पर किया या सरसरी तौर पर, केवल प्रक्रिया (प्रोसीजर) की अनियमितता है और इसका प्रभाव मजिस्ट्रेट के अधिक्षेत्र के मूल पर नहीं पड़ता।

यह कथन मान्य नहीं हो सकता। जिन मामलों में मजिस्ट्रेट को यह अधिकार दिया गया है कि चाहें तो वे सरसरी तौर पर अन्वीक्षा करें या चाहें तो नियमित ढंग पर वे स्पष्ट रूप से दं० प्र० संहिता की धारा २६० में गिना दिए गए हैं। उसके अतिरिक्त मजिस्ट्रेट को अधिकार नहीं है। इससे यही आता है कि जो अपराध उस धारा में नहीं दिए गए हैं उसके बारे में सरसरी तौर पर अन्वीक्षा करने का अधिकार मजिस्ट्रेट को नहीं है। ऐसी अन्वीक्षा बिना अधिक्षेत्र की समझी जानी चाहिए।

आवश्यक पदार्थ अधिनियम में पहले था कि यदि सरकार की ओर से प्रार्थना की जाय कि अन्वीक्षा सरसरी तौर पर हो, तो हो सकती है किंतु अब यह उपबंध भी हटा दिया गया है।

यह अपराध दं० प्र० संहिता की धारा २६० के अंतर्गत नहीं आता और धारा ५३० दं० प्र० संहिता के देखने से प्रतीत होता है सरसरी तौर पर की गई यह अन्वीक्षा ऐसी अनियमितता है जो ठीक नहीं की जा सकती। यह केवल प्रक्रिया संबंधी गलती नहीं है वरन् यह अधिक्षेत्र के मूल पर प्रभाव डालनेवाली है।

अतः हमारा निष्कर्ष है कि नीचे के न्यायालयों का निर्णय ठीक था कि वर्तमान प्रार्थियों की पहलेवाली अन्वीक्षा समर्थ अधिक्षेत्र के न्यायालय द्वारा नहीं हुई थी इसलिए इस न्यायालय द्वारा अभियुक्त जो छोड़ दिए गए थे उससे उसी अपराध के लिये उनकी नवीन अन्वीक्षा में कोई बाधा नहीं है।

पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र में बल नहीं है इसलिए अस्वीकृत होता है। स्थगित करनेवाला आदेश हटा लिया जाता है।

प्रार्थनापत्र उत्सर्जित

विधि पत्रिका, वर्ष ३ (१८८०) १६५८
इलाहाबाद उच्च न्यायालय १०

एम० एल० चतुर्वेदी तथा डी० एन० राय न्यायमूर्तिगण

रघुवीर प्रार्थी

विरुद्ध

राजस्व मंडल उ०प्र० इलाहाबाद तथा अन्य विपक्षीगण

व्यवहार प्रकीर्णक लेख सं० १६३८।१६५८

दिनांक ६–५–१६५८

अ—उ० प्र० जमींदारी विनाश तथा भूमि सुधार अधिनियम १. १६५१—धारा ३३१ और ३४१–धारा ३३१ (४) के अंतर्गत द्वितीय अपील—व्यवहार प्रक्रिया संहिता धारा १००

ब—भारतीय संविधान अनुच्छेद २२६ और २२७—विधि (ला) और तथ्य (फैक्ट) के मिश्रित प्रश्न के बारे में नया अभिकथन– यदि ऐसा अभिकथन नीचे के न्यायालय में नहीं उठाया गया है तो अनुच्छेद २२६ और २२७ के अंतर्गत की कार्यवाही में इसे नहीं उठाया जा सकता

न्यायमूर्ति एम० एल० चतुर्वेदी—

भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६ और २२७ के अंतर्गत यह प्रार्थनापत्र निवेशित किया गया है। इसमें प्रार्थना की गई है कि अतिरिक्त आयुक्त का दिनांक २६–११–१६५७ का और राजस्व मंडल का दिनांक १५–४–१६५८ का निर्णय अभिखंडित किया जाय। प्रार्थना है कि न्यायिक अधिकारी (जुडिशियल आफिसर) का भी निर्णय इसी प्रकार अभिखंडित किया जाय।

प्रार्थी ने उ० प्र० जमींदारी विनाश तथा भूमि सुधार अधिनियम की धा० १७६, २२६ सी० और २०६ के अंतर्गत वाद निवेशित किया था। उसकी प्रार्थना थी कि उसे चतुर्थ उत्तरवादी के साथ विवादग्रस्त खेतों का सहकृषक (कोटेनेंट) घोषित किया जाय और यदि आवश्यक हो तो उसे अपने हिस्से के खेत का धारण (पोजेशन) दिला दिया जाय। इसके विवरण के बारे

में प्रार्थी का कहना था कि पहले मैं इन खेतों के कृषक श्रीराम के साथ सहकृषक हो गया और इसके बाद उत्तरवादी संख्या ४ के साथ मैं सहकृषक हुआ। राजस्व (रेवेन्यू) के तीनों न्यायालयों ने निर्णय दिया कि प्रार्थी सहायता (रिलीफ) नहीं पा सकता।

आयुक्त (कमिश्नर) ने स्पष्ट रूप से कहा है कि १९५० में प्रार्थी और उत्तरवादी सं० ४ में समझौता हुआ और उस समझौता के अनुसार प्रार्थी ने इन खेतों से संबंधित अपने समस्त अधिकार को छोड़ दिया और इसलिए तभी से उत्तरवादी सं० ४ उन खेतों का एक मात्र कृषक (सोल टेनेंट) रह गया है।

प्रार्थी के विद्वान् वकील ने बहस की है कि राजस्व मंडल ने यह समझकर कि द्वितीय अपील का न्यायालय होने के कारण वह तथ्य के प्रश्न पर विद्वान् अतिरिक्त आयुक्त का निष्कर्ष मानने के लिये बाध्य है जो उसने दिए हुए साक्ष्यों पर विचार नहीं किया है वह गलत है। विद्वान् वकील के कथन का अर्थ दूसरे शब्दों में यह है कि व्यवहार प्रक्रिया संहिता की धारा १०० का उपबंध इसमें लागू नहीं होता। उनका कहना है कि यह द्वितीय अपील उ० प्र० जमींदारी विनाश अधिनियम के अंतर्गत निवेशित की गई है इसलिए इसमें एकमात्र धारा ३३१ ही लागू हो सकती है। यह बात मानी नहीं जा सकती क्योंकि धारा ३४१ में है कि यदि इस अधिनियम द्वारा या इसके अंतर्गत स्पष्ट रूप से कोई अन्य बात नहीं कही गई है तो इस अधिनियम के अंतर्गत कार्यवाही में व्यवहार प्रक्रिया संहिता के उपबंध लागू होंगे।

धारा ३३१ (४) में केवल इतना ही दिया हुआ है कि किन किन परिस्थितियों में द्वितीय अपील निवेशित की जा सकती है, इसके आगे इसमें कुछ नहीं है। धारा १०० का कहना है कि अपील में पारित की गई समस्त डिग्रियों के विरुद्ध द्वितीय अपील निवेशित की जा सकती है। इसके लिये केवल यही कहा जा सकता है कि केवल इस सीमा तक व्य० प्र० सं० की धारा १०० का उपर्युक्त अंश धारा ३३१ (४) के स्पष्ट उपबंधों द्वारा संशोधित है। व्य० प्र० संहिता की धारा १०० में जो यह दिया हुआ है कि किन किन आधारों पर द्वितीय अपील की जा सकती है वह उपबंध इस द्वितीय अपील में भी लागू होगा। जमींदारी विनाश अधिनियम की धारा ३३१ के अंतर्गत इस विषय पर कोई उपबंध नहीं है इसलिए जमींदारी विनाश अधिनियम की धारा ३४१ के अनुसार व्यवहार प्रक्रिया संहिता की धारा १०० का उपर्युक्त अंश इसमें लागू होता है। इसका परिणाम यह होता है कि राजस्व मंडल द्वितीय अपील की सुनवाई केवल धारा १०० में दिए हुए आधारों पर ही कर सकता है। राजस्व मंडल के नीचे का न्यायालय जिस तथ्य के निष्कर्ष पर पहुँचा है उस निष्कर्ष की सत्यता पर राजस्व मंडल विचार नहीं कर सकता।

दूसरा प्रश्न यह है कि जिस संविद् (अग्रीमेंट) के बारे में कहा जाता है कि उसके द्वारा प्रार्थी ने अपना अधिकार छोड़ दिया था उसकी रजिस्ट्री नहीं हुई है और रजिस्टर्ड न होने से वह साक्ष्य में प्रतिग्राह्य (ऐडमिसिबुल) नहीं है। प्रथम न्यायालय का विचार यही था पर अतिरिक्त आयुक्त और राजस्व मंडल ने इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया।

इसका कारण यह था कि भूधारण संविदा (कंट्रैक्ट फार टेनेंसी) की रजिस्ट्री भूधारण अधिनियम के अंतर्गत भी उस समय हो सकती थी। ऐसी रजिस्ट्री कानूनगो के समक्ष होती थी। सब रजिस्ट्रार के समक्ष इसकी रजिस्ट्री नहीं हुई थी केवल इसी से यह नहीं कहा जा सकता कि साक्ष्य में वह प्रतिग्राह्य नहीं है। प्रार्थी ने पहले कभी यह प्रश्न नहीं उठाया कि यह संविद् (अग्रीमेंट) भूधारण अधिनियम के अंतर्गत रजिस्टर्ड है कि नहीं।

प्रार्थी की इस बहस को यदि मान लिया जाय तो अन्वीक्षा (ट्रायल) न्यायालय में फिर से इस बात पर साक्ष्य लेने के लिये इसे लौटाने की आवश्यकता पड़ेगी कि कानून गो के समक्ष इसकी रजिस्ट्री हुई थी कि नहीं। प्रार्थी का यह प्रश्न विधि और तथ्य का मिश्रित प्रश्न है इसलिए संविधान के अनुच्छेद २२६ और २२७ के अंतर्गत कार्यवाही में इस प्रश्न को उठाने का अधिकार नहीं है।

इस प्रार्थनापत्र में बल नहीं है। तद्नुसार यह अस्वीकृत होता है।

—प्रार्थनापत्र अस्वीकृत

———

विधि पत्रिका, वर्ष ३ (१९८०) १९५८
इलाहाबाद उच्च न्यायालय १२

न्यायमूर्ति वी० जी० ओक

मुनेश्वरानंद त्यागी — प्रार्थी
वि०
उ० प्र० राज्य तथा अन्य — विपक्षीगण

आपराधिक लेख सं० ८२६।१९५७ दिनांक २२-४-१९५८।

अ—भारतीय संविधान अनुच्छेद २२६-सत्र न्यायाधीश के समक्ष कार्यवाही चल रही है इसलिए इन्हें भी पक्ष बनाना चाहिए।

ब – दं० प्र० संहिता (१८९८) धारा ९८-बी० और १९८ का क्षेत्र और उद्देश्य—वैधता—युक्तिसंगत वर्गीकरण—भारतीय संविधान अ० १४ – (दंड संहिता १८६०) धा० ४९९-५००)

आदेश—

भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६ के अंतर्गत इस प्रार्थनापत्र में दं० प्रक्रिया संहिता की धारा १९८ बी० की वैधता पर प्रश्न उठाया गया है। मुनेश्वरानंद त्यागी इसमें प्रार्थी हैं।

शपथपत्र से पता चलता है कि प्रार्थी बिजनौर से प्रकाशित होनेवाली 'चिनगारी' साप्ताहिक पत्रिका का मुद्रक, प्रकाशक और संपादक है। १२-३-५६ के अंक में एक लेख निकला था जिसमें अधिकारियों के स्थानांतरण के संबंध में सरकार की नीति पर टीका टिप्पणी की गई थी। अधिकारियों ने सोचा कि इस लेख द्वारा रामलाल नामक स्वास्थ्य के एक बड़े अधिकारी की मानहानि हुई है। जन अभियोजक (पब्लिक प्रासिक्यूटर) ने प्रार्थी के विरुद्ध एक परिवाद (कंप्लेंट) निवेशित किया कि प्रार्थी ने दंड संहिता की धारा ५०० के अंतर्गत मानहानि का अपराध किया है। प्रार्थी का कहना है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा १९८ बी० असंवैधानिक है और इसलिए प्रार्थी के विरुद्ध की कार्यवाही अवैध है। विद्वान् सत्र न्यायाधीश ने इस बात को नहीं माना। अतः प्रार्थी ने इस लेख प्रार्थनापत्र द्वारा कार्यवाही को अभिखंडित करने की प्रार्थना की है।

इस संबंध में एक बात पर ध्यान देना है कि मामला बिजनौर के सत्र न्यायाधीश के समक्ष चल रहा है परंतु सत्र न्यायाधीश को पक्ष नहीं बनाया गया है। इस लेख प्रार्थनापत्र में बिजनौर के सत्र न्यायाधीश को पक्ष बनाना चाहिए था।

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा १९८ में जिस नियम का विधायन किया गया है धारा १९८ बी० उसके अपवाद स्वरूप है। जब कहा जाता है कि किसी लोकसेवक (पब्लिक सर्वेंट) की मानहानि हुई है तो उस दशा में धारा १९८ बी० के अनुसार जिस लोकसेवक की मानहानि हुई है उसके द्वारा परिवाद (कंप्लेंट) निवेशित न किए जाने पर भी मानहानि के लिये मुकदमा चलाया जा सकता है। प्रार्थी का कहना है कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद १४ द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को विधि (ला) का समान संरक्षण दिया जाना चाहिए परंतु धारा १९८ बी० द्वारा समान संरक्षण न देकर विभेदकरण किया जाता है इसलिए यह धारा संविधान विरुद्ध है।

न्यायालयों ने यह माना है कि युक्तिसंगत वर्गीकरण द्वारा भारतीय संविधान के अनुच्छेद १४ का उल्लंघन नहीं होता। धारा १९८ बी० द्वारा लोकसेवकों को कुछ विशेष संरक्षण दिया जाता है और यह संरक्षण केवल तब दिया जाता है जब कि वे लोकसेवा संबंधी कार्य कर रहे हों। ऐसे लोकसेवक लोकसेवा संबंधी आवश्यक कार्य करते हैं। मानहानि का मुकदमा महीनों चलता रहता है और यदि लोकसेवक को मानहानि के लिये परिवाद निवेशित करने का नियम हो तो इस नियम से लोक-

सेवा में बहुत बाधा पड़ेगी। इसी सिद्धांत पर लोकसेवकों को धारा १९८ बी० द्वारा विशेष संरक्षण प्रदान किया जाता है। अतः इस संबंध में जो वर्गीकरण है वह युक्ति-संगत है। यह वर्गीकरण जाति और धर्म आदि पर आधारित नहीं है। धारा १९८ बी० का जो सिद्धांत है वह इतना ही है कि लोकसेवक का समय मुकदमेबाजी में नष्ट न हो।

साधारणतया मानहानि के मुकदमें की सुनवाई मजिस्ट्रेट अधिपत्र वाद (वारंट केस) के रूप में करते हैं। धारा १९८ बी० के अंतर्गत के मुकदमे की सुनवाई सत्र न्यायाधीश अधिपत्रवाद की तरह करते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में प्रक्रिया (प्रोसीजर) एक ही है। ऐसे अभियुक्त की स्थिति उस अभियुक्त से बुरी नहीं है जिसके मुकदमे की सुनवाई साधारण मानहानि के मुकदमे के ढंग पर होती है। इसलिए धारा १९८ बी० में दी गई प्रक्रिया विशेष द्वारा अभियुक्त को कोई कठिनाई नहीं है।

दं० प्र० संहिता की धारा १९८ बी० भारतीय संवि-धान के अनुच्छेद १४ का उल्लंघन नहीं करती। प्रश्नगत् उपबंध वैध है। प्रार्थी की अन्वीक्षा में आगे की कार्य-वाही जारी रहनी चाहिए।

प्रार्थनापत्र परिव्यय के साथ उत्सर्जित किया जाता है। दिनांक १५-४-१९५७ का स्थगित करनेवाला आदेश हटा लिया जाता है।

प्रार्थनापत्र उत्सर्जित

विधि पत्रिका, वर्ष ३ (१८८०) १९५८

इलाहाबाद उच्च न्यायालय १३

न्यायमूर्ति वी० डी० भार्गव

सत्यनारायण पांडे — वादी अपीलकर्ता

वि०

ध्रुव नारायण — प्रतिवादी उत्तरवादी

बस्ती के जिला न्यायाधीश की डिग्री दिनांक १४-१०-१९५० के विरुद्ध द्वितीय अपील संख्या १६६।१९५१ दिनांक २१-३-१९५८

अ -व्यवहार प्रक्रिया संहिता (१९०८), धारा ९६ (३) और आ० २३-नि० ३—कुछ अभिकथनों को छोड़ देने पर केवल एक वादपद (ईशू) के निर्णय द्वारा डिग्री पारित की गई—ऐसी डिग्री की प्रकृति—अपील

ब—व्य० प्र० संहिता (१९०८) धारा १०० और १०१—नीचे के अपील के न्यायालय द्वारा तथ्य के प्रश्न के निर्णय का बंधन द्वितीय अपील में होता है

स—साक्ष्य अधिनियम (१८७२) धा० १०१ से १०४ जब दोनों पक्ष साक्ष्य उपस्थित करते हों तो प्रमाण के भार का महत्व समाप्त हो जाता है—

द हिंदू विधि—संयुक्त परिवार—संयुक्तता की अभिधारणा—(साक्ष्य अधिनियम (१८७२) धारा ११४)

निर्णय—

वादी ने कुछ जमींदारी संपत्ति के संबंध में घोषणा के लिये एक वाद निवेशित किया था और विकल्पतः उसकी प्रार्थना थी कि धारण (पोजेशन) भी दिला दिया जाय।

वादपत्र (प्लेंट) के अनुसार वादी का पिता बेनी प्रसाद और जमुना प्रसाद पांडे सगे भाई थे और एक में रहते थे। जमुना प्रसाद की मृत्यु २३-११-१९४२ को हुई उनकी एक विधवा श्रीमती रामराजी प्रतिवादी सं० २ और एक लड़की छबिराजी प्रतिवादी सं० १ जीवित बची थीं पर बाद में उन दोनों की भी मृत्यु हो गई। छबिराजी का दत्तक पुत्र इस मुकदमे में उत्तरवादी है।

वादी का कहना है कि हिंदू स्त्रियों के संपत्ति के अधिकार अधिनियम के अंतर्गत विधवा को केवल सीमित संपदा का अधिकार था किंतु उसने इसे ३१-१-४४ को एक विलेख द्वारा हमारे पक्ष में अध्यर्पण (सरेंडर) कर दिया और इस प्रकार हम उसके पूर्ण स्वामी हो गए और

इसलिए हमें इस घोषणा का अधिकार है और यदि हमारा धारण न पाया जाय तो धारण दिला दिया जाय।

अध्यर्पण (सरेंडर) होने के बाद प्रार्थी ने अपने पक्ष में दाखिल खारिज कराने के लिये प्रार्थनापत्र दिया किंतु इसमें जब छविराजी प्रतिवादी सं० १ ने आपत्ति कर दी तो नाम नहीं चढ़ा और इस प्रकार इस वाद को निवेशित करने की आवश्यकता पड़ी। प्रतिवादी सं० १ ने इनकार किया कि रामराजी के पति जमुनाप्रसाद एक में रहते थे। उसने अध्यर्पण करनेवाली बात से भी इनकार किया। उसने यह भी कहा कि जमुना प्रसाद की विधवा रामराजी नहीं है और उसकी स्त्री पहले ही मर चुकी थी। प्रतिवादी सं० १ ने कहा कि रामराजी द्वारा जिस अध्यर्पण विलेख का लिखा जाना कहा जाता है उसका बंधन हम पर नहीं है और वह एक फर्जी व्यवहार था।

अभिवचन (प्लीडिंग्स) के आधार पर कई वाद पद बने थे किंतु दोनों पक्षों के वकीलों ने बयान दिया कि इसमें केवल वाद पद सं० १ पर निर्णय दिया जाय और वह यदि वादी के पक्ष में हो तो अन्य वादपदों का निर्णय दिए बिना ही वादी के पक्ष में डिग्री दी जाय और यदि उसके विरुद्ध निर्णय हो तो वादी का वाद उत्सर्जित किया जाय।

वाद पद (ईशू) सं० १ इस प्रकार था—१६४३ में जब जमुना प्रसाद की मृत्यु हुई थी उस समय क्या वे हिंदू अविभक्त परिवार के सदस्य थे ?

अन्वीक्षा (ट्रायल) न्यायालय साक्ष्यों के परीक्षण करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जमुना प्रसाद एक में रहते थे और इस प्रकार इस वाद पद का निर्णय वादी के पक्ष में दिया और वाद में डिग्री दे दी गई। इसके विरुद्ध अपील करने पर निर्णय हुआ कि जमुना-प्रसाद अलग रहते थे और इसलिए वाद उत्सर्जित कर दिया गया। इसी निर्णय के विरुद्ध वादी ने इस न्याया-लय में अपील निवेशित किया है।

विद्वान् वकील ने बहस में कहा है कि अन्वीक्षा (ट्रायल) न्यायालय ने जो डिग्री पारित की है वह संमति डिग्री (कंसेंट डिग्री) है इसलिए उसके विरुद्ध अपील नहीं हो सकती थी और इस प्रकार अपील के न्यायालय ने जो डिग्री पारित की है वह बिना अधिक्षेत्र का है। यह बात न तो नीचे के अपील के न्यायालय में कही गई है और न तो इस न्यायालय में अपील करते समय अपील के आधारों में कही गई है। अपील के कुल १६ आधार हैं पर इस बात की कहीं चर्चा नहीं है। कुछ भी हो मैं सोचता हूँ कि इस बहस में बल नहीं है।

विद्वान् वकील ने कतिपय प्रमाणों पर निर्भर करते हुए कहा है कि जब कभी न्यायालय किसी प्रक्रिया (प्रोसीजर) विशेष को अपनाता है अथवा निर्णय के लिये जब कोई मामला किसी न्यायालय के समक्ष या किसी व्यक्ति के पास भेजा जाता है तो उस अवस्था में जो निर्णय होता है वह संमति डिग्री होती है और उसके विरुद्ध अपील निवेशित नहीं की जा सकती। मैं मानता हूँ कि यह बात ठीक है। किंतु यहाँ प्रश्न है कि न्याया-लय ने इस मामले में क्या प्रक्रिया विशेष अपनाया था और यदि अपनाया था तो क्या यह प्रक्रिया ऐसी थी कि उसे संमति डिग्री कहा जा सकता है। इस प्रश्न पर विचार प्रत्येक मुकदमे की परिस्थिति को देखते हुए करना चाहिए; कोई एक सामान्य सिद्धांत निर्धारित नहीं किया जा सकता।

ए० आई० आर० १६३६ मद्रास ८५६ में निर्णय हुआ था कि जब कोई पक्ष न्यायालय से किसी ऐसी प्रक्रिया विशेष को अपनाने का अनुरोध करता है जो व्यवहार प्रक्रिया संहिता के उपबंध से परे होता है तो बाद में बदलकर वह यह नहीं कह सकता कि इसके लिये न्यायालय दोषी है कि उसने उस प्रक्रिया को अपनाया। इसमें प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) का सिद्धांत लागू होता है। न्यायालय का निर्णय पंच के पंचनिर्णय के समान होता है और सामान्य नियमानुसार इसके विरुद्ध अपील निवेशित नहीं की जा सकती।

उस मुकदमे में उभय पक्ष राजी हुए कि न्यायालय किसी आयुक्त (कमिश्नर) को भेजे और प्रतिवादी सं० २ जिस कुंजी को देता है उससे यदि दरवाजा खुल

जाता है तो वाद उत्सर्जित कर दिया जाय और यदि नहीं खुलता है तो वाद में डिग्री दे दी जाय। उस मुकदमे का निर्णय केवल इसी एक तथ्य के निश्चय पर निर्भर करता था; तत्व पर निर्णय देने की आवश्यकता नहीं थी। इस मामले में परिस्थिति दूसरी है। इसमें दोनों पक्ष इस बात पर राजी हुए थे कि केवल एक वादपद का निर्णय तत्व (मेरिट) पर किया जाय, मनमाने ढंग पर नहीं। या इसमें यह भी तय नहीं हुआ था कि न्यायालय किसी प्रक्रिया विशेष को अपनावे। इसमें न्यायालय को केवल उसी प्रकार कार्यवाही करनी थी जो वह अन्य मामलों में करता है। जो बात तय हुई थी उससे उत्तरवादी कभी हटा नहीं और साथ ही साथ यह भी है कि तय की हुई शर्त के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह पंच-निर्णय के लिये तय हुआ था। इसलिए न्यायालय का निर्णय पंच के पंचनिर्णय (अवार्ड) के समान भी नहीं है।

अपीलकर्ता के विद्वान् वकील ने एक दूसरी रूलिंग (ए० आई० आर० १९३० इलाहाबाद १२७) दिखलाया है। इसमें दोनों पक्ष राजी हुए थे कि मुंसिफ निरीक्षण करके निर्णय दें। उस निर्णय से ही प्रतीत होता है कि मुंसिफ को निरीक्षण करना अनिवार्य नहीं था। किंतु जब उभयपक्षों ने तय किया था कि मुंसिफ निरीक्षण करके जो निर्णय देंगे वह हमें मान्य होगा तो मुंसिफ की स्थिति पंच (आर्बिट्रेटर) की हो गई और पंच के पंचनिर्णय का जो महत्व होता है वही महत्व मुंसिफ के इस निर्णय को भी प्राप्त है। यहाँ इस मामले में तत्व (मेरिट) का ध्यान न रखते हुए किसी को उस प्रश्न का एकमात्र निर्णायक नियुक्त नहीं किया गया था इसलिए वह सिद्धांत इसमें लागू नहीं होता।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों में मुंसिफ की स्थिति एक प्रकार से पंच की थी और उन्हें निर्णय के लिये साक्ष्यों पर निर्भर नहीं करना था। इस मुकदमे में स्थिति यह थी कि पक्षों ने तय किया कि अन्य वादपदों–(ईशूज) पर निर्णय न देकर केवल एक वादपद के निर्णय के आधार पर पूरे मुकदमे का निर्णय किया जाय। इसमें साक्ष्यों का परीक्षण करना था, यह बात नहीं थी कि किसी व्यक्ति द्वारा मनमाने ढंग पर निर्णय देने की माँग की गई थी।

ए० आई० आर० १९२० प्रिवी कौंसिल १३९ पर भी निर्भर किया गया। इस रुलिंग में भी कुछ वादपदों पर निर्णय देना छोड़ दिया गया था। यहाँ तक तो वह इसके समान था किंतु किस भाँति शेष वादपदों का निर्णय किया जाय यह दोनों मुकदमों में सर्वथा भिन्न था। उपर्युक्त रुलिंग में वादी ने कुछ रुपए के लिये एक वाद निवेशित किया था। यह वाद कालबाधित (टाइमबार्ड) था फिर भी प्रतिवादी ने कहा कि यदि वादी रुपया प्रमाणित कर दे तो मैं सब रुपया दे हूँ। प्रतिवादी ने कालबाधित होने के अभिवचन (प्ली) को छोड़ दिया था। वादी ने जिस धनराशि को प्रमाणित किया उसे प्रतिवादी ने स्वीकार किया और इस प्रकार संमति डिग्री पर जब आपत्ति करना चाहा तो निर्णय हुआ कि ऐसी डिग्री पर पुनः विचार नहीं किया जा सकता। उस रुलिंग में जिस धनराशि के बारे में डिग्री दी जानेवाली थी उसके बारे में संमति (कंसेंट) थी यहाँ इस मामले में डिग्री पारित करने के लिये कोई संमति नहीं दी गई है। संमति डिग्री में जब पक्षों के बीच शर्त तय हो जाती है तो समझौते या संमति की शर्तों के अनुसार डिग्री पारित की जा सकती है।

यहाँ इस मामले में यदि न्यायालय को छान बीन किए बिना ही डिग्री पारित करना हो तो वह संभव नहीं है इसलिए इस डिग्री को संमति डिग्री (कंसेंट डिक्री) कहना ठीक नहीं है। यह डिग्री वह डिग्री है जो कुछ अभिवचनों (प्लीड़) को छोड़ देने के बाद तत्व (मेरिट) और एकमात्र तत्व पर ही पारित की गई है। इसलिए नीचे के न्यायालय में अपील करना ठीक था।

वादपद से स्पष्ट है कि यह प्रश्न तथ्य का प्रश्न है और ऐसे प्रश्न पर नीचे के न्यायालय के निर्णय काबंधन हम पर है पर विद्वान् वकील ने आपत्ति की है कि संयुक्त परिवार रहनेवाली बात के प्रमाण का भार जो वादी पर रखा गया यह गलत था क्योंकि अभिधारणा होती है कि चाचा

और भतीजा एक में रहते हैं और अलग रहने का प्रमाण प्रतिवादी को देना चाहिए था।

यों तो कुछ अंश तक वादी पर इसका भार रखने में न्यायालय की गलती है पर एक तो प्रमाण के भार के प्रश्न पर इसका निर्णय हुआ नहीं वरन् इसका निर्णय उभय-पक्षों द्वारा उपस्थित किए हुए साक्ष्यों के परीक्षण द्वारा हुआ है और उस अवस्था में जब कि दोनों पक्ष साक्ष्य उपस्थित करते हैं और साक्ष्यों के मूल्यांकन के बाद निर्णय दिया जाता है तब प्रमाण के भार (बर्डेन आफ प्रूफ) का महत्त्व समाप्त हो जाता है और दूसरे, चाचा और भतीजा के एक में रहने की जो अभिधारणा (प्रेजंप्शन) आज से २५-३० वर्ष पहले हो सकती थी वह आज नहीं हो सकती क्योंकि अनेक परिस्थितियाँ ऐसी उपस्थित होती जा रही हैं कि संयुक्त परिवार टूटता जा रहा है। इस समय ऐसे संयुक्त परिवार की अभिधारणा (प्रेजंप्शन) को समाप्त करने के लिये बहुत ही कम साक्ष्यों की आवश्यकता है। इसलिए अभिधारणा के आधार पर बहुत अधिक निर्भर नहीं किया जा सकता।

तथ्य का दूसरा निष्कर्ष जिसपर आपत्ति की जा रही है वह है कि अलग रहने के संबंध में प्रतिवादी ने जो साक्ष्य दिया है वह पर्याप्त नहीं है। अलग रहने के संबंध में प्रतिवादी ने पारिस्थितिक, लेख्य संबंधी और मौखिक साक्ष्य दिया है जिस पर विश्वास किया जा सकता है।

नीचे के न्यायालय का यह निष्कर्ष ठीक है कि वे लोग अलग अलग रहते थे। यह तथ्य के प्रश्न का निष्कर्ष है इसलिए इस द्वितीय अपील में हमारे लिये इसे मानना अनिवार्य है। तद्नुसार अपील परिव्यय के साथ उत्सर्जित की जाती है।

विशेष अपील निवेशित करने की अनुमति माँगी गई है किंतु उसे अस्वीकार किया जाता है।

अपील उत्सर्जित

विधि पत्रिका, वर्ष ३ (१८८०) १९५८

इलाहाबाद उच्च न्यायालय १६

न्यायमूर्ति एम० सी० देसाई

आपराधिक पुनरीक्षण सं० १४१६।१९५६

(१७ सितंबर १९५८)

कारे उपनाम काले खाँ — प्रार्थी

वि०

राज्य — विपक्षी

दंड प्रक्रिया संहिता, धा० ११०—इस संदेह पर कि कोई व्यक्ति अभ्यस्त सेंधमार या चोर है उसे पाबंद (बाउंड डाउन) नहीं किया जा सकता।

न्यायमूर्ति देसाई—

प्रार्थी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा ११० के अंतर्गत इस आधार पर पाबंद (बाउंड डाउन) किया गया है कि वह एक अभ्यस्त चोर और सेंधमार है। प्रार्थी के विरुद्ध साक्ष्य देने के लिये दो प्रकार के साक्षी आए हैं। एक तो वे लोग हैं जिन्होंने कहा है कि हमारे घरों में जो चोरी हुई थी उसमें हमारा संदेह है कि प्रार्थी ने चोरी की। दूसरे वे लोग हैं जो या तो प्रार्थी के गाँव के रहनेवाले हैं और पड़ोस के निवासी हैं और इनका बयान है कि प्रार्थी की चालचलन खराब है। प्रार्थी ने सर्वसाधारण के इस विचार संबंधी साक्ष्य से इनकार किया है। प्रार्थी की ओर से प्रतिवाद (डिफेंस) में भी साक्षी आए हैं और इन्होंने साक्ष्य दिया है कि प्रार्थी की चालचलन अच्छी है और वह ताँगा चलाकर जीवन निर्वाह करता है।

पहले प्रकार का साक्ष्य जो संदेह पर हैं अप्रतिग्राह्य (इनऐडमिसिबुल) है। अभियोजन को प्रमाणित यह करना चाहिए कि प्रार्थी अभ्यस्त सेंधमार और चोर है। इसको प्रमाणित करने के लिये यह दिखलाना चाहिए कि प्रार्थी ने इतनी सेंधें मारी हैं या उसने चोरी इस सीमा तक किया है कि उसे अभ्यस्त सेंधमार या चोर कहा जा सकता है अथवा यह प्रमाणित करना चाहिए

विधि पत्रिका (१८८०) १९५८ इला० (राजस्व) १

न्यायमूर्ति एम० एल० चतुर्वेदी

(उच्च न्यायालय)

व्यवहार प्रकीर्णक लेख सं० ३३२।१९५८

२१ मार्च १९५८

साधो सिंह प्रार्थी

वि०

बाबूराम तथा अन्य— उत्तरवादी गण

उ० प्र० पंचायत राज नियमावली—नि० २५ (१) परंतुक (प्राविज़ो) (८)—व्यवहार प्रक्रिया संहिता, १९०८ आ० ४७ नि० १ (सी०)—पुनर्विचार (रेव्यू) प्रार्थनापत्र पर एस० डी० ओ० के पद का उत्तराधिकारी विचार कर सकता है।

न्यायमूर्ति चतुर्वेदी—

एस० डी० ओ० के एक आदेश के संबंध में उत्प्रेषण लेख (रिट आफ सेर्टियोरेरी) और प्रतिषेध लेख (रिट आफ प्राहिबिशन) जारी करने के लिये भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६ के अंतर्गत यह प्रार्थनापत्र निवेशित किया गया है।

थोड़े में मुकदमे के तथ्य इस प्रकार हैं—प्रश्नगत गाँव सभा के प्रधान के पद के लिये एक चुनाव हुआ। उस चुनाव में प्रार्थी निर्वाचित घोषित हुआ। द्वितीय उत्तरवादी बाबूराम ने प्रधान के इस चुनाव को चुनौती देने के लिये एस० डी० ओ० के न्यायालय में चुनाव याचिका (एलेक्शन पेटिशन) निवेशित किया। यह चुनाव याचिका २७ जनवरी को उत्सर्जित हो गई। उसी के दूसरे दिन उत्तरवादी ने पुनर्विचार (रेव्यू) प्रार्थनापत्र निवेशित किया। एस० डी० ओ० ने यह पुनर्विचार प्रार्थनापत्र स्वीकार कर लिया और प्रार्थियों को तत्व पर सुनवाई करने के लिये नोटिसें जारी कीं। इस आदेश के विरुद्ध लेख प्रार्थनापत्र निवेशित किया गया और उस लेख प्रार्थनापत्र में विद्वान् एकाकी न्यायाधीश ने विद्वान् एस० डी० ओ० का वह आदेश निराकृत कर दिया जिसके द्वारा उन्होंने प्रार्थियों को नोटिस दिए बिना ही पुनर्विचार प्रार्थनापत्र स्वीकार कर लिया था। विद्वान् एकाकी न्यायाधीश ने एस० डी० ओ० को निदेश दिया कि प्रार्थियों को नोटिस जारी करके पुनर्विचार (रेव्यू) प्रार्थनापत्र पर विचार किया जाय। प्रार्थनापत्र जब विचाराधीन था उसी बीच उक्त एस० डी० ओ० का स्थानांतरण हो गया और उनके पद के उत्तराधिकारी एस० डी० ओ० ने प्रार्थियों को नोटिस जारी की और सुनवाई के बाद तत्व पर निर्णय करने का निश्चय किया। यह आदेश उन्होंने १४ दिसंबर १९५७ को पारित किया कि पुनर्विचार प्रार्थनापत्र स्वीकार होता है और पक्ष अपने अपने साक्ष्य १० जनवरी १९५८ को प्रस्तुत करें।

प्रार्थियों के विद्वान् वकील ने केवल एक बात पर जोर दिया है कि परवर्ती अधिकारी उ० प्र० पंचायत राज नियमावली नि० २५ (१) के परंतुक ८ के अंतर्गत अपने पूर्ववर्ती अधिकारी के आदेश पर पुनर्विचार नहीं कर सकता। उनका कहना है कि उपर्युक्त उपबंध में है कि प्रार्थनापत्र देने पर एस० डी० ओ० अपने आदेश पर पुनर्विचार (रिव्यू) कर सकते हैं। 'अपने' (हिज़) शब्द के प्रयोग से विद्वान् वकील का कहना है कि वही अधिकारी उस आदेश पर पुनर्विचार कर सकता है जिसने उसे पारित किया था। उस अधिकारी का परवर्ती अधिकारी नहीं। इस संबंध में उन्होंने आ० ४७ नि० (१) सी० पर ध्यान दिलाया जिसमें दिया हुआ है कि पुनर्विचार प्रार्थनापत्र उसी न्यायालय में दियो जायगा जिसने डिग्री दी है या आदेश पारित किया है। हम विद्वान् वकील के इस कथन से सहमत नहीं होते हैं कि न्यायालय का अधिकारी विशेष ही पुनर्विचार कर सकता है। आ० ४७ के उपर्युक्त उपबंध में न्यायालय है न कि अधिकारी विशेष। न्यायालय वर्तमान रहता है जब कि उसके अधिकारी बदलते रहते हैं। आ० ४७ नि० २ में यह अवश्य दिया हुआ है कि उत्तराधिकारी अधिकारी कुछ विशेष आधारों पर पुनर्विचार कर सकते हैं। अर्थात् पुनर्विचार के मामले में परवर्ती को उतना अधिकार नहीं रहता जितना पूर्ववर्ती अधिकारी को था। इस नियम से कभी कभी बड़ा अन्याय हो जाता था

इसीलिए विधानमंडल ने अधिनियम ६६।१९५६ द्वारा यह नियम हटा दिया और अब परवर्ती अधिकारी को पुनर्विचार के मामले में सीमित अधिकार नहीं है। इस मुकदमे का जब प्रतिप्रेषण (रिमांड) हुआ था उस समय अधिनियम ६६।१९५६ लागू हो चुका था।

पंचायतराज नियमावली के उपर्युक्त परंतुक के अंतर्गत निवेशित पुनर्विचार प्रार्थनापत्र में व्यवहार प्रक्रिया संहिता लागू होती है कि नहीं इस प्रश्न पर हमें यहाँ विचार नहीं करना है क्योंकि यदि लागू होती है तब भी परवर्ती अधिकारी को पुनर्विचार प्रार्थनापत्र के निर्णय में कोई रुकावट नहीं है।

पंचायतराज अधिनियम की नियमावली का जहाँ तक संबंध है उससे भी कोई कठिनाई नहीं पैदा होती। एस० डी० ओ० वह व्यक्ति है जो जिले के राजस्व (रेवेन्यू) प्रभाग का अधिकारी होता है। यह पद वर्तमान रहता है जब कि पदाधिकारी समय समय पर बदलते रहते हैं। एस० डी० ओ० के पद के अधिकारी को पुनर्विचार प्रार्थनापत्र का निर्णय करना चाहिए। तदनुसार प्रार्थनापत्र उत्सर्जित किया जाता है।

प्रार्थनापत्र उत्सर्जित

विधि पत्रिका (१९८०) १९५८ इला० (राजस्व) २

(राजस्व मंडल)

रामकेर सिंह न्यायिक सदस्य

वाराणसी के अतिरिक्त आयुक्त के आदेश दिनांक २५ अक्टूबर १९५६ के विरुद्ध पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र सं० ६ बी० सी० १९५६-५७

१५ अक्टूबर १९५८

नासिरुद्दीन— अपीलकर्ता

वि०

दुक्खी— विपक्षी

उ० प्र० भूराजस्व अधिनियम (यू० पी० लैंड रेवेन्यू ऐक्ट) १९०१, धारा २१०, २१९—राजस्व नियमावली परिच्छेद ६११-६१२—आरंभिक आदेश का आधार ही यदि न्यायिकेतर (नान जुडिशियल) हो तो इसको संशोधित या निराकृत करनेवाला आदेश भी न्यायिकेतर है—आयुक्त के यहाँ अपील और राजस्वमंडल में पुनरीक्षण—संधार्यता (मेनटेनेबिलिटी)

रामकेर सिंह—न्यायिक सदस्य—

वाराणसी के अतिरिक्त आयुक्त के आदेश दिनांक २६ अक्टूबर १९५६ के विरुद्ध यह पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र है। प्रश्नगत आदेश द्वारा विद्वान् अतिरिक्त आयुक्त ने अपील स्वीकार कर लिया था और नीचे के न्यायालय के आदेश दिनांक २८ अप्रैल १९५६ और ३१ अगस्त १९५५ को निराकृत कर दिया था।

मुकदमे के तथ्य इस प्रकार हैं कि विद्वान् एस० डी० ओ० के न्यायालय में एक प्रार्थनापत्र दिया गया जो दुक्खी के नाम से था और उसमें दुक्खी की ओर से कहा गया था कि विवादग्रस्त खेतों पर हमारा (दुक्खी का) नाम शिकमी में गलत लिखा हुआ है इसलिए काट दिया जाय। विद्वान् एस० डी० ओ० ने उसी दिन दुक्खी का बयान लेकर उसका नाम काट देने का आदेश दिया। यह आदेश ३१ अगस्त १९५५ को दिया गया। ११ नवंबर १९५५ को दुक्खी के नाम से एक प्रार्थनापत्र फिर दिया गया और इसमें दुक्खी का कहना था कि हमने अपना नाम काटने का कोई प्रार्थनापत्र नहीं दिया था। और ३१ दिसंबरवाला आदेश न्यायालय को धोखा देकर प्राप्त किया गया है। दुक्खी की प्रार्थना थी कि ३१ दिसंबर का आदेश निराकृत किया जाय। एस० डी० ओ० ने अपने आदेश दिनांक २८ अप्रैल १९५६ द्वारा यह प्रार्थनापत्र उत्सर्जित कर दिया। अपील करने पर विद्वान् आयुक्त ने अपील स्वीकार किया कि और ३१ अगस्त १९५५ और २८ अप्रैल १९५६ का आदेश इस आधार पर निराकृत किया कि नीचे के न्यायालय ने प्रक्रिया (प्रोसीजर) का पालन नहीं किया है।

दुक्खी का कहना है कि मजिस्ट्रेट ने जल्दी से पहला

आदेश पारित कर दिया है। मजिस्ट्रेट ने प्रार्थनापत्र इस आधार पर अस्वीकार कर दिया था कि दुक्खी की पहचान इस न्यायालय के एक बहुत पुराने वकील ने की है। किंतु इस बात का महत्व इसलिए घट जाता है कि इसी वकील ने दुक्खी के विपक्षी की भी पहचान की है। प्रार्थी के विद्वान वकील का कहना है कि दुक्खी का दूसरा प्रार्थनापत्र कालबाधित था। किंतु ऐसी बात नहीं है। दुक्खी ने परिनियमित ९० दिन की अवधि के भीतर ही प्रार्थनापत्र निवेशित किया है क्योंकि ३१ अगस्त १९५५ को मजिस्ट्रेट ने आदेश पारित किया था और ११ नवंबर १९५५ को ही दुक्खी ने उसे निराकृत करने के लिये प्रार्थनापत्र दे दिया। दुक्खी के विद्वान् वकील ने आई० एल० आर० ३५ इलाहाबाद ३३१ और ए० आई० आर० १९३२ अवध २९३ पर निर्भर किया। पहली रुलिंग में निर्णय हुआ था कि व्य० प्र० सं० धारा १५१ के अतिरिक्त भी न्यायालय को अपनी गलती शुद्ध करने का अंतर्मूत अधिकार है तथा दूसरी रुलिंग में में निर्णय हुआ था कि व्यवहार प्रक्रिया की संहिता स्वतःपूर्ण संहिता नहीं है और न्यायिक न्यायाधिकरण ने सर्वदा यह मानकर काम किया है कि पक्षों के बीच वास्तविक न्याय होना ही प्रमुख उद्देश्य है।

इन रुलिंग्स के आधार पर विपक्षी के विद्वान् वकील का कहना है कि विद्वान् अतिरिक्त आयुक्त को यह अधिकार था कि वास्तविक न्याय के लिये गलतियों को ठीक कर दें। मुकदमें की परिस्थिति को देखते हुए एस० डी० ओ० के आदेश को निराकृत करने का अधिकार अतिरिक्त आयुक्त को था। एस० डी० ओ० ने ३१ अगस्तवाले आदेश में विचार नहीं किया और वह आदेश न्यायिक ढंग पर नहीं दिया गया। विपक्षी का कहना है कि विद्वान् अतिरिक्त आयुक्त के दिनांक २६ अक्टूबर १९५६ के आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण नहीं हो सकता कारण कि एस० डी० ओ० का आदेश और विद्वान अतिरिक्त आयुक्त का आदेश सभी न्यायिकेतर (नान जुडिशियल) था और न्यायिकेतर आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण निवेशित करने का नियम नहीं है। विपक्षी के विद्वान् वकील ने राजस्व नियमावली के परिच्छेद ६११ और ६१२ का अभिदेश किया कि इस मामले की कार्यवाही न्यायिकेतर कार्यवाही है। १९५५ आर० डी० ११७ में निर्णय हुआ था कि चूँकि विद्वान् अतिरिक्त आयुक्त के आदेश का संबंध न न तो बंदोबस्त से है और न न्यायिक मामले से इसलिए राजस्व मंडल में द्वितीय अपील नहीं निवेशित की जा सकती। १९५६ आर० डी० २३४ (पूर्ण न्यायासन, राजस्व मंडल) में निर्णय हुआ था कि भूराजस्व अधिनियम की धारा २१९ के अंतर्गत राजस्व मंडल केवल न्यायिक मामलों में ही पुनरीक्षण कर सकता है। इस मामले में एस० डी० ओ० का आदेश न्यायिकेतर था इसलिए इसके विरुद्ध भू राजस्व अधिनियम की धारा २१० के अंतर्गत तो अपील हो सकती है पर इसके संबंध में अतिरिक्त आयुक्त के आदेश के विरुद्ध धारा २१९ के अंतर्गत राजस्व मंडल में पुनरीक्षण नहीं हो सकता क्योंकि सारी कार्यवाही न्यायिकेतर प्रकृति की हुई।

इस प्रकार हमारा निर्णय है कि विद्वान् अतिरिक्त आयुक्त का आदेश ठीक था और इस आदेश को उन्होंने भू राजस्व अधिनियम की धारा २१० के अंतर्गत अपने अधिक्षेत्र का प्रयोग करते हुए पारित किया था। विद्वान् एस० डी० ओ० का आदेश गलत था तथा न्यायिकेतर (नान जुडिशियल) था अतः राजस्व मंडल में पुनरीक्षण नहीं हो सकता। तत्व पर विचार करने पर भी इस पुनरीक्षण में बल नहीं दीखता और परिव्यय के साथ उत्सर्जित किया जाता है।

पुनरीक्षण उत्सर्जित

विधि पत्रिका (१९८०) १९५८ इला० (राजस्व) ३

एस० एन० मित्रा न्यायिक सदस्य

(राजस्व मंडल)

लखनऊ फैजाबाद प्रभाग के अतिरिक्त आयुक्त के आदेश दिनांक २० जून, १९५७ के विरुद्ध पुनरीक्षण सं० ११६।१९५६-५७

३० अगस्त, १९५८

राधाशरण साहु — प्रार्थी

वि०

रामसेवक उपाध्याय — विपक्षी

उ० प्र० जमींदारी विनाश तथा भूमि सुधार

अधिनियम, १९५१, धा० २३२. ३४१—व्यवहार प्रक्रिया संहिता, १९०८, धारा १४१ की व्याप्ति और जमींदारी विनाश अधिनियम की धारा २३२—

न्यायिक सदस्य एस० एन० मित्रा—

फैजाबाद के अतिरिक्त आयुक्त के अपील सं० ४१८। १९५६-५७ में दिए हुए आदेश के विरुद्ध यह पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र है।

रामसेवक प्रार्थी ने जमींदारी विनाश अधिनियम की धारा २३२ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र दिया था कि मैं १३५६ फ० के खसरा और खतौनी में अध्यासी (आकूपैंट) लिखा हुआ हूँ और अधिवासी था किंतु राधाशरण ने ३ जनवरी १९५० को दखलदिहानी के अंतर्गत हमारा धारण (पोजेशन) हटा दिया। उसकी प्रार्थना है कि धारण (पोजेशन) वापस मिलना चाहिए।

राधाशरण साहु ने एक प्रार्थनापत्र दिया कि इसी प्रश्न पर एक मामला व्यवहार (सिविल) न्यायालय में विचाराधीन है इसलिए जब तब उसका निर्णय नहीं हो जाता तब तक इस मामले की कार्यवाही रोक रखी जाय। चूँकि अधिवासी अधिकार के प्रश्न पर केवल राजस्व न्यायालय ही निर्णय दे सकता है। इसलिए यह प्रार्थना पत्र अस्वीकार कर दिया गया।

अन्वीक्षा न्यायालय ने चार वाद पद (ईशूज) बनाया और निर्णय दिया कि प्रार्थी को अधिवासी का अधिकार प्राप्त हो गया है, धारा २३२ के अंतर्गत धारण वापस पाने का उसे अधिकार है, प्रतिवादियों को भूमिधरी अधिकार प्राप्त है और इससे प्रार्थी के अधिवासी अधिकार पर कोई रुकावट नहीं पड़ती। प्रार्थनापत्र स्वीकृत हुआ। विद्वान अतिरिक्त आयुक्त ने निर्णय मान लिया और अपील अस्वीकार कर दिया अस्तु यह पुनरीक्षण (रिवीजन) निवेशित किया गया है।

प्रार्थी के विद्वान वकील का कहना है कि उ० प्र० भूधारण (टेनेंसी) अधिनियम की धारा १८० के अंतर्गत जो मुकदमा चल रहा था उसमें डिग्री हुई और प्रार्थी ने ३ जून १९५० को 'दखल' ले लिया; इसकी द्वितीय अपील स्वीकृत हुई परंतु उसमें कह दिया गया कि जो मामला व्यवहार (सिविल) न्यायालय में इस प्रश्न पर चल रहा है कि अधिवासी अधिकार प्राप्त है कि नहीं उसका जब तक अंतिम निर्णय न हो जाय जब तक धारण वापस पाने की कार्यवाही रुकी रहे। प्रार्थी के विद्वान् वकील का कहना है कि उस निर्णय के अनुसार प्रार्थी (रामसेवक) केवल व्य० प्र० संहिता की धारा ११४ के अंतर्गत ही धारण वापस पाने की कार्यवाही कर सकता था और वह भी व्यवहार न्यायालय के उक्त विचाराधीन मुकदमे के अंतिम निर्णय के बाद। १९५५ आर डी० ६४ के निर्णय के सिद्धांत के अनुसार धारा १४४ के अंतर्गत धारण वापस पाने में ३ महीने की अवधि (लिमिटेशन) लागू नहीं होती और इस प्रकार व्यवहार न्यायालय के निर्णय की प्रतीक्षा करने से रामसेवक को कोई हानि नहीं थी। इस प्रकार कहा गया कि धारा २३२ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र नहीं दिया जा सकता था और चूँकि धारा २३२ के अंतर्गत जो प्रार्थनापत्र दिया गया है उसमें है कि मैं (रामसेवक) गत १४ वर्षों से धारण में हूँ पर उसमें कहीं नहीं है कि हमसे जबरदस्ती धारण (पोजेशन) छुड़ाया गया इसलिए लालजी तिवारी वि० सीताराम तिवारी के निर्णय के अनुसार बिना यह दिखलाए कि धारण जबरदस्ती छुड़ाया गया यह प्रार्थनापत्र संधार्य (मेनटेनेबल) नहीं है। विद्वान् वकील का कहना है कि नीचे के दोनों न्यायालयों ने जो धारा २३२ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र स्वीकार किया वह गलत था।

विपक्षी के विद्वान् वकील का कहना है कि धारा १८० के अंतर्गत उपर्युक्त मुकदमे में राजस्व मंडल ने जो यह कह दिया कि दखल वापस लेने की कार्यवाही तब तक रुकी रहे जब तक व्यवहार न्यायालय के विचाराधीन मामले में अधिवासी अधिकार का अंतिम निर्णय न हो जाय वह इसलिए कहा था कि जब राजस्वमंडल ने निर्णय दिया उस समय अधिवासी अधिकार पर निर्णय केवल व्यवहार (सिविल) न्यायालय दे सकता था परंतु ६ अगस्त १९५४ के बाद अधिवासी के प्रश्न पर निर्णय देना एकमात्र राजस्व (रेवेन्यू) न्यायालय का अधिकार हो गया इसलिए अब व्यवहार न्यायालय के निर्णय की

प्रतीक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई। विद्वान् वकील का कहना है कि उस मामले में 'अधिवासी' के अधिकार पर निर्णय देने के लिये व्यवहार न्यायालय ने इसे राजस्व न्यायालय में भेजा था और राजस्व न्यायालय ने भी निर्णय दे दिया है कि प्रार्थी (राम सेवक) अधिवासी है। विद्वान् वकील का कहना है कि रामसेवक (प्रार्थी) यह कह कर न्यायालय में आया था कि ३ जनवरी १९५० की दखल दिहानी के आधार पर हमको धारण (पोजेशन) छोड़ना पड़ा इसलिए यदि उसने कह ही दिया कि हमारा धारण गत १४ वर्षों से है तो इससे यह तथ्य नहीं समझा जा सकता कि उसका धारण जबरदस्ती नहीं छुड़ाया गया।

विपक्षी के विद्वान् वकील के कथन से मैं सहमत हूँ। ज० वि० अधिनियम की धारा ३४१ में यह दिया हुआ है कि व्यवहार प्रक्रिया संहिता जमींदारी विनाश अधिनियम में वहीं लागू होगी जहाँ जमींदारी विनाश अधिनियम में कोई उपबंध न हों। इसलिए जमींदारी विनाश अधिनियम की धारा २३२ में जब यह उपबंध स्पष्ट दिया गया है कि निश्चित अवधि के भीतर अधिवासी धारण वापस पाने के लिये प्रार्थनापत्र दे सकते हैं और इस प्रकार अवधि के भीतर जब रामसेवक (प्रार्थी) ने ज० वि० अधिनियम की धारा २३२ के अंतर्गत धारण वापस पाने के लिये प्रार्थनापत्र दिया तो यह सर्वथा ठीक था और व्य० प्र० संहिता की धारा १४४ (२) के अंतर्गत वाला प्रतिबंध इसमें लागू नहीं होगा कारण कि जमींदारी विनाश के अंतर्गत स्पष्ट उपबंध के स्थान पर व्यवहार प्रक्रिया संहिता का उपबंध लागू नहीं होगा।

नीचे के दोनों न्यायालयों का धारा २३२ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र स्वीकार करना ठीक था। पुनरीक्षण असफल होता है और परिव्यय के साथ उत्सर्जित किया जाता है।

पुनरीक्षण उत्सर्जित

———

विधि पत्रिका (१९८०) १९५८ इला० (राजस्व) ५

न्यायमूर्ति वी० डी० भार्गव

(उच्च न्यायालय)

बनारस के मुंसिफ श्री ओम् प्रकाश श्रीवास्तव के निर्णय दिनांक १९ अगस्त १९५४ के विरुद्ध व्यवहार पुनरीक्षण सं० ९२२।१९५४

२६ अप्रैल १९५७

परसिद्धन सिंह तथा अन्य — प्रार्थीगण

वि०

गयाप्रसाद — विपक्षी

अ—उ० प्र० जमींदारी विनाश तथा भूमिसुधार (संशोधन) अध्यादेश १९५४—अध्यादेश (आर्डिनेंस) संशोधन अध्यादेश था विखंडन अध्यादेश (रिपीलिंग आर्डिनेंस) नहीं—सामान्य वाक्यांश अधिनियम (जेनरल क्लाजेज ऐक्ट) की धारा ६ लागू नहीं होती—

ब—व्यवहार प्रक्रिया संहिता, १९०८, धारा ११५—मुकदमें का निर्णय किसको कहते हैं—

स—उ० प्र० जमींदारी विनाश तथा भूमिसुधार अधिनियम १९५०, धारा ३३२, उ० प्र० ज० विनाश (संशोधन) अध्यादेश १९५४, धारा ६ द्वारा संशोधित—अधिवासी अधिकार के संबंध में व्यवहार न्यायालय और राजस्व न्यायालय के अधिक्षेत्र—अध्यादेश की धारा ६ विखंडन अध्यादेश (रिपीलिंग आर्डिनेंस) नहीं है वरन् संशोधन अध्यादेश है।

न्यायमूर्ति भार्गव

व्यवहार प्रक्रिया संहिता की धारा ११६ के अंतर्गत मुंसिफ के उस आदेश के विरुद्ध यह पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र है जिसके द्वारा उन्होंने एक वाद पद (ईशू) को राजस्व न्यायालय में लौटा दिया था। ऐसा उन्होंने उत्तर प्रदेश जमींदारी विनाश तथा भूमिसुधार (संशोधन) अध्यादेश १९५४ के उपबंध के अनुसार किया था।

तथ्य इस प्रकार हैं कि इस मुकदमें में वादी ने कहा था कि हमें अधिवासी अधिकार प्राप्त हो चुका है और प्रतिवादी ने इसे इनकार किया था। जब यह वाद निवेशित हुआ तो समझा यह गया कि इसमें स्वत्व (टाइटिल) का प्रश्न है इसलिए इसी विश्वास पर एक वाद पद (ईशू) को व्यवहार न्यायालय में निर्णय के लिये भेज दिया गया। इस पर व्यवहार न्यायालय के निर्णय देने के पहले ही उ० प्र० जमींदारी विनाश (संशोधन) अध्यादेश ६ अगस्त १९५४ को लागू हो गया।

इस संशोधन के अनुसार मुंसिफ ने आदेश पारित किया कि अब इसके निर्णय का अधिकार राजस्व न्यायालय का हो गया है इसलिए आगे की कार्यवाही के लिये इसे राजस्व न्यायालय में भेज दिया जाय। इसी आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र निवेशित किया गया है।

इस संबंध में पहला प्रश्न है कि मुंसिफ ने कोई निर्णय नहीं किया, उन्होंने केवल राजस्व न्यायालय में लौटा दिया। इस प्रकार लौटाना मुकदमा का निर्णय करना नहीं हो सकता और इसलिए व्यवहार प्रक्रिया संहिता की धारा ११५ के अंतर्गत इस आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण (रिवीजन) प्रार्थनापत्र निवेशित नहीं किया जा सकता।

तत्व पर भी हम विद्वान् मुंसिफ के विचार से सहमत है। ६ अगस्त १९५४ को धारा ३३२ का संशोधन हो गया। ६ अगस्त १९५४ के पहले इस प्रश्न पर निर्णय दिया जा सकता था; इस तिथि के बाद यदि स्वत्व (टाइटिल) का प्रश्न नहीं है तो व्यवहार न्यायालय निर्णय नहीं कर सकता। अतः इस मामले में केवल राजस्व न्यायालय ही निर्णय कर सकता था।

प्रार्थी के विद्वान् वकील का कहना है कि धारा ३३२ का संशोधन अतीत प्रभावी (रिट्रास्पेक्टिव) नहीं है इसलिए जब निर्णय के लिये वादपत्र पहले ही भेज दिया गया है तो उसमें संशोधन का प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह प्रक्रिया (प्रोसीजर) का प्रश्न है और प्रक्रिया में जैसा परिवर्तन होता है उसी परिवर्तन के अनुसार काम होना चाहिए। इस मामले में यदि व्यवहार न्यायालय ने ६ अगस्त १९५४ के पहले निर्णय दे दिया होता तो बात दूसरी होती किंतु जब कोई निर्णय नहीं हुआ तो व्यवहार न्यायालय का अधिक्षेत्र समाप्त हो गया।

विद्वान् वकील ने सामान्य वाक्यांश अधिनियम की धारा ६ के अनुसार कहा है कि जब किसी अधिनियम का विखंडन होता है तो इस संबंध में यदि कोई दूसरी बात नहीं कह दी गई है तो इस विखंडन से पहले के प्राप्त अधिकार, विशेषाधिकार आदि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। किंतु १९५४ का अध्यादेश विखंडन अध्यादेश (रिपीलिंग आर्डिनेंस) नहीं है वरन् संशोधन अध्यादेश है इसलिए यह उक्त बात का समर्थन नहीं करता। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न सर्वथा प्रक्रिया (प्रोसीजर) का प्रश्न है कि अमुक वाद पद का निर्णय व्यवहार न्यायालय में हो कि राजस्व न्यायालय में; वह कोई अधिकार या विशेषधिकार इत्यादि नहीं है जिसके लिये सामान्य वाक्यांश अधिनियम की धारा ६ लागू होती है। इसलिए यदि मान भी लिया जाय कि यह विखंडन अध्यादेश है तब भी धारा ६ इसमें लागू नहीं होगी।

एक प्रतर्क यह भी है कि यह अधिनियम राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये संरक्षित था इसलिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद २१३ के अंतर्गत अध्यादेश इस अधिनियम के संबंध में जारी नहीं हो सकता था। मैं इस प्रश्न के विस्तार में नहीं जाना चाहता परंतु इस अध्यादेश का स्थान उ० प्र० भूमि सुधार (अनुपूरक (सप्लिमेंटरी) अधिनियम १९५२ ले लिया है और तत्संबंधी समस्त प्रतिबंधों का पालन हो चुका है। किंतु तर्क के लिये यदि यह मान भी लिया जाय कि अध्यादेश अवैध था तो वर्तमान अधिनियम मुंसिफ के कार्य के पक्ष में है कारण कि यदि इस मामले को मुंसिफ के पास लौटा दिया जाय तब भी उन्हें इसके निर्णय का अधिकार नहीं होगा।

अतः मैं हस्तक्षेप करने योग्य कोई कारण नहीं देखता। पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र उत्सर्जित किया जाता है परंतु परिव्यय के लिये कोई आदेश नहीं दिया जाता।

प्रार्थनापत्र उत्सर्जित

———

विधि पत्रिका (१९८०) १९५८ इला० (राजस्व) ७

एम० एम० सिद्दिकी न्यायिक सदस्य

(राजस्व मंडल)

शेखपुर, उझैनी, बदायूँ

रुहेलखंड के अतिरिक्त आयुक्त के आदेश दिनांक १७ अप्रैल १९५७ के विरुद्ध द्वितीय अपील (प्रार्थनापत्र सं० १०३।१९५६-५७

१२ जून १९५८

एत्रामुद्दीन हैदर — अपीलकर्ता

वि०

प्यारेलाल — उत्तरवादी

अ - उ० प्र० जमींदारी विनाश तथा भूमिसुधार अधिनियम १।१९५१ धा० २०, २३२—प्रयोज्यता—ऐसा अधिकार प्राप्त होने के लिये यह दिखलाना आवश्यक नहीं है कि अधिनिष्कासन (एविक्शन) जबरदस्ती हुआ था—अधिनिष्कासन संबंधी पहला निर्णय और प्राङ्न्याय (रेस जुडिकेटा)

ब उ० प्र० जमींदारी विनाश अधिनियम १, १९५१ धा० २०—अधिवासी का अधिकार कब पैदा होता है—प्रविष्टि (एंट्री) यदि भूराजस्व अधिनियम (लैंड रेवेन्यू ऐक्ट) की धा० २८ के अनुसार नहीं है तो ऐसी प्रविष्टि के आधार पर अधिवासी अधिकार नहीं पैदा हो सकता।

एम० एम० सिद्दिकी न्यायिक सदस्य—

उ० प्र० जमींदारी विनाश तथा भूमिसुधार अधिनियम की धारा २०।२३२ के अंतर्गत यह प्रार्थनापत्र था।

नीचे के न्यायालय ने इस प्रार्थनापत्र को स्वीकार किया और विद्वान् अतिरिक्त आयुक्त ने अपील में इस आदेश को मान लिया। अतिरिक्त आयुक्त के आदेश के विरुद्ध यह द्वितीय अपील है।

प्रार्थी प्यारे लाल का कहना था कि १३५६ फसली के खसरा में मेरा नाम अध्यासी (आकूपैंट) लिखा था किंतु १३५६ फसली में हमारा अधिनिष्कासन (एविक्शन) हो गया इसलिए हमें धारण (पोजेशन) वापस पाने का अधिकार है। विपक्षी का कहना है कि प्रार्थी प्यारेलाल का कभी धारण नहीं था इसलिए उसके अधिनिष्कासन का प्रश्न नहीं पैदा होता। १३५६ फसली की प्रविष्टि (एंट्री) को फर्जी कहा गया और कहा गया कि ऐसी फर्जी प्रविष्टि के आधार पर अधिवासी का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता।

प्रार्थी ने इसके पहले उत्तर प्रदेश भूधारण (टेनेंसी) अधिनियम की धारा १८०।१८३ के अंतर्गत यह कहकर मुकदमा चलाया था कि १३५६ फसली में विपक्षी द्वारा हमारा धारण (पोजेशन) हटा दिया गया। इस मामले में निर्णय हुआ कि प्रार्थी कभी धारण में नहीं था इसलिए धारण च्युत भी नहीं किया गया। विपक्षी का कहना है धारणच्युति के प्रश्न पर यह निर्णय प्राङ्न्याय (रेस जुडिकेटा) होगा। आगे यह भी कहा गया कि धारणच्युति जब प्रमाणित नहीं हुई तो जमींदारी विनाश अधिनियम की धारा २० की व्याख्या १ के अनुसार धारा २३२ के अंतर्गत ऐसा प्रार्थनापत्र नहीं दिया जा सकता।

हमारे विचार से इस आपत्ति में बल नहीं है। धारा २० (बी०) (१) स्वतः पूर्ण है। इस धारा के अनुसार अधिवासी के अधिकार की प्राप्ति के लिये जो शर्त है वह इतनी ही है कि वह व्यक्ति १३५६ फ० के खसरा या खतौनी में उस खेत का अध्यासी(आकूपैंट) अभिलिखित हो। केवल इस शर्त का पालन हो जाने पर उसको अधिवासी का अधिकार प्राप्त हो जाता है। विपक्षी के विद्वान् वकील का कहना है कि धारा २० (बी०) (१) पर उस धारा की व्याख्या १ द्वारा प्रतिबंध लगाया गया है और वह प्रतिबंध है कि अधिवासी के अधिकार की प्राप्ति के लिये यह भी दिखलाना आवश्यक है कि उसका अधिनिष्कासन (एविक्शन) ३० जून १९४८ के बाद हुआ। विपक्षी के विद्वान वकील का कहना है कि जो व्यक्ति धारा २० बी० (१) की शर्तों का पालन करते हुए व्याख्या १ की भी शर्त का पालन करेगा केवल वही

व्यक्ति धारा २३२ के अंतर्गत धारण वापस पाने के लिये प्रार्थनापत्र दे सकता है। व्याख्या १ का अभिप्राय यह नहीं है। व्याख्या १ का अर्थ केवल इतना ही है कि जिस व्यक्ति का अधिनिष्कासन ३० जून १६४८ के बाद हुआ है वह व्यक्ति भी धारा २३२ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र दे सकता है और उसे धारण वापस पाने का अधिकार है। मेरे विचार से धारा २३२ में प्रार्थनापत्र देने के लिये पहले यह प्रमाणित करना आवश्यक नहीं है कि अधिनिष्कासन हुआ है। विपक्षी के विद्वान् वकील ने बसावन वि० कादिर बख्श १६५८ आर० डी० ६५ पर निर्भर किया है। इसमें निर्णय हुआ था कि केवल धारा २३२ पर ही विचार नहीं किया जा सकता वरन् धारा २० की व्याख्या १ के साथ इस पर विचार करना चाहिए और इसलिए जहाँ जबरदस्ती अधिनिष्कासन की बात नहीं कही गई है वहाँ धारा २३२ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र उत्सर्जित हो जाना चाहिए। अत्यंत संमान के साथ मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ। मेरे विचार से धारा २३२ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र देने के अधिकार की उत्पत्ति के लिये जबरदस्ती अधिनिष्कासन को प्रमाणित करना अनिवार्य नहीं है। इसके लिये इतना ही पर्याप्त है कि प्रार्थी १३५६ फ० के खसरा या खतौनी में अध्यासी (आकूपैंट) अभिलिखित हो और प्रार्थनापत्र देने की तिथि को धारण में न हो। इसलिए प्रार्थी को इस मामले में धारा २३२ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र देने का अधिकार था यद्यपि धारा १८० १८३ के मामले में दिया हुआ निर्णय जबरदस्ती अधिनिष्कासन (फोर्सिबुल एविक्शन) के प्रश्न पर प्राङ्न्याय (रेस जुडिकेटा) है।

विपक्षी के विद्वान् वकील ने दूसरी आपत्ति उठाई है कि इस मामले में खसरा की १३५६ फ० की जिस प्रविष्टि के आधार पर अधिवासी अधिकार का होना कहा गया है वह प्रविष्टि उ० प्र० राजस्व अधिनियम (लैंड् रेवेन्यू ऐक्ट) की धारा २८ के अनुसार नहीं है इसलिए यह प्रविष्टि धारा २० (बी ०) के अंतर्गत अधिवासी अधिकार नहीं प्रदान कर सकती। यह सत्य है कि यह प्रविष्टि भू अभिलेख नियमावली के परिच्छेद ८७ के अनुसार नहीं की गई है। एक तो प्रविष्टि गलत ढंग पर की गई है और दूसरे अलादीन पटवारी ने बयान दिया था कि यह प्रविष्टि हमने नहीं की है अतः इन दोनों से इतना तो स्पष्ट है कि प्रविष्टि उ० प्र० भू राजस्व अधिनियम की धारा २८ के अनुसार नहीं की गई है और इससे प्रार्थी को अधिवासी अधिकार नहीं प्राप्त हो सकता। १६५७ आर० डी० ५६ और १६५७ आर० डी० २४७ में क्रम से ऐसी ही बात कही गई है कि प्रविष्टि विधि के अनुसार होनी चाहिए या दूसरे शब्दों में ऐसी प्रविष्टि पटवारी द्वारा अपने काम के सामान्य क्रम में होनी चाहिए तथा यह प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण है कि प्रविष्टि का आधार ठीक है कि नहीं। यदि इसका आधार गलत माना जाता है तो इस आधार पर की गई प्रविष्टि के बल पर अधिवासी अधिकार नहीं प्राप्त किया जा सकता। इन दोनों रूलिंग्स को मैं मानता हूँ।

प्रार्थी के विद्वान् वकील का कहना है कि जो प्रविष्टि इस समय वर्तमान है वह निहित होने की तिथि के पहले कभी शुद्ध नहीं की गई थी इसलिए इस अवस्था में धारा २० व्याख्या २ के अनुसार इस पर आपत्ति नहीं की जा सकती। यह कथन मान्य नहीं हो सकता। यहाँ प्रविष्टि की शुद्धि का प्रश्न नहीं है। यदि यह प्रविष्टि भू अभिलेख नियमावली के परिच्छेद ८७ के अनुसार की गई होती और व्याख्या २ में दिए गए प्रकार से शुद्ध न की गई होती तो निश्चय ही यह प्रविष्टि सही होती। किंतु यह प्रविष्टि भू राजस्व अधिनियम की धारा २८ के अनुसार नहीं है इसलिए इसके आधार पर अधिवासी अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। यह शुद्ध की गई है कि नहीं यह तथ्य महत्व का नहीं है।

अतः प्रार्थी को अधिवासी अधिकार प्राप्त नहीं हुआ। अपील सफल होती है और परिव्यय के साथ स्वीकार की जाती है।

अपील स्वीकृत

———

Hurt	उपहत, चोट
Husband	पति
„ and wife	पति और पत्नी
Hnsbandman	कृषक
Husbandry	कृषिकर्म
Hush	नीरव, शांत
Hypothec	उपप्राधि
Hypothecary	उपप्राधीय
„ action	उपप्राधीय वाद
Hypothecate	उपप्राधीयन, उपप्राधीयित करना
Hypothecated	उपप्राधीयित
Hypothecation	उपप्राधीयन, उपप्राधि
„ bond	उपप्राधीयन बंध
Hypothecatory	उपप्राधीय

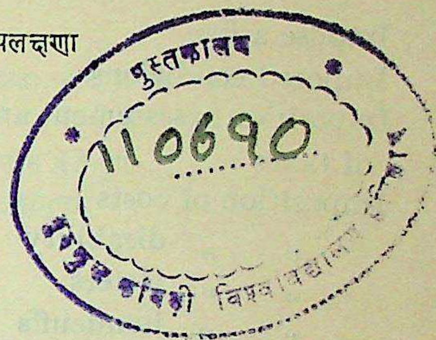
I

I am desired	मुझे कहा गया है कि
„ „ directed	मुझे निदेश दिया गया है कि
I. A. S	भा॰ प्र॰ से॰ (भारतीय प्रशासन सेवा)
I beg to remain, sir	भवत्प्रार्थी
I beg to remain, sir, your most obedient servant	प्रार्थी परमाज्ञाकर
I beg to report	मैं सविनय प्रतिवेदन करता हूँ, सविनय प्रतिवेदन है कि
Inconoclast	मूर्तिभंजक (२) उन्मूलनवादी
I. C. S.	भा॰ जा॰ से॰ (भारतीय जानपद सेवा)
Idea	विचार, कल्पना
Ideal	आदर्श, ध्येय
„ justice	आदर्श न्याय
Identical	एक समान, एकात्मक
Identification	पहचान, अभिज्ञान
„ mark	पहचान चिह्न
Identifier	पहचान करनेवाला, अभिज्ञाता
Indentity	पहचान, ऐकात्म्य
„ card	अभिज्ञान पत्रक, पहचान पत्रक
Ideology	विचार पद्धति, विचार धारा (२) वैचारिकी
Idiocy	मूढ़ता
Idiot	मूढ़

Idol	मूर्ति
If agreed the draft will be put up	यदि संमत हुआ तो प्रारूप प्रस्तुत किया जायगा
If any	यदि कोई
If a person applies	यदि कोई व्यक्ति आवेदन करे
„ free from disability	यदि निर्योग्य न हो
„ he should die	यदि वह मर जाए
„ it be conceded	यदि यह मान लिया जाए
Ignorance of law is no excuse	विधि की अनभिज्ञता क्षम्य नहीं
„ „ the judge is the misfortune of the innocent	न्यायाधीश की अनभिज्ञता निरपराध का दुर्भाग्य है
Ill	त्रुटि २—दुर्भाग्य
„ advised	कुमंत्रित
Illegal	अवैध
Illegality	अवैधता
Illegalize	अवैध करना
Illegal possession	अवैध धारण
„ practice	अवैध आचरण
„ transaction	अवैध व्यवहार
Illegitimate	अवैध जारज
„ child	जारज
Illegitimation	जारजावस्था
Ill-fame	अकीर्ति
„-gotten	अन्यायार्जित
Illicit	अवैध, निषिद्ध २. अनुचित
„ cohabitation	अवैध सहवास
„ connection	अवैध संबंध
„ emigration	अवैध उत्प्रवास
„ intercourse	अवैध मैथुन
Illiquid	अस्पष्ट
Ill-judged	अपनिर्णीत
Illogical	तर्कविरुद्ध
Ill-treat	दुर्व्यवहार करना
Illtreatment	दुर्व्यवहार
Ill-use	दुष्प्रयोग
Illusory	भ्रामक
Illustrate	निदर्शन करना

Illustration — निदर्शन, उदाहरण
Illustrative — निदर्शनात्मक
Illustrious — ख्यातनामा
Illwill — द्वेष
Imaginary damages — काल्पनिक हानिपूर्ति
Imbecile — क्षीणबल, क्षीणबुद्धि
Imbroglio — जटिलता
Immaterial — सारहीन, अनावश्यक
" allegation — असार अभिकथन
" averment — असार दृढ़ोक्ति
Immediate — तत्काल, तात्कालिक, निकटतम
" action — तुरंत कार्यवाही
" death — तत्काल मृत्यु
Immediate descent — अव्यवहृत वंशानुक्रम
" enforcement — तुरंत प्रवर्तन
" family — निकटतम कुटुंब
Immediately after — ठीक पश्चात्
" before — ठीक पहले
" commencement — प्रारंभ होने के ठीक पहले
" below — ठीक नीचे
" preceding — ठीक पहले
Immediate measures — तत्काल उपाय
" occupation — तात्कालिक अभिधारण
" physical pssession — तत्काल वास्तविक धारण
" release — तुरंत छोड़ना
Immemorial possession — स्मरणातीत धारण
" use — स्मरणातीत उपयोग
Immigrant — आप्रवासी
Immigration — आप्रवासन, आप्रवास
Imminent — सन्निकट, समुपस्थित
" danger — समुपस्थितभय
Immodesty — अशालीनता
Immoral — अनैतिक
Immoveable — अचल
" property — अचल संपत्ति
Immune — १ प्रतीकारी २ प्रतिरक्षित

Immunity	उन्मुक्ति
Impact	आघात
Impair the obligations of contracts	संविदा के दायित्व को परिक्षीण करना
Impartial enquiry	निष्पक्ष जाँच
Impartible estate	अविभाज्य संपदा
,, property	अविभाज्य संपत्ति
Impeach	(क्रि०) महाभियोग लगाना
Impeachment	महाभियोग
,, of annuities	वार्षिकी पर बाधा
,, ,, waste	क्षय बाधा
,, ,, witness	साक्षी का अभिशंसन
Impediment	अवबाधा
,, in law	वैध अवबाधा
Impel	बाध्य करना
Impending	आसन्न
,, danger	आसन्न भय
Imperative	१—आज्ञापक २—अनिवार्य, अलंघनीय
,, orders	अलंघनीय आदेश
,, statute	आज्ञापक परिनियम
Imperfect	अप्रवर्त्य
,, delegation	अपरिपूर्ण प्रत्यायुक्ति
,, obligation	अपरिपूर्ण दायित्व
,, ownership	अपरिपूर्ण स्वामित्व
,, partition	अपरिपूर्ण विभाजन, अपूर्ण बँटवारा
,, right	अपरिपूर्ण अधिकार
,, state	अपूर्णावस्था
,, title	अपरिपूर्ण स्वत्व
,, trust	अनिष्पादित न्यास
Imperial	साम्राजिक
Impersonation	अन्यपुरुषायण
Implead	वाद चलाना, अनुशस्त करना
Impleader	अनुशंसिता
Implement	साधन, उपकरण—(क्रि०)=परिपालन, कार्यान्वित करना
Implementation	परिपालन
Implements of husbandry	कृषि उपकरण
Implicate	(क्रि०) फँसाना, फाँसना



Implication	१ ध्वनितार्थ २ उपलक्षण
Implication of law	विधिक ध्वनितार्थ
Implied	ध्वनित
„ abrogation	ध्वनित निराकरण
„ acceptance	ध्वनित स्वीकृति
„ agreement	ध्वनित संविद्
„ assumpsit	ध्वनित आश्राव
„ authority	ध्वनित प्राधिकार
„ condition	ध्वनित प्रतिबंध
„ confession	ध्वनित दोषस्वीकृति
„ consent	ध्वनित संमति
Implied contract	„ संविदा
„ covenant	ध्वनित संश्राव
„ dedication	ध्वनित समर्पण
„ easement	ध्वनित सुविधा
„ invitation	ध्वनित प्ररोचन
„ licence	ध्वनित अनुज्ञप्ति
„ malice	ध्वनित दुर्भावना
„ notice	ध्वनित सूचना
„ pledge	ध्वनित प्राधि
„ powers	ध्वनित शक्तियाँ
„ proimse	ध्वनित प्रतिज्ञा
„ ratification	ध्वनित अनुसमर्थन
„ release	ध्वनित मोचन
„ revocation	ध्वनित प्रतिसंहरण
„ term	ध्वनित निबंधन
„ trust	ध्वनित न्यास
„ waiver	ध्वनित अधित्याग
„ warranty	ध्वनित अध्याभूति
Imply	ध्वनित होना, उपलक्षित होना
Importance	महत्व, गुरुत्व
Import and Export (Control) Act.	आयात निर्यात (नियंत्रण) अधिनियम
Important case	महत्वपूर्ण वाद
Import Duties Act	आयात शुल्क अधिनियम
Import Trade Control Order	आयात व्यापार नियंत्रण आदेश
Impose	लगाना, करना

Impose a fine	दंड लगाना
Imposed conditions	आरोपित प्रतिबंध
Imposition assessement and collection of taxes	करों का आरोपण निर्धारण और संग्रहण
Imposition of costs	व्ययारोपण
„ „ disability	निर्योग्यता आरोपण
„ „ fetters	बेड़ी डालना
„ „ handcuffs	हथकड़ी लगाना
„ „ new taxation	नए कर लगाना
„ „ penalty	शास्ति आरोपण
Impossibility of performance	पालन की अशक्यता
Impossible contract	अशक्य संविदा
Impost	कर, शुल्क
Impound	अवरुद्ध करना, अवरोधन
„ document	लेख्य अवरुद्ध करना
Impounded documeuts	अवरुद्ध लेख्य
Impracticable	अव्यवहार्य
Imprescriptible rights	चिरकालिकी अप्राप्य अधिकार
Impress	निमुद्रण
Impressed court fee stamp	निमुद्रित न्यायालय शुल्क मुद्रांक
„ document	निमुद्रित लेख्य
„ non-judicial stamp paper	निमुद्रित न्यायिकेतर मुद्रांक पत्र
„ stamp	निमुद्रित मुद्रांक
Impression of the thumb	अंगुष्ठ पद, अंगूठे की छाप
Imprest	अग्रदाय
Imprimatur	मुद्रणानुज्ञप्ति
Imprison	कारावास देना, कारावासन
Imprisoned	कारावासित
Imprisonment	कारावास
„ as well as fine	कारावास और दंड
„ for debt	ऋण के लिये कारावास
Improper discharge	अनुचित उन्मोचन
Improperly rejected	अनुचित रूप से अस्वीकृत
Improvement	सुधार
„ Trust	सुधार प्रन्यास
Impugn	खंडन करना, विरोध करना

Impute	अभ्यारोपण
Inability to sue	वाद लाने की अयोग्यता, वाद न कर सकना
In a body	इकट्ठे
In absolute disregard	की ओर सर्वथा ध्यान न देते हुए
In accordance with law	विध्यनुसार, विधि के अनुसार
In accordance with rule	नियमानुसार
„ „ „ the form	रूपानुसार
„ „ „ „ procedure	प्रक्रियानुसार
„ „ „ „ „ laid down	दी गई प्रक्रिया के अनुसार
Inaccurate	अयथार्थ, अपरिशुद्ध
In a confidential capacity	गुप्त रूप से
Inadmissible	अप्रतिग्राह्य
„ evidence	अप्रतिग्राह्य साक्ष्य
Inadvertently	असावधानी से
Inalienable	अनन्यक्राम्य
In any capacity	किसी भी रूप में
„ „ case	किसी अवस्था में भी
„ „ cause or matter	किसी वाद अथवा विषय में
„ „ form	किसी भी रूप में
„ „ particular case	किसी विशिष्ट अवस्था में
„ „ special case	किसी विशेष स्थिति में
„ as much as	जहाँ तक कि
Inaugurate	उद्घाटन करना
In bank	(न्यायालय के समस्त न्यायाधीशों की बैठक में) पूर्ण न्यायालय में
„ between	अंतस, बीच में
„ blunt words	स्पष्ट शब्दों में
„ broad outline	स्थूल रूप में
„ camera	एकांत में
Incapacity	असमर्थता, असामर्थ्य
In capita (per capita)	प्रतिव्यक्ति
„ case	यदि, अवस्था में, स्थिति में
„ „ it shall appear	यदि यह प्रतीत हो
„ „ of default	न चुकाने पर
„ „ „ disagreement	मतभेद होने पर

In case of doubt	संदेह होने पर
„ „ „ need	आवश्यकता पड़ने पर
„ „ „ urgency	अविलंब स्थितियों में
„ cash	रोक
„ „ or kind	रोक अथवा वस्तु रूप में
Incestuous adultery	अगम्य परस्त्रीगमन
„ bastardy	अगम्या जन्मता
„ fornication	अगम्यागमनीय संभोग
In charge	प्रभारी
In – chief	प्रमुख
Inchoate	असंपूर्ण
„ instrument	असंपूर्ण संलेख
„ interest	असंपूर्ण हित
Incidence	आपात
„ of taxation	करापात
Incidental	१—आपाती २—प्रासंगिक
„ costs	प्रासंगिक परिव्यय
Incident of a contract	संविदा प्रसंग
„ „ an easement	सुविधा प्रसंग
Incised	भिन्न
„ wound	भिन्न क्षत
Incitation	अपोत्साहना
Incite	अपोत्साहन
Incitement	अपोत्साहन
Inciter	अपोत्साहक
In civil capacity	जानपद रूप में, असैनिक रूप में
„ „ employ	असैनिक सेवा में
Incivility	अशिष्टता, असभ्यता, असौजन्य
Inclination	झुकाव
Inclined to agree	सहमत प्राय है
Include	समावेश करना, संमिलित करना
Included	अंतर्गत, अंतर्भूत
Including	अंतर्गत करते हुए, समेत, सहित
Inclusion	समावेश, अंतर्ग्रहण
Inclusive	सहित, समेत, संमिलित करके
Incognitio	अज्ञात, गुप्त रूप से

विधि पत्रिका के नियम

(१) "विधि पत्रिका" का वार्षिक, षाण्मासिक और त्रैमासिक शुल्क क्रमशः १०), ५॥) और ३॥) है; एक प्रति का मूल्य १) है। शुल्क मनीआर्डर या वी० पी० द्वारा देय है। वी० पी० से मँगाने में डाकव्यय अतिरिक्त लगेगा।

(२) शुल्क 'मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, "विधि पत्रिका" विभाग, वाराणसी–१' के पते से आना चाहिए।

(३) "विधि पत्रिका" प्रत्येक सौर मास के अंतिम सप्ताह में अर्थात् प्रत्येक अँगरेजी मास के दिनांक १५ तक प्रकाशित होगी।

(४) "विधि पत्रिका" में विधि संबंधी लेख तथा विधि विषयक पत्रों, पुस्तकों आदि की समालोचनाएँ भी प्रकाशित होंगी। समालोचनार्थ पुस्तकों की दो दो प्रतियाँ आनी चाहिए। लेख, समालोचनार्थ पुस्तकें आदि 'संपादक, "विधि पत्रिका", नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी—१' के पते से भेजनी चाहिए।

———

सोल एजेंट :—

श्री भगवानदास गोवर्धनदास शाह,
के० २७।११, कूचा माधोदास सामिया,
भैरो बाजार,
वाराणसी।

———



प्रकाशक और मुद्रक—नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी की ओर से तथा इसके लिये श्री सिद्धनाथ सिंह, नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी



विधि पत्रिका

वर्ष ३] जनवरी से मार्च १९५९ : पौष से फाल्गुन(सौर) सं० २०१५ : शक १८८०-८१ [अंक २-३

विधिविषयक लेखों, केंद्रीय-राज्य अधिनियमों आदि से युक्त, इलाहाबाद तथा भारत के अन्य उच्च न्यायालयों के महत्वपूर्ण अँगरेजी निर्णयों का हिंदी रूपांतर तथा विवरण प्रकाशित करनेवाली हिंदी जगत् की एकमात्र मासिक पत्रिका

विषय सूची

वार्षिक शुल्क १०)

इस प्रति का २)

परामशदातृ समिति

(१) श्री कमलाकांत वर्मा, भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद
(२) श्री बलराम उपाध्याय, न्यायाधीश, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद ।
(३) श्री कन्हैयालाल मिश्र, महाधिवक्ता, उतर प्रदेश, इलाहाबाद ।
(४) श्री गोपालचंद्र सिंह, विशेष अधिकारी, सचिवालय, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ।
(५) श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय ।

संपादक मंडल

(१) श्री व्रजरत्नदास, वकील, वाराणसी ।
(२) श्री प्रतापनारायण सिंह, राजकीय अधिवक्ता, वाराणसी ।
(३) श्री गौरीनंदन उपाध्याय, ऐडवोकेट, वाराणसी ।
(४) श्री देवीनारायण, ऐडवोकेट, वाराणसी ।
(५) श्री कैलासपति त्रिपाठी, ऐडवोकेट, वाराणसी ।
(६) श्री गोपीकृष्ण, बार-ऐट-ला, वाराणसी ।
(७) श्री चतुर्भुजदास पारिख, ऐडवोकेट, वाराणसी ।
(८) श्री राघवराम वर्मा, वकील, वाराणसी ।
(९) चौधरी शुकदेव सिंह, वकील, वाराणसी ।
(१०) श्री मोतीलाल वापुली, ऐडवोकेट. वाराणसी ।

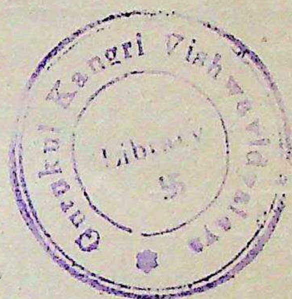
श्री चंद्रभूषण मिश्र, ऐडवोकेट }
श्री रामसुरत सिंह, ऐडवोकेट } प्रतिवेदक, इलाहाबाद

संपादक (संयोजक)—सिद्धनाथ सिंह बी० ए०, एल-एल० बी०, वकील
सहायक संपादक—पारसनाथ सिंह बी० ए०, एल-एल० बी०

विधि पत्रिका जनवरी से मार्च १९५९

(शक १८८०-८१)

वाद तालिका



विधि पत्रिका

[लेख खंड]

वर्ष ३] जनवरी से मार्च १९५९ : पौष से फाल्गुन (सौर) सं० २०१५ : शक १८८०-८१ [अंक २-३

संपादकीय

अनैतिकता और अपराध—

अनैतिकता और अपराध दोनों जुड़ुवा बहन हैं। दोनों की उत्पत्ति एक साथ एक ही उदर से होती है। निर्धनता दोनों की जननी है। स्वामी विवेकानंद ने एक बार कहा था और ठीक ही कहा था कि खाली पेटवालों को उपदेश मत दो। 'बुभुक्षितः किम् न करोति···' जब मनुष्य भूख से व्याकुल होता है तब वह सत् और असत् का विचार छोड़ देता है। बंगाल के अकाल में ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिले हैं जब माता ने शिशु के लिये मिले दूध को स्वयं पीकर अपने प्राणों की रक्षा की और छटपटाते शिशु के प्राण पखेरू उनकी आँखों के सामने उड़ रहे थे। मातृ स्नेह से बढ़कर संसार में कोई वस्तु नहीं पर ऐसी परिस्थिति आने पर उसका महत्व समाप्त हो ही जाता है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि धनी कुकृत्य नहीं करते पर निर्धनता अपराध की आधार शिला है। यदि जीवन निर्वाह के साधन पर्याप्त हों तो वहाँ उपदेश भी काम करता है, वहाँ चरित्र निर्माण की बातें की जा सकती हैं पर जहाँ पेट खाली है वहाँ उपदेश काम नहीं करता। धन के अभाव में पेट की ज्वाला की शांति के लिये ऐसे अमानुषिक कृत्य हो सकते हैं जिसे पैसेवालों को करने में सैकड़ों बार सोचना पड़ेगा। भूख से मरते हुए प्राणी के लिये जेल यातना, कोड़ों की मार, अपकीर्ति, दंड सब गौण हैं क्योंकि मरते प्राणी की आँखें पहले पेट की ओर जायँगी, कर्म-अकर्म के विवेचन में नहीं। इसलिए अपराध पर जब हम विचार करें तो हमारा प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि अपराधों के श्रोत पर हम गंभीरता पूर्वक विचार करें और उसी के साथ मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह भी विचार करना पड़ेगा कि अपराध की ओर मन की वृत्ति क्यों जाती है। निर्धनता के अतिरिक्त इसके दूसरे भी कारण होते हैं इसलिए देखना है कि कुछ लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति उस ओर क्यों हो जाती है साथ ही साथ इस पर भी विचार करना होगा कि आजकल की

अपराध चिकित्सा की प्रणाली कहाँ तक अपराधों में वृद्धि या कमी करती है।

कुछ लोगों का झुकाव जन्म से ही अपराधों की ओर होता है और इसके लिये दंड व्यवस्था आवश्यक होती अवश्य है पर ऐसे अपराधी के मस्तिष्क पर दंड का प्रभाव प्रतिकूल ही पड़ता है। ऐसे दंडों की प्रति क्रिया और नए अपराधों को जन्म देती है। जब तक मनुष्य की अंतर्वृत्ति में परिवर्तन नहीं हो जाता, अपराध को वह कुकृत्य नहीं समझ लेता तब तक केवल दंड से अपराध की रोकथाम नहीं हो सकती। कभी कभी कठोर दंड समाज के प्रति घृणा को जन्म देता है और वह और भी क्रूर अपराधी बनाने में सहायक हो जाता है। दंड वाह्य उपचार हो सकता है पर अपराध जैसे समाज के भयंकर रोग के लिये यह मरहम पट्टी उपयुक्त चिकित्सा नहीं। इसका निदान कहीं और है। नाड़ी पहचानने के लिये चतुर वैद्य की आवश्यकता है। जैसे कोई वैद्य यदि एक ही प्रकार की दवा से सब प्रकार के रोगियों को अच्छा करने का प्रयास करे तो यह उसकी मूर्खता होगी उसी प्रकार सब अपराधियों के साथ एक ही प्रकार का उपचार विवेक पूर्ण नहीं कहा जा सकता। चंद्रशेखर आजाद के बाल्यकाल के निर्मम बेतों से उनके जीवन में प्रतिहिंसा की ज्वाला भभक उठी, वे बेंत उपचार नहीं थे अविवेक पूर्ण हिंसात्मक प्रयोग थे।

सब रोगियों के साथ एक ही व्यवहार एक ही प्रकार की चिकित्सा रोग में वृद्धि का कारण होगा। घी और मधु पृथक् पृथक् अमृत तुल्य हैं पर बराबर की मात्रा में उनका प्रयोग विष तुल्य हो जाता है। इस प्रकार अपराधों की ठीक चिकित्सा न होने से समाज में राग द्वेष की वृद्धि होती है और अपराध घटने के स्थान पर बढ़ता है।

अपराध के लिये उत्तरदायी मूल तत्वों का अध्ययन करना होगा और उन तत्वों का नाश करने से ही अपराध की समाप्ति हो सकेगी। निर्धनता, मानसिक स्थिति, वातावरण, उपचार की दूषित कार्य पद्धति अनेक वस्तुएँ अपराध के लिये उत्तरदायी हैं। मनोवैज्ञानिक ढंग से जब तक अपराध का निदान नहीं होगा तब तक चिकित्सा भी निरर्थक सिद्ध होगी। आज की इस चिकित्सा पद्धति से समाज में पागलों की वृद्धि हो रही है और अपराध को समाप्त करना तो दूर रहा इनकी जड़ों से नए अपराधों का जन्म होता है। १९५४ में आगरा के मानसिक चिकित्सालय में साठ रोगियों में से ४० पागल ऐसे थे जिन्हें मृत्यु दंड मिला था किंतु अपील में इस दंड में कमी होकर काले पानी की सजा हो गई थी। यह एक ऐसी घटना है जिस पर गंभीरता पूर्वक विचार करना होगा। ९९ प्रतिशत पागल इस दूषित चिकित्सा पद्धति के परिणाम हैं। मृत्यु दंड प्राप्त व्यक्ति को एक छोटी कोठरी दी जाती है। उसके जीवन के सारे कारबार इसी कोठरी के दीवालों के भीतर हो सकते हैं। उसका संपूर्ण संसार सिकुड़कर इस कोठरी के रूप में परिणत हो जाता है। उसके मित्र, शत्रु सब इसकी दीवालें हैं, इन्हीं से बात कर सकता है। इसी रंगमंच पर उसके जीवन के नाटक का संपूर्ण खेल होता है। खड़ी दीवारों से वह कुछ कहना चाहता है पर वे सुनती नहीं। वे सुख दुःख से परे, चेतनाशून्य अनेक के दुर्भाग्य की कहानियों को अपने में समेट कर खड़ी हैं—जो भी उनके संपर्क में आया ईंट पत्थर का उसने बना लिया। सरकस के कठघरे की भाँति वह कोठरी छड़ों से घिरी हुई, जिसमें यमराजपुरी का वह बज्र सा ताला लगा है उसमें बंद वह कैदी सिसक कर रोते रोते जीवन काटता है; मौत के सहारे वह जिंदगी काटने का प्रयास करता है, वह मर भी नहीं सकता न मरने दिया जा सकता है क्योंकि उसकी जिंदगी का पहरा मौत दे रही है। उसके लिये दिन, रात्रि है, रात्रि प्रलय है, जिंदगी मौत सी है और मौत प्रेत सा—पर वह अपनी कहानी किससे कहता? उस काली कोठरी में, जो ऐसे अनेक अभागे कैदियों के जीवन से परिचित हैं, दया का संचार कहाँ। वह चीख उठता है चीख बाहर नहीं जाती, वह भीतर ही भीतर उसमें झुलस उठता है, मस्तिष्क विकृत हो जाता है सोचते सोचते एक ही दिशा में। समाज के प्रति घृणा हो जाती है यदि कहीं वह निर्दोष हुआ तो उसका हृदय द्वेष से भर जाता है। अंत में प्रकृति उसे पागल बनाकर

इस चिंता से मुक्त करती है। यदि कहीं उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय से वह निर्दोषी सिद्ध हुआ या सजा कम हुई तो भी वह विकृत मस्तिष्क लेकर समाज में आता है—वह समाज के किसी काम का नहीं होता न समाज उसके काम का।

ऐसे लोग न पूरे पागल होते हैं न साधारण मनुष्य। ऐसे लोग आगरा भेज दिए जाते हैं। इस प्रकार यदि आज के पूरे कैदियों का अध्ययन किया जाय तो नई बात मिलेगी। जो लोग निर्दोष होने पर भी दंड पा जाते हैं क्या उनके मस्तिष्क पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती होगी। क्या यह कारण नहीं है कि इसी के फलस्वरूप वे समाज के सम्मुख एक भयंकर अपराधी के रूप में आते हैं ? यदि जितने कैदी दंड भुगत कर छूट जाते हैं उनका भी अध्ययन हो तो एक नया अनुभव प्राप्त होगा जिससे आज की अपराध चिकित्सा प्रणाली में हमें नए प्रयोग करने की प्रेरणा मिलेगी और इस पद्धति में परिवर्तन करने के लिये सोचने को बाध्य होंगे।

जेल में बंद कैदी सहानुभूति के स्थान पर छुटकारा पाता है; जमादार पहरुओं की फटकार और रह रह कर डाँट उसे निर्मम बना देता है। कुत्ते को भी प्यार की भूख होती है, पशु पक्षी के हृदय में भी प्यार की पिपासा होती है उस पिपासा के मुरझा जाने पर वह क्रूर और आक्रामक हो जाता है, वह मनुष्यता से नीचे उतर जाता है। आशा राख बन कर स्फूर्ति और स्पंदन का सर्वनाश कर डालती है, पर उसे समझाने की चेष्टा कौन करता है ? समाज का वह तिरस्कृत प्राणी दया की भिक्षा किससे माँगे ? पुलिस का दंड शेषनाग के फनों से अधिक भयंकर होता है—न्यायालय में चपरासी, पेशकार, मजिस्ट्रेट सब अधिकार के मद में रहते हैं फिर उसकी कहानी पर विश्वास कौन करेगा ? साक्षीगण घटना को देखे हों या नहीं पर न्यायालय में शपथ लेकर बयान देते हैं। वे मानों महाभारत के संजय के समान हैं।

आज की अपराध चिकित्सा पद्धति पागलों की वृद्धि करती है, अपराधों की नई श्रृंखला उत्पन्न करती है। इस पद्धति के अनुसार जो दया का पात्र है उसे दंड दिया जाता है और जिसे दंड देना चाहिए वह दया का पात्र बना कर छोड़ दिया जाता है और इस प्रकार बड़ी उलझन पैदा होती है। आवश्यकता इस बात की है कि इस क्षेत्र में एक आयोग बैठाया जाय जो संपूर्ण परिस्थितियों का अध्ययन करके उचित मार्ग निर्धारित करे।

सिद्धनाथ सिंह

---

(४) रजिस्ट्रार उन परीक्षाओं के, जो नियत की जायँ, संचालन के लिये उत्तरदायी होगा और उनके लिये आवश्यक अन्य समस्त प्रबंध करेगा और उनसे संबद्ध समस्त प्रक्रियाओं के समुचित निष्पादन के लिये उत्तरदायी होगा ।

(५) रजिस्ट्रार ऐसे अन्य कर्तव्यों का पालन करेगा जो समय समय पर बोर्ड अथवा उपकुलपति द्वारा नियत किए जाय अथवा अपेक्षित हों ।

(६) रजिस्ट्रार को विश्वविद्यालय के किसी कार्य के लिये कोई पारिश्रमिक न दिया जायगा, न वह स्वीकार करेगा, सिवाय उस पारिश्रमिक के जिसकी व्यवस्था परिनियमों द्वारा की गई हो ।

छात्र कल्याण का डीन

१५—(१) छात्र कल्याण का डीन विश्वविद्यालय का पूर्णकालिक पदाधिकारी होगा तथा बोर्ड के अनुमोदन के अधीन रहते हुये उप कुलपति द्वारा नियुक्त किया जायगा ।

(२) छात्र कल्याण के डीन को देय वेतन तथा भत्ते वे होंगे जो नियत किये जायँ ।

(३) छात्र कल्याण के डीन के निम्नलिखित कर्तव्य होंगे—

(क) छात्रों के निवास के लिये प्रबंध करना;

(ख) छात्रों को परामर्श देने के कार्यक्रम का संचालन करना;

(ग) उप कुलपति द्वारा अनुमोदित योजनाओं के अनुसार छात्रों के नियोजन का प्रबंध करना;

(घ) छात्रों के पाठ्यचर्या के अतिरिक्त कार्यों तथा आवश्यकताओं का पर्यवेक्षण करना;

(ङ) विश्वविद्यालय से जानेवाले स्नातकों को नियुक्ति पाने में सहायता देना; तथा

(च) विश्वविद्यालय के पूर्व छात्रों को संघटित करना तथा उनसे संपर्क बनाये रखना ।

विद्वत् परिषद्

१६—(१) विद्वत् परिषद् विश्वविद्यालय के शिक्षा संबंधी कार्यों की भार साधक होगी और इस अधिनियम तथा परिनियमों के उपबंधों के अधीन रहते हुये अध्यापन शिक्षा तथा परीक्षा के स्तरों और उपाधियाँ प्राप्त करने की अपेक्षाओं का नियंत्रण तथा सामान्य विनियमन करेगी और उसके अनुरक्षण के लिये उत्तरदायी होगी और ऐसे अन्य अधिकारों का प्रयोग तथा अन्य ऐसे कर्तव्यों का पालन करेगी जो परिनियमों द्वारा उसे दिये जायँ या उस पर आरोपित किये जायँ । उसे शिक्षा संबंधी समस्त विषयों पर उप कुलपति को परामर्श देने का अधिकार होगा ।

(२) विद्वत् परिषद् का संघटन तथा उसके सदस्यों की पदावधि नियत की जायगी ।

फैकल्टियाँ

१७—(१) विश्वविद्यालय में वे फैकल्टियाँ होंगी जो नियत की जायँ ।

(२) प्रत्येक फैकल्टी में वे विभाग होंगे जो नियत किये जायँ, तथा विभिन्न विभागों के लिये पाठ्य विषय परिनियमों द्वारा निर्दिष्ट किये जायँगे ।

(३) प्रत्येक फैकल्टी का एक बोर्ड होगा जिसका संघटन तथा जिसके अधिकार नियत किये जायँगे ।

(४) प्रत्येक फैकल्टी का एक डीन होगा जो ऐसी रीति से तथा ऐसी अवधि के लिये चुना जायगा जो नियत की जाय ।

(५) डीन, फैकल्टी के बोर्ड का सभापति होगा और फैकल्टी से संबद्ध परिनियमों तथा विनियमों के सम्यक् अनुपालन के लिये उत्तरदायी होगा । वह फैकल्टी के विभागों में अध्यापन, अनुसंधान तथा प्रसार कार्य के संघटन और संचालन के लिये भी उत्तरदायी होगा ।

(६) प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होगा जो विभाग के संघटन तथा संचालन के लिये डीन के प्रति उत्तरदायी होगा ।

(७) विभागाध्यक्षों की नियुक्ति उसी प्रकार होगी तथा उनके कर्तव्य, अधिकार और कृत्य वे होंगे जो नियत किये जायँ ।

कृषि प्रयोग केंद्र

१८—(१) विश्वविद्यालय में एक कृषि प्रयोग केंद्र स्थापित किया जायगा । इस अधिनियम तथा परिनियमों के उपबंधों के अधीन रहते हुए, वह समस्त फैक-

टियों में आधारभूत तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार के अनुसंधान के लिये उत्तरदायी होगा ।

(२) एक कृषि प्रयोग केंद्र संचालक होगा जो कृषि के डीन के प्रति उत्तरदायी होगा । उसका नाम निर्देशन कृषि के डीन द्वारा किया जायगा तथा उसकी नियुक्ति उप कुलपति द्वारा की जायगी ।

(३) कृषि प्रयोग केंद्र संचालक कृषि का प्राविधिक प्रशिक्षण प्राप्त एक पूर्णकालिक पदाधिकारी होगा । वह परियोजनाओं के अभिलेखों को उचित रूप से रखेगा तथा अनुसंधान की प्रगति के प्रतिवेदनों को नियत रीति से प्रकाशन के लिये लेगा ।

कृषि तथा गृह विज्ञान प्रसार सेवा

१६—(१) विश्वविद्यालय में एक कृषि तथा गृह विज्ञान प्रसार सेवा स्थापित की जायगी और वह, इस अधिनियम और परिनियमों के अधीन रहते हुए, कृषकों तथा गृहणियों को उनकी समस्याएँ सुलझाने में सहायता देने के निमित्त उपयोगी सूचना उपलभ्य करायेगी तथा नवयुवकों में कृषि के प्रति अभिरुचि का विकास करने के लिये उपाय करेगी, जैसे तरुण-संघों की स्थापना ।

(२) एक प्रसार-संचालक होगा जो कृषि के डीन के प्रति उत्तरदायी होगा । उसका नाम-निर्देशन कृषि के डीन द्वारा होगा तथा नियुक्ति उपकुलपति द्वारा की जायगी ।

(३) प्रसार-संचालक कृषि में प्राविधिक प्रशिक्षण-प्राप्त एक पूर्ण-कालिक पदाधिकारी होगा जो अनुसंधान के परिणामों के आधार पर प्रसार-कार्य का कार्यक्रम बनायेगा तथा उसे निष्पादित करेगा ।

सदस्यता संबंधी अनुपूरक उपबंध

२०—(१) विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी या निकाय के (पदेन सदस्यों से भिन्न) सदस्यपदों में होने वाली सभी आकस्मिक रिक्तियों की पूर्ति यथासुविधा शीघ्र ऐसे व्यक्ति अथवा निकाय द्वारा की जायगी, जिसने उस सदस्य को, जिसका पद रिक्त हुआ हो, नियुक्त, निर्वाचित अथवा आमेलित किया हो, तथा आकस्मिक रिक्त में नियुक्त, निर्वाचित अथवा आमेलित व्यक्ति उस पदावधि के शेषकाल के लिये उक्त प्राधिकारी या निकाय का सदस्य रहेगा जिस तक कि वह व्यक्ति जिसके स्थान पर वह नियुक्त हुआ हो, उसका सदस्य रहता ।

(२) कोई व्यक्ति, जो विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी का सदस्य किसी अन्य निकाय के प्रतिनिधि के रूप में हो, चाहे वह निकाय विश्वविद्यालय का हो या न हो, विश्वविद्यालय के उस प्राधिकारी का तभी तक सदस्य रहेगा जब तक वह उस निकाय का सदस्य बना रहे जिसके द्वारा वह नाम-निर्देशित, नियुक्त या निर्वाचित हुआ था और तत्पश्चात् जब तक कि उसके उत्तराधिकारी की यथाविधि नियुक्ति न हो जाय ।

विश्वविद्यालय के प्राधिकारियों तथा निकायों की कार्यवाहियां रिक्तियों के कारण अवैध न होंगी

२१—विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी या किसी अन्य निकाय का कोई कार्य या कार्यवाही केवल इस कारण अवैध न होगी कि उसमें सदस्यपदों की रिक्ति या रिक्तियाँ विद्यमान थीं या किसी ऐसे व्यक्ति ने कार्यवाहियों में भाग लिया था जिसके विषय में कार्यवाही के पश्चात् यह ज्ञात हुआ हो कि वह ऐसा करने का अधिकारी नहीं था ।

विश्वविद्यालय की सदस्यता से हटाया जाना

२२—बोर्ड किसी भी व्यक्ति को विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी या बोर्ड की सदस्यता से इस आधार पर हटा सकता है कि वह व्यक्ति नैतिक पतनवाले किसी अपराध का सिद्ध-दोष हुआ है ।

सदस्यता और कार्यवाहियां

२३—यदि ऐसा कोई प्रश्न उठे कि कोई व्यक्ति बोर्ड के अधीनस्थ विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी का सदस्य यथाविधि निर्वाचित या नियुक्त हुआ है या नहीं अथवा ऐसा सदस्य होने का अधिकारी है या नहीं या विश्वविद्यालय का अथवा बोर्ड के अधीनस्थ किसी प्राधिकारी का कोई निर्णय इस अधिनियम तथा परिनियमों के अनुरूप है या नहीं, तो वह मामला कुलपति को अभिदिष्ट किया जायगा, जिसका इस संबंध में निर्णय अंतिम होगा ।

समितियों का संघटन

२४—जब इस अधिनियम या परिनियमों के अधीन विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी को समितियां नियुक्त

करने का अधिकार दिया गया हो, तो वे समितियाँ, जब तक कि इसके प्रतिकूल कोई विशेष व्यवस्था न हो, संबद्ध प्राधिकारी के सदस्यों में से बनेंगी।

निवृत्ति-वेतन अथवा भविष्य निधि

२५—(१) विश्वविद्यालय अपने पदाधिकारियों, अध्यापकों, लिपिकवृन्द तथा अन्य नियोजित व्यक्तियों के लाभार्थ ऐसी रीति से तथा ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए, जो नियत की जायं, ऐसे निवृत्ति वेतन, बीमा तथा भविष्य-निधियों की स्थापना करेगा, जिन्हें वह उचित समझे।

(२) जब कोई ऐसी भविष्य-निधि कुलपति द्वारा अनुमोदित नियमों के अधीन इस प्रकार स्थापित की गई हो, तो कुलपति यह घोषणा कर सकते हैं कि प्राविडेंट फंड्स ऐक्ट, १९२५ के उपबंध उस निधि पर उसी प्रकार प्रवृत्त होंगे, मानो वह कोई गवर्नमेंट प्राविडेंट फंड हो।

वेतन-भोगी पदाधिकारियों तथा अध्यापकों की नियुक्ति

२६—(१) इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए विश्वविद्यालय के कर्मचारिवर्ग के सदस्य बोर्ड द्वारा उप कुलपति की सिफारिश पर नियुक्त किये जायंगे।

(२) उन दशाओं का छोड़कर जिनकी व्यवस्था परिनियमों में की गई हो, विश्वविद्यालय का प्रत्येक वेतन-भोगी पदाधिकारी तथा अध्यापक लिखित संविदा के अधीन नियुक्त किया जायगा। संविदा उप-कुलपति के पास रक्खा जायगा तथा उसकी एक प्रतिलिपि संबंद्ध पदाधिकारी अथवा अध्यापक को दी जायगी। संविदा इस अधिनियम तथा तत्समय प्रवृत्त परिनियमों में सेवा की शर्तों से संबंधित उपबंधों से असंगत न होगा।

विश्वविद्यालय तथा उसके कर्मचारिवर्ग के बीच विवादों के लिये मध्यस्थ न्यायाधिकरण

२७—विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालय के किसी पदाधिकारी या अध्यापक के बीच संविदा से कोई विवाद उठने की दशा में, संबद्ध पदाधिकारी या अध्यापक की प्रार्थना पर वह विवाद मध्यस्थ न्यायाधिकरण को अभिदिष्ट किया जायगा, जिसमें बोर्ड द्वारा नाम-निर्देशित एक सदस्य, संबद्ध पदाधिकारी या अध्यापक द्वारा नाम-निर्देशित एक सदस्य तथा कुलपति द्वारा नियुक्त एक निर्णेता होंगे। इस न्यायाधिकरण का निर्णय अंतिम होगा तथा न्यायाधिकरण द्वारा निर्णीत के विषयों के बारे में किसी भी दीवानी न्यायालय में कोई वाद प्रस्तुत न किया जा सकेगा। ऐसी प्रत्येक प्रार्थना आर्बीट्रेशन ऐक्ट, १९४० के अर्थ में इस धारा की शर्तों के अनुसार उक्त मध्यस्थ निर्णय के लिये प्रस्तुति समझी जायगी, तथा उस अधिनियम की धारा २ को छोड़कर उसके सब उपबंध तद्नुसार प्रवृत्त होंगे।

परिनियम

२८—इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, परिनियमों में किसी भी विषय की व्यवस्था की जा सकती है तथा उनमें विशेष रूप से निम्नलिखित की व्यवस्था की जायगी।

(क) विश्वविद्यालय के प्राधिकारियों का संघटन और उनके अधिकार तथा कर्त्तव्य;

(ख) विश्वविद्यालय के प्राधिकारियों के सदस्यों का निर्वाचन, उनकी नियुक्ति तथा उनका पद पर बना रहना, जिनके अंतर्गत प्रथम सदस्यों का पद पर बना रहना भी है, तथा स्थानों की पूर्ति एवं उक्त प्राधिकारियों से संबद्ध ऐसे अन्य सभी विषय जिनकी व्यवस्था करना आवश्यक या वांछनीय हो;

(ग) विश्वविद्यालय के पदाधिकारियो का नामोद्देश उनको नियुक्ति की रीति, और उनके अधिकार तथा कर्त्तव्य;

(घ) अध्यापकों का वर्गीकरण तथा वियुक्ति की रीति;

(ङ) विश्वविद्यालय के पदाधिकारियों, अध्यापकों तथा अन्य कर्मचारियों के लाभ के लिये निवृत्ति-वेतन या भविष्य-निधि का संघटन तथा बीमा योजना की स्थापना;

(च) उपाधियों तथा डिप्लोमाओं की स्थापना;

(छ) संमान्य उपाधियों का प्रदान;

(ज) फैकल्टियों की स्थापना, एकीकरण उप-विभाजन तथा उनका समापन;

(झ) फैकल्टियों में अध्यापन विभागों की स्थापना;

(ञ) विश्वविद्यालय द्वारा अनुरक्षित छात्रावासों की स्थापना तथा उनका समापन;

(ट) परिषद् वृत्तियों छात्रवृत्तियों, पदकों तथा पारितोषिकों की स्थापना;

(ठ) पंजीकृत स्नातकों के रजिस्टर का रखा जाना;

(ड) विश्वविद्यालय में छात्रों का प्रवेश तथा नामांकन और उनका इस प्रकार बना रहना;

(ढ) विश्वविद्यालय को सब उपाधियों तथा डिप्लोमाओं के लिये निर्धारित किये जाने वाले पाठ्यक्रम;

(ण) शर्तें जिनके अधीन छात्र उपाधियों, डिप्लोमा तथा अन्य पाठ्यक्रमों और विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में प्रविष्ट किये जायेंगे तथा वे उपाधियाँ और डिप्लोमा प्राप्त करने के पात्र होंगे;

(त) विश्वविद्यालय के छात्रों के आवास की शर्तें तथा विश्वविद्यालय द्वारा अनुरक्षित छात्रावासों में आवास के लिये शुल्कों का लिया जाना;

(थ) ऐसे छात्रावासों का अभिज्ञान तथा प्रबंध जो विश्वविद्यालय द्वारा अनुरक्षित न हों;

(द) विश्वविद्यालय के अध्यापकों तथा वेतनभोगी पदाधिकारियों की संख्या, अर्हतायें, उपलब्धियाँ तथा सेवा की अन्य शर्तें (जिनके अंतर्गत सेवा-निवृत्ति की आयु भी है) तथा उनकी सेवा और कार्यकलापों का अभिलेख तैयार करना और रखना;

(ध) शुल्क जो विश्वविद्यालय द्वारा किसी प्रयोजन के निमित्त लिये जा सकें;

(न) शर्तें जिनके अधीन व्यक्तियों को छात्रावासों में अध्यापन के निमित अर्ह स्वीकृत किया जाय;

(प) परीक्षा-निकायों, परीक्षकों तथा परिमार्जकों की नियुक्ति की शर्तें और रीति तथा उनके कर्त्तव्य;

(फ) परीक्षाओं का संचालन;

(ब) पारिश्रमिक तथा भत्ते जिनके अंतर्गत यात्रिक भत्ते और दैनिक भत्ते भी हैं, जो उन व्यक्तियों को दिये जायगा जो विश्वविद्यालय के कार्यों में नियोजित हों;

(भ) परिषद्-वृत्तियाँ, छात्रवृत्तियाँ विद्यार्थी-वृत्तियाँ, निर्धन छात्र-वृत्तियाँ पदक तथा पारितोषिक प्रदान किये जाने की शर्तें; तथा

(म) अन्य समस्त विषय जिनके लिये इस अधिनियम के अनुसार परिनियमों द्वारा व्यवस्था होनी चाहिये या हो सकती है।

परिनियम कैसे बनाये जायेंगे

२९—(१) धारा २८ के खंड (क) से (ठ) में दिये गये विषयों के संबंध में प्रथम परिनियम राज्य सरकार द्वारा बनाये जायेंगे और उनकी एक प्रति राज्य विधान मंडल के प्रत्येक सदन के समक्ष १४ दिन तक रखी जायगी और, तदन्तर्गत पहल से की गई किसी भी बात की वैधता पर बिना प्रतिकूल प्रभाव डाले हुये, वे ऐसे परिवर्धनों एवं परिवर्तनों के अधीन रहेंगे जिनके बारे में दोनों सदन सहमत हों।

(२) इस धारा में आगे दी हुई रीति से बोर्ड समय-समय पर नये या अतिरिक्त परिनियम बना सकता है तथा उन्हें संशोधित अथवा निरस्त भी कर सकता है।

(३) विद्वत् परिषद् बोर्ड के समक्ष उसके द्वारा पारित होने के निमित्त किसी भी परिनियम का प्रारूप प्रस्तावित कर सकती है और ऐसे प्रारूप पर बोर्ड की आगामी बैठक मे विचार किया जायगा :

किंतु प्रतिबंध यह है कि विद्वत् परिषद् ऐसे परिनियम का या किसी परिनियम के ऐसे संशोधन का प्रारूप प्रस्तावित नहीं करेगी जिससे विश्वविद्यालय के किसी वर्तमान प्राधिकारी की स्थिति या उसके अधिकार या संघटन पर प्रभाव पड़ता हो, जब तक कि ऐसे प्राधिकारी को उस प्रस्ताव पर अपना मत प्रकट करने का अवसर न दिया जा चुका हो तथा इस प्रकार व्यक्त किसी मत पर बोर्ड विचार करेगा।

(४) बोर्ड, उपधारा (३) में अभिदिष्ट किसी पारूप को अनुमोदित कर सकता है तथा उस परिनियम को पारित कर सकता है, अथवा उसे अस्वीकार कर सकता है, अथवा उसे विद्वत परिषद् को अंशतः या अंशत या पूर्णतः पुनर्विचारार्थ ऐसे संशोधनों सहित लौटा सकता है जिनका वह सुझाव दे।

(५) बोर्ड का कोई सदस्य बोर्ड के समक्ष किसी अपरिनियम का प्रारूप प्रस्तावित कर सकता है तथा बोर्ड उस प्रस्ताव को, यदि वह ऐसे विषय से संबंधित है जो विद्वत् परिषद् के क्षेत्र में नहीं है, स्वीकार कर सकता है

अथवा अस्वीकार कर सकता है। यदि ऐसा प्रारूप विद्वत् परिषद् के क्षेत्र के भीतर के किसी विषय से संबंधित हो तो बोर्ड उसे विद्वत् परिषद् के विचारार्थ अभिदिष्ट करेगा। विद्वत् परिषद् बोर्ड को यह प्रतिवेदन कर सकती है कि वह उस प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं करती है और तब वह प्रस्ताव बोर्ड द्वारा अस्वीकृत समझा जायगा, या वह उक्त बोर्ड के पास उस रूप में प्रस्तुत कर सकती है जिसे विद्वत् अनुमोदित करे और इस प्रकार प्रस्तुत प्रारूप पर इस धारा के उपबंध उसी प्रकार प्रवृत्त होंगे जैसे कि विद्वत् परिषद् द्वारा बोर्ड को प्रस्तावित प्रारूप के विषय में प्रवृत्त होते हैं।

(६) किसी भी नये परिनियम या परिनियमों के परिवर्धन पर या किसी परिनियम के संशोधन या निरसन पर कुलपति के पूर्वानुमोदन की आवश्यकता होगी। कुलपति उसे स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हैं अथवा उसे और विचार निमित्त वापस भेज सकते हैं।

विनियम

३०—(१) विश्वविद्यालय के प्राधिकार तथा बोर्ड इस अधिनियम तथा परिनियमों से संगत विनियम बना सकते हैं, जिनमें—

(क) उनकी बैठकों में अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया तथा गणपूर्ति के लिये अपेक्षित सदस्य संख्या निर्धारित की जाय;

(ख) ऐसे समस्त विषयों की व्यवस्था की जाय जो इस अधिनियम तथा परिनियमों के अधीन विनियमों द्वारा व्यवस्थित किये जानेवाले हों; तथा

(ग) किन्हीं अन्य ऐसे विषयों की व्यवस्था की जाय केवल उन प्राधिकारियों या बोर्डों से संबंध रखते हों और जिनके लिये इस अधिनियम तथा परिनियमों में व्यवस्था न की गई हो।

(२) विश्वविद्यालय का प्रत्येक प्राधिकारी विनियम बनायेगा जिनमें उस प्राधिकारी के सदस्यों को उन दिनांकों की जिन पर बैठकें होंगी और उस कार्य की जिस पर बैठकों में विचार किया जायगा, पूर्व सूचना देने तथा बैठकों की कार्यवाहियों का अभिलेख रखने की व्यवस्था की जायगी।

(३) बोर्ड ऐसी रीति से जो वह निर्दिष्ट करे, विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी द्वारा इस धारा के अधीन बनाये गये किसी विनियम में संशोधन या उपधारा (१) के अधीन बनाये गये किसी विनियम के रद्द किये जाने का आदेश दे सकता है।

(४) परिनियमों के उपबंधों के अधीन रहते हुये, विद्वत् परिषद् संबद्ध फैकल्टी के बोर्ड से तत्संबंधी प्रारूप प्राप्त करने के पश्चात् विश्वविद्याय की विभिन्न परीक्षाओं तथा उपाधियों के पाठ्य-क्रमों की व्यवस्था करने के लिये विनियम बना सकती है।

(५) विद्वत् परिषद् फैकल्टी के बोर्ड से प्राप्त प्रारूप में परिवर्तन नहीं कर सकती है, किन्तु प्राप्त प्रारूप को अस्वीकार कर सकती है या उसे अपने सुझावों सहित और अधिक विचार करने के लिये फैकल्टी के बोर्ड को वापस कर सकती है।

छात्रों का निवास

३१—छात्र, विश्वविद्यालय द्वारा अनुरक्षित या उपकुलपति द्वारा अनुमोदित निवासों में नियत शर्तों के अधीन रहते हुये, रहेंगे।

अधिकारों का प्रतिनिधायन

३२—बोर्ड इस अधिनियम द्वारा प्राप्त अपने किसी अधिकार को परिनियम द्वारा किसी पदाधिकारी या प्राधिकारी को, ऐसे प्रतिबंधों तथा शर्तों के अधीन, जो नियत किये जायँ, प्रयोग करने के लिये दे सकता है।

वार्षिक प्रतिवेदन

३३—विश्वविद्यालय का वार्षिक प्रतिवेदन उपकुलपति के निदेशाधीन तैयार किया जायगा तथा बोर्ड द्वारा राज्य सरकार को उस वार्षिक बैठक के एक मास पूर्व प्रस्तुत कर दिया जायगा जिसमें उस पर विचार किया जायगा।

लेखे और लेखा परीक्षा

३४—(१) विश्वविद्यालय का वार्षिक लेखा और रोकड़-पत्र उपकुलपति के निदेशाधीन तैयार किये जायँगे और किसी भी साधन से विश्वविद्यालय को प्राप्त हुई समस्त धनराशियाँ और ऐसी धनराशियां जिनका वितरण अथवा भुगतान किया गया हो, खेल में दर्ज की जायँगी।

संबंध में यह महत्वपूर्ण है कि अपीलकर्ता जब अपने बहनोई के घर पकड़ा गया तो उसने पूछा तक नहीं कि वह क्यों पकड़ा जा रहा है वरन् इसके विपरीत उसने साथियों से कहा कि हम २० रु० और एक बकरा देंगे और आप हमें बचा लें। यह बयान उसको अपराधी बनानेवाली प्रकृति का है और इस संबंध में यदि महेश्वर साय का बयान सत्य है तो यह पूर्णरूपेण स्वेच्छा से दिया हुआ बयान है, प्रश्न करने के परिणामस्वरूप नहीं। इसलिए मनुष्य के सिर के लिये ८० रु० दिए जाने की बात दोषस्वीकृति की सत्यता को अनिवार्यतः समाप्त नहीं करती।

यह मामला ऐसा है जिसमें दोषस्वीकृति और परिस्थितियों को एक साथ देखना चाहिए। उपर्युक्त परिस्थितियाँ अभियुक्त को दोषी सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। विद्वान् अतिरिक्त न्यायिक आयुक्त ने, जो मनुष्य के बालों का गुच्छा मिला था, उसे स्पष्ट करने के लिये प्रश्न नहीं पूछा था। अभियुक्त के विरुद्ध यह एक महत्वपूर्ण स्थिति थी और इसे स्पष्ट करने के लिये दं० प्र० संहिता की धारा ३४२ के अंतर्गत प्रश्न पूछना चाहिए था किंतु पूछा नहीं गया। विद्वान् अतिरिक्त न्यायिक आयुक्त ने दं० प्र० संहिता की धारा २३७ का पालन नहीं किया। किंतु इन त्रुटियों से अभियुक्त को कोई हानि नहीं पहुँची है। परिस्थिति ऐसी थी कि यदि उससे पूछा जाता तो उसने इनकार ही किया होता।

सारांश यह है कि नीचे के न्यायालय का यह निर्णय ठीक था कि दोषस्वीकृति का बयान स्वेच्छापूर्वक दिया गया था और प्रतिग्राह्य है। इसको असत्य प्रमाणित करने के लिये कोई आधार नहीं है। अगहनी के बयान को छोड़ देने पर भी और परिस्थितियाँ ऐसी हैं जो दोषस्वीकृति के साथ वैशाखी के वध के अपराध से अभियुक्त के संबंध को स्थापित कर देती हैं। इन सबसे केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि कुछ रुपए की आशा से अपीलकर्ता ने वैशाखी की हत्या की।

परिस्थिति को देखते हुए दंडादेश में हस्तक्षेप करने में औचित्य नहीं है। इन कारणों से हमारा निर्णय है कि अपील में बल नहीं है और उत्सर्जित की जानी चाहिए।

अपील उत्सर्जित

———

विधि पत्रिका वर्ष ३, १९५९ सर्वोच्च न्यायालय ९

(इलाहाबाद से : ए० आई० आर०

१९५९ इलाहाबाद ३८३)

२३ सितंबर, १९५८

एस० आर० दास मुख्य न्यायाधिपति, एन० एच० भगवती, बी० पी० सिंह, के० सुब्बाराव और के० एन० वांचू न्यायमूर्तिगण

विक्री कर अधिकारी; बनारस तथा अन्य अपीलकर्तागण

वि०

कन्हैयालाल मुकुंदलाल सराफ उत्तरवादी आगरा (बुलियन एक्सचेंज) तथा अन्य अंतस्थ (इंटरवीनर्स)

व्यवहार अपील सं० ८७।१९५७

अ—संविदा अधिनियम (कंट्रेक्ट ऐक्ट) १८७२, धा० ७२—धा० ७२ में 'गलती' (मिस्टेक) शब्द में विधि और तथ्य (ला ऐंड फैक्ट) दोनों प्रकार की गलती आती है—धा० ७२ और धा० २१ तथा २२ में विरोध नहीं है—विधि संबंधी गलती के कारण यदि रुपया दिया गया है तो वह वापस किया जा सकता है।

ब—संविदा अधिनियम (१८७२), धा० ७२—विधि (ला) संबंधी गलती में पड़कर करदाता ने यदि कर दे दिया है तो और वह धन सरकार ने दूसरे कामों में लगा दिया है तब भी करदाता को रुपया वापस पाने का अधिकार है।

स—साक्ष्य अधिनियम (१८७२), धा० ११५—यदि दोनों ही पक्ष विधि संबंधी गलती में पड़े हैं तो प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) का प्रश्न नहीं पैदा होता—यदि उपबंध स्पष्ट हो तो समता (इक्युटेबुल) विचार नहीं लागू किया जा सकता।

द—परिनियमों की व्याख्या—भारतीय परिनियम के उपबंध यदि स्पष्ट हों तो उनकी व्याख्या के लिये विदेशी निर्णयों का सहारा नहीं लिया जा सकता।

य—व्यवहार प्रक्रिया संहिता (१९०८) धा० ११२—उच्च न्यायालय के समक्ष बात मान ली गई किंतु अपील में सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष वही बात उठाई गई तो इसे उठाने की अनुमति प्रदान नहीं करना चाहिए।

र—व्यवहार प्रक्रिया संहिता, (१९०८) धा० ११२—स्पष्ट रूप से जो बात न तो उच्च न्यायालय में कही गई है और न तो अपीलकर्ता ने जो बयान सर्वोच्च न्यायालय में दाखिल किया है उसमें है तो भी सर्वोच्च न्यायालय इस पर बहस करने की अनुमति दे सकता है यदि वास्तव में यह प्रश्न अपील के विषय में आता है।

न्यायमूर्ति एन० एच० भगवती—

इस अपील के तथ्य इस प्रकार हैं। उत्तरवादी भारतीय साझेदारी अधिनियम (इंडियन पार्टनरशिप ऐक्ट) के अंतर्गत एक रजिस्टर्ड फर्म है जो बनारस में स्वर्ण-पिंड (बुलियन गोल्ड) चाँदी के आभूषण और भावी संविदा (फारवर्ड कंट्रेक्ट्स) में व्यापार करता है। कर निर्धारण वर्ष १९४८-४९, १९४९-५० और १९५०-५१ में बनारस के विक्रीकर अधिकारी ने चाँदी के व्यापार पर कर लगाया। उत्तरवादी ने रुपया जमा किया।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय के एक निर्णय बुद्धप्रकाश जयप्रकाश वि० विक्रीकर अधिकारी कानपुर, १९५२ ए० एल० जे० ३३२ (ए० आई० आर० १९५२ इलाहाबाद ७६४) में निर्णय हुआ कि (फारवर्ड ट्रैंजैक्शंस) पर विक्री कर का लगना शक्ति परस्तात् (अल्ट्रा वारस) है। इसके बाद उत्तरवादी ने उपर्युक्त विक्रीकर का जमा किया रुपया वापस माँगा। उ० प्र० के विक्री कर के आयुक्त ने रुपया वापस करने से इनकार कर दिया।

इसके बाद उत्तरवादी ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में लेख प्रार्थनापत्र निवेशित किया कि उत्प्रेषण लेख (रिट आफ् सेर्टियोरेरी) जारी करके कर निर्धारणवाले आदेश अभिखंडित किए जाँय और परमादेश लेख (रिट आफ् मैंडमस) जारी करके जमा किया हुआ कुल १३६५ रु० १२ आना वापस किया जाय। इलाहाबाद उच्च न्यायालय का वह निर्णय इस न्यायालय के निर्णय द्वारा मान लिया गया (ए० आई० आर० १९५४ सर्वोच्च न्यायालय ४५९) और उस लेख प्रार्थनापत्र की सुनवाई न्यायमूर्ति चतुर्वेदी ने की। विद्वान् न्यायाधीश ने कर-निर्धारणवाला आदेश अभिखंडित कर दिया और परमादेश लेख जारी किया कि उत्तरवादी ने जो रुपया जमा किया है उसे वापस कर दिया जाय।

अपीलकर्ता ने विद्वान् न्यायाधीश के आदेश के विरुद्ध इलाहाबाद उच्च न्यायालय में विशेष अपील निवेशित किया। उच्च न्यायालय के विभागीय न्यायासन ने उस अपील की सुनवाई किया और उसके समक्ष उत्तर प्रदेश के महाधिवक्ता ने बहस किया कि यह रुपया विधि संबंधी गलती के कारण दिया गया है इसलिए अब वापस नहीं किया जा सकता। उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि संविदा अधिनियम की धारा ७२ इसमें लागू होती है और सरकार को यह रुपया वापस करना चाहिए क्योंकि यह अवैध तरीके से लिया गया था। इस प्रकार वह अपील परिव्यय (कास्ट्स) के साथ उत्सर्जित कर दी गई।

अपीलकर्ताओं ने संविधान के अनुच्छेद १३३ (१) (बी०) के अंतर्गत प्रमाणपत्र के लिये प्रार्थना किया और प्रमाणपत्र दिया गया। इस प्रकार यह अपील सुनवाई के लिये और अंतिम निर्वर्तन के लिये आई है।

इसमें निर्णय का प्रमुख प्रश्न है कि भारतीय संविदा अधिनियम की धारा ७२ इसके तथ्यों में लागू होती है कि नहीं।

अपीलकर्ता की ओर से यहाँ कहा गया है कि विक्रीकर अधिनियम में ही अपील और पुनरीक्षण के लिये प्रक्रिया (प्रोसीजर) है और उत्तरवादी को उसी प्रक्रिया

का पालन करना चाहिए था यदि उसने ऐसा नहीं किया तो व्यवहार न्यायालय में वह रुपया वापस पाने की कार्यवाही नहीं कर सकता और किसी भी अवस्था में लेख प्रार्थनापत्र रुपया वापस पाने के लिये निवेशित नहीं किया जा सकता। उच्च न्यायालय के समक्ष महाधिवक्ता ने स्पष्ट बयान दिया है इसलिए वे दोनों प्रश्न अब यहाँ नहीं उठाए जा सकते। दूसरे इस प्रश्न की चर्चा न तो अपील के आधार में है और न तो यहाँ दिए हुए वाद विवरण में है—सारा मामला इस आधार पर चला है कि उत्तरवादी को लेख प्रार्थनापत्र में रुपया वापस पाने का अधिकार है। इसलिए इस विषय को यहाँ पर उठाने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

भारतीय संविदा अधिनियम की धारा ७२ इन शब्दों में है :—

"उस व्यक्ति को वह रुपया दे देना चाहिए या लौटा देना चाहिए जो उसे गलती (मिस्टेक) से या दबाव में पड़कर दिया गया है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन शब्दों द्वारा विधि की गलती या तथ्य की गलती में भेद नहीं बतलाया गया है। 'गलती' (मिस्टेक) शब्द का प्रयोग बिना किसी शर्त के किया गया है इसलिए इसमें विधि और तथ्य दोनों की गलती आती है। फिर भी इंगलैंड, अमेरिका, और आस्ट्रेलिया में विधि की इस स्थिति के आधार पर विधि की गलती के कारण जो रुपया दिया गया है उसे वापस नहीं किया जा सकता अतः बहस यह की गई है कि धारा ७२ का भी यही अभिप्राय होता है।

इसमें संदेह नहीं कि इंगलैंड अमेरिका और आस्ट्रेलिया में स्थिति यह है कि रुपया जब स्वेच्छा से दिया जाता है अर्थात् रुपया देने के लिये बाध्य नहीं किया गया था या अनधिकृत दबाव नहीं डाला गया था और संपूर्ण तथ्यों से अवगत होने पर रुपया दिया गया था तो उसे वापस नहीं लिया जा सकता यद्यपि वह बिना किसी प्रतिफल (कंसिडरेशन) के था। देखना है कि क्या यही अवस्था भारत में भी है?

पहले धा० ७२ पर विचार करना है। यदि धारा के उपबंध स्पष्ट हैं तो विदेश में इस संबंध में विधि की क्या स्थिति है इसका महत्व समाप्त हो जाता है। दूसरे देशों में विधि की क्या स्थिति है इस पर विचार करने की आवश्यकता उस समय पड़ सकती है जब कि धारा में कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष अस्पष्टता हो और न्यायालय को विधान मंडल के वास्तविक विचार को स्थिर करना हो। यदि परिनियम के शब्दों में ऐसी कोई अस्पष्टता न हो तो न्यायालय का यह कर्तव्य है कि परिनियम के सादे शब्दों का अर्थ लगाकर उनको लागू करे। १८६१ ए० सी० १०७ पृ० १४४ पर इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया गया था कि परिनियम का अर्थ लगाने के लिये बाहर भ्रमण नहीं करना चाहिए वरन् उसकी भाषा का ही सादा अर्थ लगाना चाहिए अन्यथा उस परिनियम का महत्व ही समाप्त हो जायगा।

इसको आई० एल० आर० २३ कलकत्ता ५६३ में माना गया था और प्रिवी कौंसिल ने भी मोहरी बीबी वि० धर्मदास घोष ३० भारतीय अपील्स ११४ में व्याख्या के इसी सिद्धांत का समर्थन किया था। इसमें प्रिवी कौंसिल को संविदा अधिनियम धारा १० की व्याख्या करनी थी। उनके सामने पहले के निर्णय थे जिनमें अवयस्क की संविदा को केवल विवर्ज्य (वायडेबुल) कहा गया था। इस विषय पर समय समय पर बहुत से न्यायाधीशों ने विरुद्ध निर्णय दिया था और कुछ निर्णयों में अवयस्क (माइनर) की संविदा को प्रभावशून्य (वायड) भी कहा गया था। जब उपर्युक्त मुकदमे में यह प्रश्न उठा कि अवयस्क द्वारा की गई संविदा प्रभावशून्य है क्या केवल विवर्ज्य तो श्रीपतियों ने इसके निर्णय के लिये स्वयं संविदा अधिनियम पर ही आना उचित समझा, इसके पहले विधिक स्थिति क्या थी इसको छोड़ दिया। इन्होंने स्पष्ट कहा कि :—

"सारा प्रश्न स्वयं संविदा अधिनियम के अर्थ पर ही आ जाता है।" उन्होंने इसके निर्णय के लिये संविदा अधिनियम की कतिपय धाराओं को उद्धृत किया और तब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संविदा प्रभावशून्य है या विवर्ज्य इस पर विचार करने के पहले यह मान लिया गया रहता है कि अधिनियम के अंतर्गत कोई संविदा

थी और अवयस्क यदि उसमें हो तो यह प्रश्न उठता ही नहीं क्योंकि उसमें संविदा करने की सामर्थ्य है ही नहीं।

ए० आई० आर० १६५४ सर्वोच्च न्यायालय ४४ में संविदा अधिनियम की धारा ५६ विचाराधीन थी। उसमें निर्णय देते समय समर्थन में न्यायमूर्ति फजलअली का ए० आई० आर० १६५२ सर्वोच्च न्यायालय ६ में व्यक्त विचार उद्धृत किया गया था कि भारतीय संविदा अधिनियम में जो बात दी हुई है वह स्वतः पूर्ण है और इस परिनियमित उपबंध के लिये विदेश के सिद्धांत का सहारा नहीं लेना चाहिए। इंगलैंड के निर्णय केवल (परसुएसिव) होते हैं। इन निर्णयों से केवल इतना ही काम लिया जा सकता है कि ऐसी ही परिस्थिति में इंगलैंड में ऐसा निर्णय हुआ था, इससे अधिक नहीं।

इसलिए यह स्पष्ट है कि उपबंध के ठीक अर्थ और उसके ठीक अभिप्राय को समझने के लिये हमें स्वयं परिनियम के शब्दों पर ही आ जाना चाहिए—इन सब पर विचार करना एकदम छोड़ देना चाहिए कि पहले की विधि की स्थिति क्या थी या जब उस परिनियम का अधिनियमन हुआ तो इंगलैंड या अन्य देशों में स्थिति क्या थी। यदि ऐसा नहीं किया गया तो वह व्याख्या करना न होकर विधि का बनाना होगा। (देखिए ए० आई० आर० १६१८ प्रिवी कौंसिल २८१ पृ० २८३ पर)

भारतवर्ष के न्यायालयों ने उपर्युक्त सिद्धांत को नहीं अपनाया है और कई निर्णय हुए हैं कि यदि विधि संबंधी गलती में पड़कर रुपया दिया गया है तो उसमें धा० ७२ लागू नहीं होती। देखिए ए० आई० आर० १६२० बंबई १६२ और ए० आई० आर १६१६ मद्रास १७७। इन निर्णयों के आधार मुख्यतया इगलैंड के निर्णय हैं और भारतीय संविदा अधिनियम की धारा २१ है जिसमें दिया हुआ है कि कोई संविदा केवल इस आधार पर विवर्ज्य नहीं होगी कि वह ब्रिटिश भारत में लागू किसी विधि के बारे में गलती के कारण हुई हो। दूसरी ओर कलकत्ता उच्च न्यायालय ने ए० आई० आर० १६४६ कलकत्ता २४५ में निर्णय दिया था कि भारतीय संविदा अधिनियम की धारा ७२ में तथ्य की ही गलती नहीं है वरन् इसमें विधि के संबंध की भी गलती आती है। इसमें यह भी कहा गया कि इस धारा में और संविदा अधिनियम की धारा २१ में विरोध नहीं है कारण कि वह धारा विधि की गलती के कारण रुपया देने में लागू नहीं होती वरन् विधि की गलती के कारण संविदा होने में लागू होती है जब कि धारा ७२ गलती के कारण रुपया देने के संबंध में है जो कि या तो संविदा के अंतर्गत होता ही नहीं या यदि होता भी है तो यह संविदा का कारण नहीं होता।

प्रिवी कौंसिल ने इस मतभेद को शिवप्रसाद सिंह वि० श्रीचंद चांदी (ए० आई० आर० १६३८ प्रिवी कौंसिल २६७) में दूर कर दिया। उसमें श्रीपतियों ने कहा कि "गलती" (मिस्टेक) का अर्थ करनेवाले प्रमाण बहुत ही कम हैं और यह नहीं कहा जा सकता कि कोई निश्चित निर्णय हुआ है इसलिए उन्होंने कहा कि हमें इस प्रश्न पर विचार करना है। प्रिवी कौंसिल के श्रीपतियों का कहना है कि उन विद्वान् न्यायाधीशों ने जिन्होंने "गलती" शब्द का बहुत ही सीमित अर्थ लगाया है प्रतीत होता है कि वे पोलक और मुल्ला के भारतीय संविदा अधिनियम की धारा ७२ के भाष्य से प्रभावित थे। उस भाष्य में है कि यों तो विधि की गलती को इस धारा द्वारा हटाया नहीं गया है किंतु धा० २१ से पता चलता है कि यह शामिल नहीं किया गया है। इसी के आधार पर ए० आई० आर० १६२० बंबई १६२ में निर्णय हुआ था कि देखने में यही आता है कि गलती में विधि की गलती भी है किंतु धा० २१ में है कि कोई संविदा इस आधार पर विवर्ज्य (वायडेबुल) नहीं होगा कि वह ब्रिटिश भारत में लागू किसी विधि की गलती के कारण की गई है। इस धारा का प्रभाव ही उस समय समाप्त हो जायगा जब कि एक पक्ष विधि की गलती के कारण दिए हुए रुपए को धा० ७२ के अंतर्गत वापस पा सकता है और धा० २१ के अंतर्गत संविदा लागू भी रहेगी। बंबई उच्च न्यायालय ने कहा था कि यह पोलक और मुल्ला का तर्क है जो सही प्रतीत होता है। ए० आई० आर० १६१६ मद्रास १७७ में निर्णय हुआ था कि

"गलती" का यों तो सीमित अर्थ नहीं किया जा सकता किंतु यह वही गलती है जिसके लिये धा० २० और २१ में सहायता प्रदान की जा सकती है और भारत में स्थिति यह है कि यदि किसी ने विधि की गलती के कारण रुपया दे दिया है तो समता के आधार पर उसे वापस करने के लिये सहायता प्रदान नहीं की जा सकती। धा० ७२ का सीमित अर्थ करनेवाला इसके अतिरिक्त कोई अन्य निर्णय नहीं है। प्रिवी कौंसिल के श्रीपतियों ने कहा कि यह तर्क गलत है। यदि विधि की किसी गलती में पड़कर कोई संविदा हुई है तो धा० २१ कहती है कि इस कारण वह संविदा विवर्ज्य (वायडेबुल) नहीं है। यदि उस संविदा के अंतर्गत रुपया दिया गया है तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह रुपया विधि की किसी गलती के कारण दिया गया; यह इसलिए दिया गया कि एक वैध संविदा के अंतर्गत इसे देना था और यदि नहीं दिया जाता तो जबरदस्ती वसूल किया जाता। 'गलती से रुपया देना' इसका धा० ७२ के अंतर्गत यह अर्थ होता है कि रुपया विधिक रूप से देय (ड्यू) नहीं है और जिसको जबरदस्ती वसूल नहीं किया जा सकता; यह सोचना कि रुपया देय (ड्यू) है जब कि वास्तव में वह देय नहीं है। धा० २१ और धा० ७२ में कोई विरोध नहीं है और धा० २१ के साथ इसके असंगत होने की बात यदि ठीक है तो धा० २२ से भी यह असंगत होनी चाहिए और निष्कर्ष यह निकलेगा कि धा० ७२ तथ्य की गलती में भी लागू नहीं होगी। श्रीपतियों ने धारा ७२ का सीमित अर्थ नहीं लगाया पर एक बात स्पष्ट कर दी कि यह सिद्धांत प्रत्येक परिस्थिति में समान रूप से लागू नहीं होगा। कुछ परिस्थितियाँ जैसे प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) आदि ऐसी हो सकती हैं कि रुपया वापस नहीं किया जा सकता।

हमारा निर्णय है कि प्रिवी कौंसिल के श्रीपतियों ने धा० ७२ का जो अर्थ किया है वह ठीक है। इस धारा में 'गलती' (मिस्टेक) शब्द का जो प्रयोग किया गया है उसका सीमित अर्थ नहीं होता वरन् इसमें विधि एवं तथ्य दोनों प्रकार की गलती आ आती है। धा० ७२ और धा० २१ तथा धा० २२ में कोई विरोध नहीं है। सिद्धांत यह है कि एक पक्ष यदि गलती से चाहे वह गलती विधि की हो या तथ्य की दूसरे पक्ष को रुपया देता है जो रुपया कि संविदा के अंतर्गत या अन्य प्रकार से देय (ड्यू) नहीं है तो वह रुपया वापस कर देना चाहिए। गलती यह सोचने में हो जाती है कि यह रुपया देना है जब कि वास्तव में रुपया देना नहीं रहता और जब यह प्रमाणित हो जाता है कि ऐसी गलती हुई तो जिस पक्ष ने रुपया दिया है उसे रुपया वापस पाने का अधिकार है।

अपीलकर्ता के विद्वान् वकील ने अपना मुकदमा प्रिवी कौंसिल के उपर्युक्त निर्णय में कही हुई इस बात के अंतर्गत लाने का प्रयत्न किया कि ऐसी बात नहीं है प्रत्येक परिस्थिति में रुपया वापस पाने का अधिकार होगा, प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) आदि के आधार पर रुपया वापस पाने का अधिकार समाप्त भी हो सकता है। इस विचार के आधार पर यहाँ कहा गया है कि रुपया वापस करने योग्य परिस्थिति नहीं है कारण कि एक तो यह रुपया विक्रीकर के दायित्व के संबंध में वसूल किया गया था और अपनी इच्छा से उत्तरवादी ने इसे दिया था; इसके देते समय कोई विरोध नहीं किया गया। दूसरे, उ० प्र० सरकार ने जो यह रुपया प्राप्त किया उसे इसने दूसरे दूसरे मदों में खर्च कर दिया इसलिए अब उत्तरवादी का रुपया वापस पाने का अधिकार समाप्त हो गया। यहाँ भी मैं यह कह देना आवश्यक समझता हूँ कि यह बात न तो उच्च न्यायालय के समक्ष कही गई और न तो इस न्यायालय के मुकदमे के विवरण में है। फिर भी मैंने इस पर बहस इसलिए सुना कि यह इस प्रश्न के निर्वर्तन के लिये कि धारा ७२ इस मुकदमे के तथ्य में लागू होती है कि नहीं, आवश्यक है।

(१) यह कर उ० प्र० सरकार ने जिस मद में लिया था उस मद में उसे लेने का अधिकार नहीं था, इस संबंध में उपबंध शक्ति परस्तात् (आल्ट्रा वारस) हो चुका है। तात्पर्य है कि उत्तरवादी समझता था कि कर देना है जब कि वास्तव में कर देना नहीं था, विधि की यह गलती स्थापित हो जाने पर उत्तरवादी को रुपया वापस पाने का अधिकार धा० ७२ के अंतर्गत है। यह

बहस की गई है कि यह रुपया उ० प्र० विक्रीकर अधिनियम के अंतर्गत दायित्व पर दिया गया इसलिए यह 'कर' (टैक्स) का दायित्व था और यदि धा० ७२ लागू भी हो तो इसे वापस नहीं लिया जा सकता। इस बात के समर्थन में मद्रास की दो रूलिंग्स दिखलाई गई ए० आई० आर० १९३४ मद्रास ४२० और ए० आई० आर० १९३७ मद्रास ५५९ जिनमें निर्णय हुआ था कि कर का दिया जाना धा० ७२ के पहले भाग के अंतर्गत नहीं आता। उच्च न्यायालय ने आगे फिर विचार किया कि क्या यह धा० ७२ के दूसरे भाग में आता है ? अर्थात् क्या यह दबाव में पड़कर (अंडर कोअर्सन) दिया हुआ रुपया है ? उन मुकदमों के तथ्य के आधार पर निर्णय दिया गया कि पक्ष ने स्वेच्छा से रुपया दे दिया इसलिए उन्हें वापस पाने का अधिकार नहीं है। स्वेच्छा से दिया हुआ या दबाव डालकर दिया हुआ रुपया इनमें अंतर दिखलाया गया और वह रुपया जो विधि की गलती के कारण दिए जाने पर भी स्वेच्छा से दिया गया, निर्णय हुआ था कि वह वापस नहीं हो सकता। ऐसे निर्णय अपील कर्ता को सहायता नहीं पहुंचा सकते। ए० आई० आर० १९४९ प्रिवी कौंसिल २९७ के उपर्युक्त निर्णय में प्रिवी कौंसिल ने इन मामलों का निश्चायक निर्णय दिया है कि यदि उस पक्ष ने विधि संबंधी गलती के कारण रुपया दे दिया है तो उसे वापस पाने का अधिकार है और जिस पक्ष ने ऐसा रुपया प्राप्त किया है उसे लौटाना पड़ेगा—चाहे कर का यह रुपया हो चाहे किसी अन्य प्रकार का हो। कर के रुपए और अन्य प्रकार के रुपए में अमेरिका में अंतर होता है पर यहाँ इनमें कोई अंतर नहीं है। यह निर्णय देना कि कर के रूप में दिया हुआ रुपया वापस नहीं हो सकता विधि की व्याख्या करना नहीं होगा वरन् विधि का बनाना होगा क्योंकि इसके लिये "कर के रूप में दिया हुआ रुपया छोड़कर" आदि शब्द उस धारा में जोड़ना होगा।

जिस समय यह रुपया दिया गया उस समय दोनों पक्ष विधि की गलती में थे। ए० आई० आर० १९५२ इलाहाबाद ७६४ में ऐसा निर्णय हुआ और इस न्यायालय ने उसे ए० आई० आर० १९५४ सर्वोच्च न्यायालय ४५९ में मान लिया इसके बाद स्थिति जब निश्चित हो गई तो उत्तरवादी को वह रुपया वापस पाने का अधिकार हो गया। उत्तरवादी के मस्तिष्क की स्थिति पर यदि विचार करना है तो वह केवल इतना ही है कि वह विधि की गलती में था कि नहीं। उच्च न्यायालय के समक्ष यही बात थी कि उत्तरवादी ने विधि संबंधी गलती के कारण रुपया दिया था इसलिए उसे रुपया वापस पाने का अधिकार है। धारा ७२ के देखने से ज्ञात होता है कि इसके लिये केवल दो बातें प्रमाणित करनी चाहिए एक यह कि रुपया गलती से दे दिया गया या दबाव पड़ने पर दिया गया। यदि गलती चाहे विधि संबंधी या तथ्य की स्थापित हो जाती है तो जिस पक्ष ने यह रुपया प्राप्त किया है उसे लौटाना पड़ेगा और इस संबंध में कोई बाहरी विचार जैसे यह स्वेच्छा से दिया गया या इसमें प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) छोड़ देना (वेवर) या अवधि (लिमिटेशन) आदि पर विचार नहीं किया जायगा और इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वह परिस्थिति यदि एक बार स्थापित हो गई है तो उस पक्ष को सहायता पाने का अधिकार है। दूसरी ओर यदि न तो विधि की गलती और न तो तथ्य की गलती स्थापित होती है तो रुपया वापस पाने के लिये उस पक्ष को प्रमाणित करना पड़ेगा कि वह रुपया दबाव में डालकर वसूल किया गया। जब यह स्थिति होती है तब इसका महत्व हो जाता है कि रुपया स्वेच्छा से दिया गया या दबाव पड़ने पर देना पड़ा।

ए० आई० आर० १९४९ प्रिवी कौंसिल २९७ में प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) की जो चर्चा की गई है वह उस स्थिति में हो सकती है जब प्रतिवादी को वादी के आचरण द्वारा यह बतला दिया गया हो कि उसे अपना ही रुपया समझें और इस विश्वास के कारण उसने सब खर्च कर दिया तो इस प्रकार परिस्थिति बदल जाने पर प्रतिष्टंभ के सिद्धांत के अनुसार वादी यह नहीं कह सकता कि वह गलती से दिया गया। इस संबंध में विषय सं० २ में विचार किया जायगा।

२—प्रतिष्टंभ का सिद्धांत क्या लागू होता है या परिस्थितियाँ ऐसी हैं जिनके कारण यह कहा जा सकता

कि उत्तरवादी को रुपया वापस पाने का अधिकार नहीं है यह सब प्रत्येक मुकदमे के तथ्य और उनकी परिस्थितियों पर निर्भर करता है। प्रतिष्टंभ का सिद्धांत उस समय लागू नहीं हो सकता जब कि इस मामले की तरह दोनों पक्ष विधि संबंधी गलती में पड़े रहते हैं और किसी एक पक्ष का दोष अधिक नहीं दिखलाया जा सकता। प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) केवल उस समय लागू होता है जब कि वादी अपने आचरण और अपने कार्य द्वारा कुछ तथ्यों के विषय में प्रतिवादियों को प्रतिनिवेदन (रिप्रजेंटेशन) करता है जिसको कार्यान्वित करने पर प्रतिवादी को हानि पहुँचती है; केवल इसी अवस्था में वादी को उससे भिन्न तथ्य कहने के लिये मना किया जाता है। यदि इस स्थिति का लाभ विधि संबंधी प्रतिनिवेदन के संबंध में लिया जाय तो ऐसा कोई अवसर नहीं आता क्योंकि यहाँ ऐसी गलती दोनों ओर समान रूप से है। समता (इक्युटी) के सिद्धांत पर न्यायालय परिस्थिति के अनुसार रुपया वापस करने को बाध्य नहीं कर सकता है किंतु यहाँ विधि के स्पष्ट उपबंध के सामने समता का सिद्धांत लागू नहीं किया जा सकता। समता के सिद्धांत को नागपुर उच्च न्यायालय ने लागू किया था किंतु नागपुर उच्च न्यायालय के उक्त विचार से हम सहमत नहीं हैं।

प्रिवी कौंसिल के उपर्युक्त निर्णय में इसी समता के सिद्धांत पर बहस की गई थी कि जो व्यक्ति समता चाहता है उसे स्वयं समता वर्तनी चाहिए के सिद्धांत पर जिस अवयस्क के विरुद्ध संविदा प्रभावशून्य घोषित हो चुकी है उसे चाहिए कि संविदा के अंतर्गत उसने जो लाभ उठाया है उसे वापस कर दे। इस बहस के उत्तर में प्रिवी कौंसिल के श्रीपतियों ने (१६०२) चांसरी १ के निम्नलिखित अंश को उद्धृत किया जिससे वे सहमत थे। वह अंश इस प्रकार था:—

"संक्षिप्त उत्तर यह है कि समता का न्यायालय यह नहीं कह सकता कि समता के सिद्धांत के अनुसार लेनदेन के किसी रुपए के बारे में किसी व्यक्ति को देने के लिये बाध्य किया जाय जब कि विधान मंडल ने उस व्यक्ति के विरुद्ध लेनदेन को प्रभावशून्य घोषित कर दिया है।"

निर्णय के उपर्युक्त आधार को श्रीपतियों ने उस समय विचारार्थ मामले में लागू किया था और उस कथन को माना नहीं। केवल इस कारण कि उ० प्र० सरकार के पास अब वह रुपया है नहीं वरन् उसने अपने व्यापार के सामान्य क्रम में खर्च कर दिया है स्थिति में कोई अंतर नहीं पैदा करता और भारतीय संविदा अधिनियम की धारा ७२ के स्पष्ट उपबंधों के अनुसार उत्तरवादी को वह रुपया वापस पाने का अधिकार है जो उसने विधि की गलती के कारण उ० प्र० सरकार को दिया है।

परिणामत: इस मामले के तथ्यों में धारा ७२ लागू न होने के संबंध में जितने तर्क दिए गए हैं उनमें से कोई भी अपीलकर्ता को लाभ नहीं पहुँचा सकता और इसलिए अपील उत्सर्जित की जाती है।

अपील उत्सर्जित

विधि पत्रिका वर्ष ३, १६५६ सर्वोच्च न्यायालय १५
(कलकत्ता से ए० आई० आर० १६५७ कलकत्ता २४)
(३० अक्टूबर १६५८)

एस० आर० दास मुख्य न्यायाधिपति, एन० एच० भगवती, बी० पी० सिंह के० सुब्बाराव और के० एन० वीचू न्यायमूर्ति गण

पी० के० मित्रा — अपीलकर्ता

वि०

पश्चिमी बंगाल राज्य तथा अन्य— उत्तरवादीगण

आपराधिक अपील सं० ११६।१६५६

दंड प्रक्रिया संहिता, (१८६८), धा० ४३१-४३६—दोषसिद्ध (कनविक्टेड) व्यक्ति द्वारा पुनरीक्षण—प्रार्थनापत्र के विचाराधीनवस्था में ही उसकी मृत्यु हो जाना—उपशमन (अबेटमेंट)--दोषसिद्धि और दंडादेश (कनविक्शन एंड सेटेंस) के औचित्य पर विचार करने के बारे में उच्च न्यायालय का अधिकार

न्यायमूर्ति बी० पी० सिंह—

कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा प्रमाणपत्र दिए जाने पर यह अपील हुई है। इसमें इस प्रश्न पर विचार करना है कि दं० प्र० संहिता की धारा ४३६ के अंतर्गत

उच्च न्यायालय में विचाराधीन पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र प्रार्थी की मृत्यु होने पर क्या अंतिम रूप से उपशमित (अबेट) हो जाता है और यदि हो जाता है तो किस सीमा तक।

इसके तथ्य इस प्रकार हैं। अपीलकर्ता के पिता की जो रेलवे में लिपिक था 'दोषसिद्धि अलीपुर के प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट ने की थी। दो धनराशि के बारे में धोखा देने के कारण उसकी दोषसिद्धि हुई थी। एक २५०-१३-० का था और दूसरा ३३-४-० का। मजिस्ट्रेट ने धोखा देने (चीटिंग) के अभियोग में उसे २५०-१३-० के लिये दोषी ठहराया और दूसरी धन-राशि के बारे में उसे संदेह का लाभ देकर छोड़ दिया। उसे १ दिन का दंड दिया गया तथा इसके साथ ५०० रु० अर्थ दंड दिया गया और अर्थ दंड का भुगतान न करने पर ६ महीने और कठोर कारावास का दंड दिया गया। उन्होंने यह भी निर्देश दिया कि अर्थ दंड का रुपया यदि वसूल हो जाय तो उसमें से ३३३रु० रेलवे प्रशासन को प्रतिकर रूप में दिया जाय। इसके विरुद्ध अपील करने पर अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश ने अपील उत्सर्जित कर दिया और मजिस्ट्रेट द्वारा दोषसिद्धि और दंडादेश मान लिया।

नीचे के निर्णय और आदेश से असंतुष्ट होने पर अभियुक्त ने दं० प्र० संहिता की धा० ४३६ के अंतर्गत पुनरीक्षण अधिक्षेत्र के अंतर्गत कलकत्ता उच्च न्यायालय में प्रार्थनापत्र दिया। उच्च न्यायालय ने (रूल) जारी किया और आदेश दिया कि जब तक 'रूल' की सुनवाई नहीं हो जाती तब तक अर्थ दंड के रुपए की वसूली रुकी रहेगी। उच्च न्यायालय में जब यह मामला विचारा-धीन था उसी बीच अभियुक्त की मृत्यु हो गई। उसकी विधवा स्त्री के अतिरिक्त उसके ५ बच्चे थे जिनमें केवल प्रार्थी ही वयस्क था। प्रार्थी ने प्रार्थना-पत्र दिया कि मैं मृतक अभियुक्त का उत्तराधिकारी हूँ और उसकी दोषसिद्धि तथा दंडादेश को चुनौती देने में हमारा हित है इसलिए पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र में भी पक्ष बना दिया जाय। इस प्रार्थनापत्र को उच्च न्यायालय ने प्रतिस्थापना (सबस्टीट्यूशन) का प्रार्थनापत्र कहा था। विभागीय न्यायासन ने इस प्रार्थनापत्र की सुनवाई किया और निर्णय दिया कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा ४३१ का सिद्धांत आपराधिक पुनरीक्षण में उस समय भी लागू होता है जब कि दंडादेश (सेंटेंस) मिश्रित (कंपोजिट) हो किंतु यह केवल उसी सीमा तक लागू होता है जहाँ तक अर्थ दंड का संबंध है। इसलिए प्रतिस्थापना प्रार्थनापत्र स्वीकार कर लिया गया। उच्च न्यायालय ने स्पष्ट कह दिया कि दोषसिद्धि (कनविक्शन) पर इसलिए आपत्ति नहीं की जा सकती कि दंडादेश मिश्रित (कंपोजिट) है अर्थात् इसमें कारावास और अर्थ दंड दोनों प्रकार का दंड दिया गया है और इस-लिए पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र केवल इसी सीमा तक लागू होगा कि अर्थ दंड का आदेश क्या उचित है या क्या यह बहुत कड़ा है।

इस प्रकार उच्च न्यायालय ने दोषसिद्धि के तत्व पर विचार करने से इनकार कर दिया और अपने को केवल इसी प्रश्न के निर्णय तक सीमित रखा कि ५०० रु० का अर्थ दंड क्या बहुत ही कड़ा है? अभियुक्त का कहना था कि मुझपर आरोप अधिक लगाया गया है और मैं अतिरिक्त धन लौटा देने को तैयार हूँ। उच्च न्यायालय ने आदेश दिया कि इसे केवल २०५-१३ कर दिया जाय और अर्थ दंड का सब रुपया यदि वसूल हो गया तो रेलवे को दे दिया जाय। इस आदेश से असंतुष्ट होने पर प्रार्थी ने उच्च न्यायालय में प्रार्थनापत्र दिया और उपयुक्तता का आवश्यक प्रमाणपत्र प्राप्त किया। अतः उच्च न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद १३४ (१) सी० के अंतर्गत स्वीकृत प्रमाणपत्र पर यह अपील यहाँ सुनवाई के लिये आई है।

इस संबंध में संहिता में केवल धा० ४३१ है जो इन शब्दों में है:—

"४३१—धा० ४११ ए० उपधारा (२) या धा० ४१७ के अंतर्गत प्रत्येक अपील अभियुक्त की मृत्यु पर अंतिम रूप से उपशमित हो जायगी और इस अध्याय के अंतर्गत कोई अन्य अपील (अर्थ दंड के विरुद्ध अपील के सिवा) अपीलकर्ता की मृत्यु पर अंतिम रूप से उपशमित (अबेट) हो जायगी।"

इस धारा से यह स्पष्ट है कि यह केवल अपील में लागू होती है। दं० प्र० संहिता १८८२ (अधिनियम १०, १८८२) में पहलेपहल धा० ४३१ आई। बंबई उच्च न्यायालय के एक विभागीय न्यायासन (डिवीजन बेंच) के समक्ष धारा ४३१ पर विचार किया गया (आई० एल० आर० १९ बंबई ७१४)। इसके तथ्य थोड़े में इस प्रकार हैं कि दो व्यक्तियों की दोषसिद्धि हुई और प्रत्येक व्यक्ति को १ वर्ष कठोर कारावास और १००० रु० अर्थदंड दिया गया। दोनों व्यक्तियों ने उच्च न्यायालय में अपील निवेशित किया। अपील जब विचाराधीन थी उसी बीच एक व्यक्ति की मृत्यु हो गई। जो व्यक्ति जीवित था उसकी अपील का निर्वर्तन उच्च न्यायालय ने किया और उसकी दोषसिद्धि तथा दंडादेश निराकृत कर दिया। इसके बाद मरे हुए अपीलकर्ता के एक संबंधी ने उच्च न्यायालय के पुनरीक्षण (रिविजनल) अधिक्षेत्र के अंतर्गत प्रार्थनापत्र दिया कि मृतक व्यक्ति की दोषसिद्धि और उसके विरुद्ध पारित दंडादेश निराकृत किया जाय तथा दिया हुआ अर्थदंड का रुपया वापस कर दिया जाय। इसमें उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि मृतक व्यक्ति के संबंध में धारा ४३१ के अनुसार अपील का उपशमन (अबेटमेंट) हो चुका है। उच्च न्यायालय ने इसमें पुनरीक्षण अधिक्षेत्र के अंतर्गत विचार करने से इसलिए इनकार कर दिया कि यह मामला साक्ष्य के परीक्षण पर निर्भर करता है।

आई० एल० आर० २ बंबई ५६४ में सत्र न्यायाधीश द्वारा अभियुक्त को ४ वर्ष कठोर कारावास का दंड और १००० रुपया अर्थदंड दिया गया था। अपील की सुनवाई हुई नहीं थी कि अभियुक्त की मृत्यु जेल में हो गई क्योंकि उसकी जमानत नहीं हुई थी। यह मामला विभागीय न्यायासन के समक्ष आया। इसमें न्यायमूर्ति मेलविल का विचार था कि अपीलकर्ता के मरने पर अपील का उपशमन हो गया और अपील के न्यायालय के पद से उच्च न्यायालय का काम समाप्त हो गया। उन्होंने यह भी निर्णय दिया कि चूँकि दोषसिद्धि के आदेश में विधि की कोई गलती नहीं है और यह भी नहीं दिखलाया गया कि दंडादेश बहुत ही अधिक था इसलिए इसमें

उच्च न्यायालय अपने पुनरीक्षण अधिक्षेत्र का प्रयोग नहीं कर सकता। अपने निर्णय में उन्होंने कहा कि यों तो मृतक व्यक्ति के विधिक प्रतिनिधि का हित इसमें रहता है कि अर्थदंड आदि का आदेश समाप्त हो जाय किंतु (१८७२ की) दं० प्र० संहिता ने विधिक प्रतिनिधि को उस व्यक्ति के मरने पर अपील करने का अधिकार नहीं दिया है इसलिए अपील की सुनवाई और इसका निर्णय तत्व पर नहीं दिया जा सकता। न्यायमूर्ति केंबाल केवल इस बात से तो सहमत हुए कि मृतक का विधिक प्रतिनिधि अपील नहीं कर सकता पर वे इस बात से सहमत नहीं हुए कि अपील का उपशमन हो गया और उच्च न्यायालय की अपील के न्यायालय का अधिकार अपीलकर्ता की मृत्यु के बाद समाप्त हो गया। उनका यह विचार था कि अपील के अभिलेख न्यायालय के समक्ष हैं और न्यायालय जैसा उचित समझे अपील में आदेश पारित कर सकता है। उनका यह विचार इस आधार पर प्रतीत होता है कि उसके मरने पर यह प्रश्न तो समाप्त हो जाता है कि उसने कितना दंड भुगत लिया और कितना शेष है किंतु यदि समय के भीतर अर्थदंड का रुपया नहीं दिया गया है तो इसमें विधिक प्रतिनिधि का हित रहता है। दूसरे शब्दों में उनका निष्कर्ष था कि इसमें संदेह नहीं कि पुनरीक्षण न्यायालय के पद से उच्च न्यायालय इसका निर्वर्तन कर सकता है लेकिन उनका यह भी कहना था कि अपील के न्यायालय के पद से न्यायालय को निर्णय देना अनिवार्य है। इस प्रकार दो न्यायाधीशों में मतभेद होने पर इसे मुख्य न्यायाधिपति वेस्ट्रप के समक्ष रखा गया। विद्वान् मुख्य न्यायाधिपति मेलविल न्यायमूर्ति से सहमत हुए कि विधिक प्रतिनिधि द्वारा अपील नहीं हो सकती और दोषसिद्ध व्यक्ति की मृत्यु पर अपील में उच्च न्यायालय के अधिकार की समाप्ति हो जाती है। उनका यह निर्णय मुख्यतया इस आधार पर आधारित था कि अपील निवेशित करने का अधिकार और अपील चालू रखने का अधिकार स्पष्टतया परिनियम द्वारा या उसके आवश्यक ध्वनितार्थ द्वारा दिया गया रहता है। इस विचार को धारा ४३१ में अब परिनियमित मान्यता प्रदान कर दी गई है। उन्होंने यह भी निर्णय दिया कि यों तो

अपील उपशमित हो चुकी है पर उच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि स्वतः वह अभिलेख को मँगा ले और पुनरीक्षण अधिक्षेत्र का प्रयोग करे किंतु उन्होंने इस पर कोई विचार प्रकट नहीं किया कि इस मामले में पुनरीक्षण अधिक्षेत्र का प्रयोग किया जा सकता है कि नहीं।

जैसा उपबंध अपील के लिये धारा ४३९ में दिया गया है वैसा कोई उपबंध पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र में लागू होने के लिये नहीं है पर धारा ४३९ के अंतर्गत उच्च न्यायालय का जो पुनरीक्षण का अधिकार दिया गया है उसके अंतर्गत वह जो उचित समझे आदेश पारित कर सकता है। वास्तव में यह विवेक का अधिकार है और इसका प्रयोग न्याय के साथ करना चाहिए। उच्च न्यायालय को इस अधिकार का प्रयोग करना चाहिए कि नहीं यह उस मुकदमें के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है। पुनरीक्षण में पक्षों को कोई अधिकार (राइट) नहीं होता; इसमें उच्च न्यायालय को यह अधिकार (पावर) दिया गया रहता है कि वे देखा करें कि नीचे के न्यायालय आपराधिक विधिशास्त्र के मान्य सिद्धांत के अनुसार काम करते हैं कि नहीं और संहिता द्वारा प्रदान किए हुए अधिक्षेत्र (जुरिडिक्शन) के बाहर तो नहीं जाते और उसके द्वारा दिए हुए अधिकार का दुष्प्रयोग तो नहीं करते। दूसरी ओर अपील का अधिकार परिनियमित अधिकार है और प्रत्येक न्यायालय को इसे मानना पड़ता है तथा विवेक (डिस्क्रीशन) का प्रयोग करके स्वयं उच्च न्यायालय भी इसे इनकार नहीं कर सकता। इसलिए विधान मंडल ने अपीलकर्ता के मरने पर प्रतिस्थापना (सब्स्टीट्यूशन) के लिये नियम तो स्पष्ट रूप से धारा ४३१ में दे दिया है किंतु इस प्रकार का कोई उपबंध अध्याय २२ में नहीं है जो आपराधिक पुनरीक्षण के संबंध में है। यदि विधानमंडल का अभिप्राय यह होता कि विचाराधीन पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र का काम उसी प्रकार होगा जिस प्रकार अपील का होता है तो इसके लिये इस प्रकार का अधिनियम हुआ होता। किंतु यदि ऐसा अधिनियम नहीं हुआ तो इससे यह पता चलता है कि संहिता के अध्याय २२ में उच्च न्यायालय को जो अधिकार दिया गया वह ज्यों का त्यों है और प्रत्येक मामले की आवश्यकतानुसार उसका प्रयोग होता रहता है। उच्च न्यायालय को पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र का लेना अनिवार्य नहीं है और पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र स्वीकार करने पर प्रत्येक अवस्था में प्रतिस्थापना (सबस्टीट्यूशन) का आदेश देना भी अनिवार्य नहीं है। कुछ एकाकी न्यायाधीश ने जैसा निर्णय दिया है उच्च न्यायालय मिश्रित दंडादेश (कंपोजिट सेंटेंस) के रहने के कारण पुनरीक्षण को उपशमित (अबेटेड) ठहराने के लिये बाध्य नहीं है। उच्च न्यायालय को प्रार्थी के मरने पर विचाराधीन मामलों में अपने विवेक का प्रयोग न्याय के लिये करने की पूरी छूट दी गई है। चाहे अभियुक्त हो चाहे परिवादी (कंप्लेनेंट) यदि उसने उच्च न्यायालय के पुनरीक्षण अधिक्षेत्र के अंतर्गत प्रार्थनापत्र दिया गया है, और उच्च न्यायालय ने यदि 'रूल' जारी किया है तो उस 'रूल' की सुनवाई और उसका निर्वर्तन विधि के अनुसार होना चाहिए चाहे उच्च न्यायालय का वह प्रार्थी जीवित हो या मर गया हो या उसकी ओर से कोई वकील उपस्थित हो या न हो। संहिता की धारा ४३९ के अंतर्गत अधिकार का प्रयोग करते समय उच्च न्यायालय परिनियमित काम आपराधिक पक्ष के निरीक्षण और प्रशासन का करता है इसलिए अपील के उपशमनवाला उपबंध पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र में नहीं लागू हो सकता। इसलिए हमारे विचार से बंबई उच्च न्यायालय के उपर्युक्त निर्णय में इस संबंध में ठीक बात कही गई है।

कुछ एकाकी न्यायाधीशों ने निर्णय दिया है कि यों तो धारा ४३१ के शब्द पुनरीक्षण में लागू नहीं होते किंतु उनके सिद्धांत पुनरीक्षण में लागू होते हैं। उनमें से प्रत्येक पर अलग अलग विचार करने की आवश्यकता नहीं है। कोई परिनियम इसके बारे में नहीं है फिर भी हमारा निर्णय है कि दोषसिद्ध व्यक्ति की मृत्यु के बाद भी उच्च न्यायालय को मामले पर विचार करने का अधिकार है कारण कि यह मृतक की उस संपत्ति पर प्रभाव डालता है जो मरने के बाद उसके विधिक प्रतिनिधि के हाथ में आ चुकी रहती है। अब विचार इस पर करना है कि क्या उच्च न्यायालय को अपने पुनरीक्षण का अधिकार केवल अर्थदंड तक ही सीमित रखना उचित

है और इसके लिये दोषसिद्धि के आदेश के तत्व पर विचार नहीं करना है ? एक बार जब यह तय हो जाता है कि उच्च न्यायालय को ऐसे मामलों के पुनरीक्षण का अधिकार है तो फिर इसे सीमित नहीं किया जा सकता। संहिता की धारा ४३९ में है कि अपील के न्यायालय के समस्त अधिकार उच्च न्यायालय को प्राप्त हैं और परिस्थिति के अनुसार जैसी आवश्यकता पड़े उच्च न्यायालय अपने विवेक के अनुसार उन अधिकारों का प्रयोग कर सकता है—दंडादेश को बढ़ाने तक का भी अधिकार दिया गया है बशर्ते कि अभियुक्त के विरुद्ध कोई आदेश पारित तब तक नहीं करना चाहिए जब तक अपनी बात कहने के लिये अभियुक्त को अवसर न दे दिया गया हो। यहाँ हमारा संबंध दंड बढ़ाने से नहीं है हमारा संबंध इतना ही है कि क्या कोई ऐसा उपबंध है जो किसी निर्णय, दंडादेश या आदेश की सत्यता, वैधता या औचित्य का परीक्षण करने में उच्च न्यायालय के विवेक प्रयोग पर कोई रोक लगाता है। दोषसिद्ध व्यक्ति की मृत्यु पर उसके कारावास के पूर्ण दंड भुगतने या आंशिक दंड भुगतने का प्रश्न पैदा नहीं होता पर अर्थ दंड का आदेश तब भी रह जाता है कि क्या विधि पर यह आधारित है। इस प्रश्न पर अच्छी तरह विचार तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि स्वयं दोषसिद्धि के आदेश का परीक्षण तत्व पर नहीं किया जाता। यदि विधिक प्रतिनिधि को इस कारण अपील या पुनरीक्षण को चालू रखने का अधिकार दिया जाता है कि वह रुपया मृतक की संपत्ति से देना है तो इसी सिद्धांत के अनुसार उसे दोषसिद्धि के आदेश को भी चुनौती देने का अधिकार देना चाहिए क्योंकि जब तक दोषसिद्धि रहती है तो नाम-मात्र का ही अर्थदंड क्यों न हो मृतक की संपदा से देना पड़ेगा। इसलिए हमारे विचार से यदि उच्च न्यायालय उचित समझता है कि पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र स्वीकार किया जाय या स्वयं अभिलेख मँगाता है तो अर्थदंड के आदेश की सत्यता, वैधता और उसके औचित्य पर विचार करने का उसे पूरा अधिकार है और इस प्रकार स्वयं दोषसिद्धि के आदेश के परीक्षण की आवश्यकता पड़ जाती है।

उपर्युक्त कारणों से हम अपील स्वीकार करते हैं और और इसे उच्च न्यायालय में भेज देते हैं कि विधि के अनुसार इसकी सुनवाई हो।

प्रतिप्रेषित (रिमांडेड)

———

विधि पत्रिका वर्ष ३, १९५९ सर्वोच्च न्यायालय १९

(बंबई से)

४ नवंबर, १९५८

एन० एच० भगवती, के सुब्बाराव और के० एन० वांचू न्यायमूर्तिगण

भोगीलाल चुन्नीलाल पंड्या— अपीलकर्ता

वि०

बंबई राज्य — उत्तरवादी

आपराधिक अपील सं० ३१।१९५८

साक्ष्य अधिनियम (१८७२), धा० १५७, १७ से २१, ३२, ३९ और १४५—अभिकथन (स्टेटमेंट) का अर्थ

न्यायमूर्ति के० एन० वांचू—

यह अपील विशेष अनुमति पर आई है। यह अपील केवल इसी प्रश्न तक सीमित है कि कुछ अभिलेख एक आपराधिक अन्वीक्षा में साक्ष्य में प्रतिग्राह्य (ऐडमिसिबुल) हैं कि नहीं। अपीलकर्ता पर आरोप यह था कि ४,१४,७५० रु० का सापराध न्यास दुरुपयोग (क्रिमिनल ब्रीच आफ ट्रस्ट) किया है। अभियोजन साक्षियों में गोपी किसन अध्यक्ष, मोदी मंत्री और संतूक कंपनी के वादेक्षक (सालिसिटर) थे। जब इस गड़बड़ी का पता चला तो गोपी किसन, मोदी संतूक और अपीलकर्ता के बीच कुछ बातचीत हुई। इस पर संतूक ने इस बातचीत का उपस्थिति विवरण तैयार किया। यह उपस्थिति विवरण जिस

पर प्रदर्श ५ पढ़ा था संतूक के अभिसाक्ष्य के संपोषण के लिये दिया गया। अन्वीक्षा न्यायाधीश के समक्ष इस विवरण की प्रतिग्राह्यता (ऐडमिसिबिलिटी) पर दो आधारों पर आपत्ति की गई—

१—यह कि उन्हें साक्ष्य में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि संहिता की धारा १७३ के अंतर्गत उनकी प्रतिलिपि नहीं दी गई है।

२—यह कि इन्हें साक्ष्य में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि साक्ष्य अधिनियम की धारा १५७ के अंतर्गत वे संतूक के साक्ष्य का संपोषण (करोबोरेशन) नहीं कर सकते।

अन्वीक्षा न्यायाधीश ने इन दोनों बातों को नहीं माना और उक्त विवरण को साक्ष्य में स्वीकार कर लिया। उन्होंने इसका निर्देश जूरी को कर दिया। जूरी ने बहुमत से अपीलकर्ता को निर्दोषी कहा। इस पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा ३०७ के अंतर्गत अन्वीक्षा न्यायाधीश ने इसका निर्देश उच्च न्यायालय को किया और उच्च न्यायालय ने प्रदर्श ५ के साथ समस्त साक्ष्यों पर विचार किया और अपीलकर्ता को दोषी ठहराया।

अपीलकर्ता के विद्वान् वकील ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा १७३ के आधार पर इस विवरण की प्रतिग्राह्यता (ऐडमिसिबिलिटी) पर आपत्ति उठाया है जो ए० आई० आर० १९५७ सर्वोच्च न्यायालय ७३७ के अनुसार है। उन्होंने इस बात पर बहुत ही अधिक जोर दिया है कि यह साक्ष्य अधिनियम की धारा १५७ के अंतर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उनका कहना है कि 'अभिकथन' (स्टेटमेंट) शब्द जो इस धारा में प्रयुक्त है उसका तात्पर्य यह होता है कि जिस व्यक्ति का यह अभिकथन है उससे और दूसरे व्यक्ति के बीच आदान प्रदान (कम्युनिकेटेड) हुआ हो और इसके अंतर्गत कोई यह लिखावट या स्मृतिपत्र (मेमोरंडम) नहीं आ सकता जो अपने निजी प्रयोग के लिये होता है। और जिसका किसी से आदान प्रदान नहीं हुआ रहता। कहा गया कि साक्ष्य अधिनियम की धारा १५९ के अंतर्गत यह लिखावट साक्षी की स्मरण शक्ति को ताजा करने के लिये प्रयुक्त हो सकता है। संक्षेप में विद्वान् वकील का कहना है कि ऐसी लिखावट केवल धारा १५९ के अंतर्गत ही प्रयुक्त हो सकती है धारा १५७ के अंतर्गत नहीं, कारण कि इस धारा के अंतर्गत जो 'अभिकथन' (स्टेटमेंट) शब्द प्रयुक्त है ध्वनितार्थ से इसका अर्थ यह होता है कि दूसरे व्यक्ति से आदान प्रदान हुआ हो।

साक्ष्य अधिनियम में 'अभिकथन' शब्द की परिभाषा नहीं दी गई है। इसलिए इसके ठीक अर्थ के लिये हमें शब्दकोश का सहारा लेना होगा। इस शब्द का प्रयोग इस अधिनियम में अन्य स्थलों पर जिस अर्थ में हुआ है उसकी भी सहायता लेनी है।

शार्टर आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी और वेब्स्टर्स न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी में 'अभिकथन' (स्टेटमेंट) शब्द का अर्थ दिया हुआ है कि 'वह जो अभिकथित हो।' शार्टर आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी में इसका दूसरा अर्थ है लिखित या मौखिक आदान प्रदान (कम्युनिकेशन)। इसमें संदेह नहीं कि अभिकथन का किसी अन्य व्यक्ति से आदान प्रदान (कम्युनिकेशन) हो सकता है किंतु यह इसका मुख्य अर्थ नहीं है। इसलिए जब तक धारा १५७ में कोई ऐसी बात नहीं दिखलाई जाती जिससे बाध्य होकर धारा १५७ में अभिकथन शब्द का जो अर्थ दिया हुआ है उसके मुख्य अर्थ को छोड़ना पड़े तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि धारा १५७ के अभिकथन का आदान प्रदान होना आवश्यक है। साक्ष्य अधिनियम में अभिकथन शब्द का प्रयोग कई जगह इसके मुख्य अर्थ (वह जो अभिकथित हो) में हुआ है इसलिए यह अर्थ धारा १५७ में भी लागू होना चाहिए जब तक कि उसका वह अर्थ इस धारा के लिये सीमित न कर दिया गया हो। किसी परिनियम में प्रयुक्त शब्द सर्वत्र एक ही अर्थ रखते हैं जब तक प्रसंग के अनुसार कोई विरुद्ध बात नहीं आती।

धारा १७ से २१ तक की धाराओं में 'अभिकथन' शब्द आया है। ये धाराएँ 'स्वीकृति' (ऐडमिशन) के संबंध में हैं। धारा १८ से २० तक की धाराओं में दिया

हुआ है कि अभिकथन ही स्वीकृति (ऐडमिशन) होता है। इन धाराओं में इतना ही है कि 'उसके द्वारा अभिकथित।' इसमें संदेह नहीं कि कुछ अभिकथन उसी व्यक्ति के विरुद्ध 'स्वीकृति' (ऐडमिशन) के रूप में प्रयुक्त हो सकता है यद्यपि इस अभिकथन का आदान प्रदान नहीं हुआ रहता। उदाहरणार्थ लेखा पुस्तिका (एकाउंट बुक) का यह अभिकथन कि हमारे ऊपर अमुक व्यक्ति का इतना ऋण है उसके विरुद्ध स्वीकृति (ऐडमिशन) रूप में प्रयुक्त हो सकता है यद्यपि इसका आदान प्रदान नहीं हुआ रहता इसी प्रकार धारा २१ में भी अभिकथन शब्द का प्रयोग इसके मुख्य अर्थ में हुआ है। इसके 'अभिकथन' होने के लिये आदान प्रदान की आवश्यकता नहीं है।

इस संबंध में दूसरी धारा ३२ है। यह उस अभिकथन के बारे में है जो किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा था जो अब साक्ष्य देने में असमर्थ है या उसे बुलाने में अब बहुत देर हो सकती है या इतना अधिक खर्च हो सकता है कि न्यायालय उसे उचित नहीं समझता। इसी प्रकार इसमें अन्य उपबंध हैं जिनसे पता चलता है कि अभिकथन के लिये उसके आदान प्रदान की आवश्यकता नहीं है।

धारा ३६ में दिया हुआ है कि कोई अभिकथन किसी उस लेख्य (डाकूमेंट) में हो सकता है जो कि किसी पुस्तक का एक भाग है। इसमें भी इसके अभिकथन होने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि इस अभिकथन का किसी दूसरे व्यक्ति के साथ आदान प्रदान हुआ हो।

धारा १४५ में है कि साक्षी का जो पहला अभिकथन लिख लिया गया है उसके संबंध में विरोध दिखलाने के लिये उसका प्रतिपरीक्षण (क्रास एक्जामिनेशन) किया जा सकता है। इस धारा के अंतर्गत साक्षी ने वह अभिकथन जो अपनी डायरी में लिखा है उसके द्वारा उसका प्रतिवाद (कंट्राडिक्शन) किया जा सकता है यद्यपि कि डायरी के उस अभिकथन का कभी आदान प्रदान नहीं हुआ था।

अब धारा १५७ में जो अभिकथन है उसके लिये कोई कारण नहीं है कि क्यों न उसको प्रमुख अर्थ में प्रयुक्त न माना जाय। इस धारा से यह पता नहीं चलता कि इसके लिये आदान प्रदान का होना आवश्यक है। बहस की गई है कि इसके लिये यदि आदान प्रदान की शर्त न मानी जाय तो कोई साक्षी अपने उस अभिकथन से संपोषण कर सकता है जो उसने स्वयं लिखा है पर छिपा कर रखा था और यह बहुत ही खतरनाक होगा। इसके लिये इस लिखावट की प्रतिग्राह्यता और इसके महत्व के अंतर को समझ लेना है। धारा १५७ के अंतर्गत इस प्रकार के अभिकथन की भी प्रतिग्राह्यता का नियम है किंतु ऐसे संपोषण को कितना महत्व प्रदान करना चाहिए यह दूसरी बात है और इसका निर्णय न्यायालय को परिस्थिति के अनुसार करना है। जिस साक्षी का संपोषण किया जाना है वह न्यायालय में लाया जाता है और उसका प्रतिपरीक्षण (क्रासएक्जामिनेशन) हो सकता है। प्रतिपरीक्षण से यह दिखलाया जा सकता है कि इस पूर्व अभिकथन पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। उस साक्षी का प्रतिपरीक्षण हो सकता है इसलिए विद्वान् वकील ने जिस खतरे की बात कही गई है वह वास्तव में है नहीं। साक्षी जो उपस्थित होकर बयान देता है मुख्य साक्ष्य वही होता है और इस प्रकार का लेख्य केवल उसके संपोषण (करोबोरेशन) के लिये होता है। इसलिए मुख्य साक्ष्य की विश्वसनीयता ही यदि प्रतिपरीक्षण द्वारा समाप्त कर दी जाती है तो इस प्रकार के लेख्य द्वारा संपोषण का महत्व ही समाप्त हो जाता है। खतरे की जो बात कही जाती है वह वास्तव में है नहीं इसलिए इस धारा में प्रयुक्त 'अभिकथन' शब्द का भिन्न अर्थ लगाना ठीक नहीं है।

विद्वान् वकील ने मुख्यतया धारा १५६ की ओर संकेत इसलिए किया कि प्रदर्श नं० ५ जैसे लेख्य केवल स्मरणशक्ति को ताजा करने के लिये ही प्रयुक्त हो सकते हैं। किंतु उन्होंने यह नहीं बतलाया कि जो धारा १५६ में आता है वह निश्चय ही धारा १५७ के के 'अभिकथन' शब्द में नहीं आता। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति जब कोई बात हुई हो उस समय किसी दूसरे व्यक्ति

को उस बात के बारे में पत्र लिख सकता है और इसे अपनी स्मरणशक्ति को ताजा करने के प्रयोग में भी ला सकता है। कोई पत्र दूसरे व्यक्ति से आदान प्रदान के लिये होता है और इसलिए अपीलकर्ता के विद्वान् वकील के कहने के अनुसार भी यह धारा १५७ के अंतर्गत अभिकथन है और संपोषण के लिये प्रयुक्त हो सकता है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि कोई वह लेख्य जो धारा १५९ के अंतर्गत स्मरणशक्ति को ताजा करने के लिये प्रयुक्त होता है वह धारा १५७ के अंतर्गत अभिकथन नहीं हो सकता। धारा १५९ विशेष परिस्थितियों के लिये है और उसमें 'अभिकथन' शब्द का प्रयोग भी नहीं हुआ है। धारा १५७ में 'अभिकथन' शब्द का क्या अर्थ होता है इसके लिये धारा १५९ तनिक भी सहायता नहीं प्रदान कर सकती। धारा० १५९ में दिए हुए प्रतिबंध के साथ जो लिखावट होती है केवल उसी की चर्चा है जब कि धारा १५७ के संपोषण के लिये यह लिखित भी हो सकता है और मौखिक भी। यही कारण है कि धारा १५७ और धारा १५९ की भाषा में अंतर है परंतु इस अंतर का यह अर्थ नहीं निकल सकता कि धारा १५७ के अभिकथन के लिये आदान प्रदान का होना आवश्यक है। 'अभिकथन' शब्द के मुख्य अर्थ पर और साक्ष्य अधिनियम की कई धाराओं पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धारा १५७ के अंतर्गतवाले अभिकथन शब्द का अर्थ इतना ही होता है कि जो अभिकथित हो और अभिकथन होने के लिये इसके आदान प्रदान की आवश्यकता नहीं है। इसलिए उक्त उपस्थिति विवरण धारा १५७ के अंतर्गत अभिकथन है और धारा १५७ के अंतर्गत संतूक के साक्ष्य के संपोषण के लिये प्रतिग्राह्य होगा।

ए० आई० आर० १९३८ रंगून १७४ में रंगून उच्च न्यायालय का पूर्ण न्यायासन संपोषण की प्रकृति के संबंध में विचार कर रहा था जब कि अभियुक्त के विरुद्ध साक्ष्य सहापराधी का हो। इस प्रकार जो प्रश्न यहाँ है उस प्रकार का प्रश्न रंगून उच्च न्यायालय के समक्ष नहीं था। इसमें विद्वान् न्यायाधीशों नेधारा १५७ के लिये कहा था कि विधि का यह सिद्धांत अब निश्चित हो चुका है कि कोई व्यक्ति स्वयं अपना संपोषण नहीं कर सकता। इसमें जो निश्चित सिद्धांत की बात कही गई है वह इंगलैंड के निश्चित सिद्धांत की बात है जो इंगलिश इविडेंस ऐक्ट १९३८ के पहले था। साक्ष्य अधिनियम १९३८ द्वारा विधि में परिवर्तन किया गया और अब प्रदर्श ५ की तरह का विवरण जो यहाँ है वह कुछ शर्तों के साथ इंगलैंड में प्रतिग्राह्य है। चूँकि उपर्युक्त निर्णय में इस प्रकार का कोई स्पष्ट प्रश्न नहीं था इसलिए वह सहायता नहीं प्रदान कर सकता।

दूसरी रूलिंग ए० आई० आर० १९२८ प्रिवी कौंसिल ५४ है। उसमें एक पत्र के बारे में कहा गया था कि वह पत्र इस धारा के अंतर्गत किसी भी प्रयोग के लिये स्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारे विचार से यह विचार भी अपीलकर्ता को सहायता नहीं प्रदान कर सकता क्योंकि उस पत्र का आदान प्रदान हुआ था फिर भी उसे धारा १५७ के लिये नहीं माना गया।

इसलिए विद्वान् न्यायाधीश ने जब उस पत्र को अस्वीकार किया तो इस आधार पर नहीं कि इस अभिकथन का आदान प्रदान नहीं हुआ था वरन् यह उसके मूल्य के कारण अस्वीकार किया गया।

इसलिए यह स्पष्ट है कि धारा० १५७ में जो 'अभिकथन' शब्द का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ होता है कि जो अभिकथित हो और इसका दूसरे व्यक्ति से आदान प्रदान होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार संतूक ने जो उपस्थिति विवरण तैयार किया था वह धारा १५७ के अर्थ के अंतर्गत अभिकथन है और साक्ष्य में प्रतिग्राह्य है।

परिणामतः यह अपील असफल होती है और एतद् द्वारा उत्सर्जित की जाती है।

—अपील उत्सर्जित

———

विधि पत्रिका वर्ष ३, १९५९ सर्वोच्च न्यायालय २३

(बंबई से)

२४ सितंबर, १९५८

वी० पी० सिंह, एस० जे० इमाम और जे० एल० कपूर न्यायमूर्तिगण

एस० एम० जकाती तथा अन्य — अपीलकर्तागण

विरुद्ध

एस० एम० बोर्कर तथा अन्य — उत्तरवादीगण

अ—साक्ष्य अधिनियम (१८७२), धारा ४३—सहकारी समिति के उप प्रस्तोता ने रुपया देने का आदेश पारित किया—उसके पुत्र ने परवर्ती कार्यवाही में उस आदेश को इसलिए प्रस्तुत किया कि उससे पता चलता था कि यह ऋण अव्यावहारिक था—निर्णय हुआ कि उक्त निर्णय प्रतिग्राह्य नहीं हो सकता।

ब—हिंदू विधि—अव्यावहारिक ऋण का अभिप्राय - संयुक्त परिवार—मिताक्षरा संदायदता (कोपार्सनरी)—यदि पिता ने ऋण लिया है तो पुत्र का उसे चुकाना एक धार्मिक बंधन है।

स—व्यवहार प्रक्रिया संहिता (१९०८), धारा ५१—मिताक्षरा संदायदता—हिंदू पिता के विरुद्ध डिग्री का पारित होना—पुत्र का धार्मिक बंधन में होना—इसको कैसे लागू किया जा सकता है :

द—व्यवहार प्रक्रिया संहिता (१९०८) धारा ५३—पिता के विरुद्ध रुपए की डिग्री का पारित होना—पुत्र द्वारा पिता के ऋण का चुकता करने के संबंध में धार्मिक बंधन—बँटवारा हो जाने पर भी यह बंधन रहता है।

य—व्यवहार प्रक्रिया संहिता (१९०८), आ० २१ नि० ९४—न्यायालय के विक्रय द्वारा निर्णीत ऋणी (जजमेंट डेटर) का अधिकार, स्वत्व (टाइटिल) और हित (इंटरेस्ट) हस्तांतरित होता है।

र—हिंदू विधि—पिता द्वारा लिया हुआ ऋण—कब अव्यावहारिक नहीं कहा जा सकता।

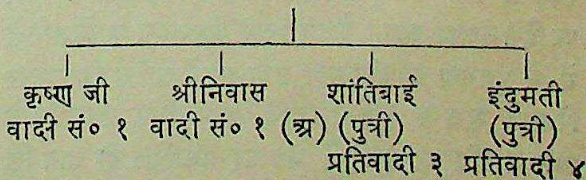
न्यायमूर्ति जे० एल० कपूर (उनके साथ यस० जफर इमाम) न्यायमूर्ति।

यह अपील बंबई उच्च न्यायालय के निर्णय और डिग्री के विरुद्ध निवेशित की गई है। इसमें अन्वीक्षा न्यायालय की डिग्री को बदलकर बँटवारा के बाद अपने परिवार की संपत्ति पर धारण (पोजेशन) पानेवाले वादी के वाद में डिग्री दी गई थी।

इसके तथ्य इस प्रकार है। प्रतिवादी १ धारवार अरबन कोआपरेटिव बैंक लिमिटेड का प्रबंधकारी संचालक था। इस बैंक का अवसायन (लिक्युडेशन) हो गया। यह काम करने के लिये उसे १०००) प्रतिवर्ष मिलता था। प्रतिवादी सं० १ के विरुद्ध बैंक के अवसायक (लिक्युडेटर) ने कार्यवाही किया और इस संबंध में सहकारी समितियों के उप प्रस्तोता ने १५, १०० रु० देने का आदेश दिया और रुपया देने के इस आदेश के निष्पादन के सिलसिले में प्रतिवादी सं० १ के एक बंगले को कलक्टर ने कुर्क कर लिया। तत्संबंधी विधिक कार्यवाही के प्रसंग में प्रतिवादी १ ने प्रार्थनापत्र दिया कि बिक्री स्थगित कर दी जाय पर यह प्रार्थनापत्र अस्वीकार कर दिया गया। इसका नीलामी विक्रय हो गया तथा २२ जून १९४३ को इसका स्थिरीकरण भी हो गया। इसको खरीदनेवाले एस० एन० बोर्कर प्रतिवादी सं० ७ थे जो यहाँ उत्तरवादी सं० १ हैं। १० फरवरी १९४४ को इस उत्तरवादी सं० १ ने यह संपत्ति वर्तमान उत्तरवादी गण सं० २ से ४ को बेच दिया।

मामले को समझने के लिये निम्नलिखित वंशावली से सहायता मिलेगी।

माधवराव बालकृष्ण जकाती-प्रतिवादी १=भीमाबाई-प्रतिवादी २



१५ जनवरी १९४३ को प्रतिवादी सं० १ के एक पुत्र ने संयुक्त परिवार की संपत्ति के बँटवारे के लिये तथा उसके अलग से धारण के लिये एक वाद निवेशित किया। इसमें उसका कहना था कि उत्तरवादी १ ने जो बँगले को खरीदा है उसका बंधन संयुक्त परिवार पर नहीं है कारण कि प्रतिवादी १ के अवैध और अनैतिक काम के संबंध में यह बेचा नहीं जा सकता था। वह नीलामी विक्रय बंबई भूराजस्व संहिता की धारा १५५ के अंतर्गत था और इस धारा के अंतर्गत केवल पिता का अधिकार स्वत्व और हित ही बेचा जा सकता था और इसलिए परिवार के अन्य सदस्यों का हिस्सा नहीं बेचा गया। उसका कहना था कि हम आजकल अपनी मौसी के साथ रहते हैं और पिता से हमसे पटती नहीं और हमारा पालन पोषण भी पिता नहीं करते हैं। १२ जनवरी १९४४ को अपीलकर्ता १ अपना लिखित अभिकथन निवेशित किया कि मैं बँटवारा मानता हूँ और हमारा हिस्सा भी अलग कर दिया जाय। उसने तत्कालीन वादी के वाद का समर्थन किया कि उत्तरवादी १ के पक्ष में जो विक्रय है उसका बंधन संयुक्त परिवार पर नहीं है प्रतिवादी २ माता ने भी वादी का समर्थन किया और कृष्ण जी की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारी के पद से अपने हिस्से का दावा किया। आरंभिक वादी कृष्ण जी के मरने पर श्री निवास अपीलकर्ता १ की प्रतिस्थापना वादी के स्थान पर हुई।

वाद का विरोध मुख्य रूप से उत्तरवादी १ से ४ तक के लोगों ने किया। उत्तरवादी १ का कहना है कि वादी ने जो यह बँटवारे का दावा किया है वह प्रतिवादी १ की साजिश से किया गया है और सद्भावना नहीं है। उसका कहना है कि प्रतिवादी ने बैंक के काम में असावधानी दिखलाया उसी के कारण वह देनदार ठहराया गया है। प्रतिवादी १ को इस काम के लिये वार्षिक भत्ता मिलता था और यह संपत्ति परिवार के ऊपर ऋण रहने से बेची गयी और इसलिए इसका बंधन परिवार पर है। उसका कहना है कि इसके निष्पादन के सिलसिले में में पुत्रगण आपत्ति नहीं उठा सकते कारण कि उनपर पिता के ऋण के चुकता करने का धार्मिक बंधन है; वे तभी आपत्ति कर सकते हैं जब यह प्रमाणित हो जाय कि प्रतिवादी का यह ऋण अनैतिक और अवैध प्रयोजन के लिये था। इन अभिकथनों से अनेक वाद पद (ईशूज) उठते हैं।

विद्वान् व्यवहार न्यायाधीश ने निर्णय दिया कि यह वाद साजिश से निवेशित किया है, यह कि जिसके लिये प्रतिवादी १ देनदार था—वह अव्यवहारिक था और इसलिए इसका बंधन पुत्रों पर नहीं है; इस प्रकार अपीलकर्ता १ का $\frac{1}{3}$ हिस्सा होगा, प्रतिवादी १ का $\frac{1}{3}$ और अपीलकर्ता २ का भी $\frac{1}{3}$ हिस्सा होगा। इस प्रकार उन्होंने संयुक्त परिवार की संपत्ति में हिस्सों की घोषणा कर दी जिसमें वह बँगला था।

अपील निवेशित करने पर उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि ऋण अव्यावहारिक नहीं था इसका कारण बतलाया गया कि इसके समर्थन में कोई साद्य नहीं है और उप प्रस्तोता का आदेश जो निर्णय के समान था उसमें न तो लड़के और न तो नीलामी क्रेता पक्ष थे इसलिए सिवा इस ऐतिहासिक तथ्य के कि यह निर्णय दिया गया था यह किसी वस्तु का साद्य नहीं है। इस प्रश्न के लिये कि बंबई भूराजस्व संहिता की धारा १५५ के अंतर्गत नीलामी क्रेता को क्या मिला, निर्णय दिया गया कि संपूर्ण संपदा जिसमें लड़कों का हिस्सा भी शामिल था उक्त आदेश के निष्पादन में बेच दी गई इसलिए उस संपत्ति के संबंध में पुत्र का कोई अधिकार बाकी नहीं रहा। उच्च न्यायालय ने इस सीमा तक डिग्री को बदल दिया और वादीगण बंबई उच्च न्यायालय के प्रमाणपत्र दिए जाने के बाद इस न्यायालय में अपील में आए हैं।

यहाँ अपीलकर्ता का कहना है कि:—

१—यह कि ऋण अव्यावहारिक था इसलिए नीलामी विक्रय में पुत्रों का और संयुक्त परिवार के अन्य सदस्यों का अधिकार नीलामी क्रेता को नहीं मिला।

२—यदि ऋण अव्यावहारिक हो तब भी बँटवारे के मुकदमे से संयुक्त स्थिति की समाप्ति हो गई और पुत्रों के हिस्से को बेचनेवाला पिता का अधिकार समाप्त हो

कि सर्वसाधारण की दृष्टि में वह सेंधमार या चोर समझा जाता है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिये कोई तीसरा रास्ता नहीं है। उसने कई चोरियाँ की है या उसने कई सेंधे मारी हैं इसको प्रमाणित करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि केवल उसकी पहले की दोष-सिद्धि (कनविक्शन) दिखलाई जाय; यह इस साक्ष्य से भी प्रमाणित किया जा सकता है कि उसने अमुक अमुक चोरियाँ की या सेंधें मारीं। यह आवश्यक नहीं है कि चोरी या सेंध के संबंध में जो साक्ष्य दिया जाय वह प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों का साक्ष्य हो; यह साक्ष्य उस व्यक्ति द्वारा भी दिया जा सकता है जो व्यक्तिगत रूप से उन तथ्यों से अवगत हो जिनसे यह निष्कर्ष निकलता हो कि जो चोरियाँ हुईं या सेंधें पड़ीं उसमें प्रार्थी का हाथ था। दूसरे शब्दों में सेंध या चोरी को प्रमाणित करने वाला साक्ष्य प्रत्यक्ष या पारिस्थितिक दोनों हो सकता है। इसमें जो ध्यान देनेवाली महत्वपूर्ण बात है वह केवल यही है कि जो साक्ष्य दिया जाय वह सेंध या चोरी किए जाने को प्रमाणित करे—ऐसा साक्ष्य नहीं कि वे सब अपराध संदेह हैं कि प्रार्थी द्वारा किए गए होंगे। प्रार्थी को जब पाबंद (बाउंड डाउन) किया जायगा तो इस आधार पर किया जायगा कि वह एक अभ्यस्त सेंधमार या चोर है—इस आधार पर नहीं कि उसके बारे में सेंधमार या चोर होने का संदेह है। चोर या सेंधमार होने का संदेह अधिक से अधिक यही प्रमाणित कर सकता है कि प्रार्थी संदेह युक्त सेंधमार या चोर है—यह नहीं कि प्रार्थी (वास्तव में) अभ्यस्त सेंधमार या चोर है। संदेह द्वारा यदि किसी अपराध का किया जाना प्रमाणित नहीं किया जा सकता तो संदेह द्वारा यह भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि कोई व्यक्ति अभ्यस्त सेंधमार या चोर है। साक्षियों ने चोरी होने के संबंध में बयान दिया है किंतु किसी ने यह नहीं कहा है कि वह चोरी इस प्रार्थी ने की या प्रार्थी का इसमें हाथ था। कुछ ने कहा कि हमारा संदेह है और कुछ ने कहा कि हमने बाद में सुना कि उस चोरी में इसका हाथ था। ऐसा साक्ष्य सर्वथा अप्रतिग्राह्य (इनऐडमिसिबुल) साक्ष्य है और आश्चर्य है कि मजिस्ट्रेट ने ऐसे साक्ष्य को लिया कैसे? इसके अतिरिक्त छानबीन करनेवाले अधिकारी का यह बयान कि हमारा संदेह है कि कुछ लोगों ने अपराध किया अप्रतिग्राह्य है कारण कि यह उसकी संमति (ओपीनियन) मात्र है—उसके व्यक्तिगत ज्ञान के अंतर्गत यह तथ्यों का अभिकथन (स्टेटमेंट आफ फैक्ट्स) नहीं है।

अपराध के संबंध में संमति (ओपीनियन) अप्रतिग्राह्य है चाहे यह छानबीन के विशेषज्ञ की ही क्यों न हो। उसे बयान यह देना चाहिए कि स्वतः हमने अमुक अमुक तथ्यों को देखा और उन तथ्यों के आधार पर हमारी संमति है कि अभियुक्त सेंधमार या चोर है इसके बाद न्यायालय इस पर विचार करेगा कि उन तथ्यों से वह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नहीं।

इस प्रकार थानेदार का बयान कि प्रार्थी के बारे में संदेह है कि कई चोरियों और सेंधों में उसका हाथ था अप्रतिग्राह्य (इनऐडमिसिबुल) है और ऐसा साक्ष्य लिया नहीं जाना चाहिए था। आई० एल० आर० ५१ इलाहाबाद ६६३ में निर्णय हुआ था कि अनेक अभियोग करने के संदेह की बात साक्ष्य में नहीं ली जानी चाहिए और उसमें यह भी कह दिया गया कि समय समय पर इस न्यायालय ने यह स्पष्ट कह दिया है कि संदेह की बात पूर्णरूपेण अप्रतिग्राह्य है इसलिए इस प्रकार का साक्ष्य लेना समय को बरबाद करना है। शोहरत के बारे में साक्ष्य दिए जाने के विषय में इसमें कहा गया था कि केवल कई साक्षियों का उपस्थित करना ही पर्याप्त नहीं है। ऐसे साक्षियों का साक्ष्य कम महत्व का होता है। उसमें कहा गया कि ऐसे साक्ष्य का महत्व तब तक नहीं होता जब तक कि यह दिखलाने का प्रयत्न न किया गया हो कि उस व्यक्ति की स्थिति ऐसी है कि वह उसके शोहरत (रेपुटेशन) को जान सकता है और इस प्रकार के साक्ष्य के मूल्य का परीक्षण करने का प्रयत्न अभियुक्त के वकील या न्यायालय द्वारा किया गया हो। २३ क्रिमिनल ला जर्नल (लाहौर) पृ० ५०७, ए० आई० आर० १९३५ पेशावर पृ० १५३–१५६, ११ सी० डब्ल्यू० एन० ४१३-२५ कलकत्ता वीकली नोट्स ३३४ में निर्णय हुआ था कि दं० प्र० सं० की धारा ११० के मामले में

उन साक्ष्यों पर निर्भर नहीं करना चाहिए जो केवल यह बतलाते हों कि अभियुक्त पर संदेह है कि उसने अमुक अमुक अपराध किया। संदेह की पुष्टि में ठोस तथ्य पर साक्ष्य देना चाहिए। १४ क्रिमिनल ला जर्नल इलाहाबाद पृ० ४०७ में कहा गया था कि यह साक्ष्य कि संदेह है कि अभियुक्त ने कुछ अपराधों में भाग लिया शोहरत का साक्ष्य नहीं है। ए० आई आर० १९२८ इलाहाबाद पृ० ३५७ में निर्णय हुआ था कि ११० के मामलों में यह साक्ष्य नहीं दिया जा सकता कि संदेह है कि अभियुक्त ने अमुक अमुक अपराध किया है। यदि इस प्रकार का साक्ष्य अनुमित होगा तो यह सुना साक्ष्य (हीयर से इविडेंस) होगा। इसमें कहा गया था कि अभ्यस्त चोर होने के आरोप के समर्थन में शोहरत का साक्ष्य दिया जा सकता है किंतु शोहरत (रेपुटेशन) का साक्ष्य भी एक निश्चित तथ्यवाला साक्ष्य होता है।

बहुत से निर्णय ऐसे हुए हैं जिनमें संदेह के साक्ष्य को माना गया है और कहा गया है कि अच्छे व्यवहार के लिये धारा ११० के अंतर्गत वे पाबंद किए जा सकते हैं। ३२ सी आर० एल० जे० अवध, पृ० २७३ में निर्णय हुआ था कि यदि अभियुक्त के बारे में संदेह का पर्याप्त साक्ष्य है तो यह उसकी शोहरत का संपोषण कर सकता है। अत्यंत सम्मान के साथ मैं इस कथन को मानने में असमर्थ हूँ क्योंकि शोहरत का साक्ष्य निश्चित तथ्य का साक्ष्य होता है और यह साक्ष्य उन्हीं व्यक्तियों द्वारा दिया जा सकता है जिन्हें इसका व्यक्तिगत ज्ञान है। अपराधों में हाथ रहने का संदेह खराब चाल चलन का संदेहजनक पारिस्थितिक साक्ष्य है। जैसा ३९ सी० आर० एल० जे० (मद्रास) पृ० ८९८ में निर्णय हुआ था कि शोहरत (रेप्युटेशन) का साक्ष्य वह साक्ष्य नहीं है कि किसी की चाल चलन के बारेमें क ख ग की राय क्या है वरन् यह कि उसके संबंध में सर्वसाधारण की राय क्या है क्योंकि शोहरत (रेप्युटेशन) वही वस्तु नहीं है जो आचरण (कैरेक्टर) है। १४ सी आर० एल० जे० इलाहाबाद पृ० ४०७ में संदेह के साक्ष्य को शोहरत का साक्ष्य नहीं माना गया था किंतु संदेह के साक्ष्य को शोहरत का आधार माना गया था। अत्यंत सम्मान के साथ मैं इस बात को मानने में असमर्थ हूँ कि कोई व्यक्ति शोहरत के आधार के बारे में साक्ष्य दे सकता है। आधार संमति (ओपीनियन) के बारे में दिए जा सकते हैं, तथ्य के लिये नहीं। शोहरत सर्वसाधारण के बीच की बात है इसलिए कोई एक व्यक्ति इस कारण के लिये साक्ष्य नहीं दे सकता कि लोगों की धारणा उसकी चालचलन के बारे में ऐसी क्यों है कारण कि इस प्रकार का साक्ष्य सुना साक्ष्य होगा। अत्यंत सम्मान के साथ मैं न्यायमूर्ति आशवर्थ (आई० एल० आर० ५१ इलाहाबाद पृ० २७५) के इस विचार से सहमत नहीं होता कि दं० प्र० संहिता की धारा ११० के अंतर्गत कार्यवाही में साक्ष्य अधिनियम नहीं लागू होता। ३२ सी आर० एल० जे० लाहौर पृ० ६२ में न्यायमूर्ति दलीप सिंह ने अपराध प्रमाणित करनेवाले संदेह के साक्ष्य को अस्वीकार कर दिया था किंतु इसे शोहरत प्रमाणित करनेवाला माना था। अत्यंत सम्मान के साथ मैं समस्त संदेह के साक्ष्य को अस्वीकार करता हूँ। अपनी बचत में अभियुक्त ने भी साक्षियों को उपस्थित किया है जिनकी संख्या अभियोजन साक्षियों से कम नहीं है। इन साक्षियों का बयान है कि वह ताँगा चलाकर चूड़ियाँ बेचकर और एक सराय की देखभाल करके जीवन निर्वाह करता है। इन साक्षियों के कथन में बहुत मामूली अंतर रहने के कारण अन्वीक्षा न्यायालय ने इसे अस्वीकार कर दिया है जब कि बचत में आए हुए बहुत से साक्षी प्रार्थी के गाँव के हैं और अधिकांश बहुत उच्च सामाजिक स्तर के हैं।

शोहरत का साक्ष्य यह दिखलाने के लिये प्रतिग्राह्य है कि कोई व्यक्ति अभ्यस्त चोर या सेंधमार है किंतु यह प्रश्न सर्वथा भिन्न है कि किसी विशेष मामले में एकमात्र शोहरत के आधार पर अभियुक्त को चोर या सेंधमार प्रमाणित होना कहा जा सकता है कि नहीं। यदि प्रार्थी द्वारा विरोध में कोई साक्ष्य नहीं दिया जाता तो शोहरत का साक्ष्य स्वीकार किया जा

सकता है। यदि विरोध में साक्ष्य हो तो भी यदि बचत में दिया गया साक्ष्य ठीक नहीं है या अभियोजन साक्ष्य के साथ साथ यह विशिष्ट प्रमाण दिया जाता है कि प्रार्थी ने चोरी किया या सेंध मारी या अभियोजन साक्ष्य के साथ साथ पहले की दोष सिद्धि का प्रमाण दिया जाता है तो शोहरत का साक्ष्य स्वीकार किया जा सकता है। पर्याप्त संख्या में चोरी या सेंध मारने के अपराध को इस बात के लिये प्रमाणित किया जा सकता है कि वह एक अभ्यस्त सेंधमार या चोर है किंतु यदि चोरी या सेंधों की संख्या कम है तो शोहरत का साक्ष्य इसका पूरक हो सकता है।

"मैं अभियुक्त को जानता हूँ। उसकी चालचलन खराब है। उसकी संगति बुरी है। वह चोरी करता है और डाका डालता है...।" इस प्रकार के साक्ष्य के बारे में आई० एल० आर० ४३ मद्रास ४५० में निर्णय हुआ था कि :—

"ऐसे साधारण ढंग के बयान न्यायालय को कोई सहायता नहीं प्रदान कर सकते.........केवल विश्वास और संमतिवाला साक्ष्य बिना कार्य या विशिष्ट प्रमाण के जिस पर कि उक्त संमति और विश्वास आधारित होता है शोहरत का साक्ष्य नहीं कहा जा सकता...... शोहरत का साक्ष्य ऐसा साक्ष्य है कि इसको तोलने में बहुत सावधानी की आवश्यकता है।" ए० आई० आर० १९२५ लाहौर में निर्णय हुआ था कि धारा ११० में पाबंद करने के लिये शोहरत का साक्ष्य बहुत ही निर्बल साक्ष्य है और इसके लिये सारभूत संपोषण की आवश्यकता है। ३६ सी आर० एल० जे० मद्रास ५८८ में कहा गया था कि शोहरत का साक्ष्य बहुत अनिश्चित रहता है और इसके अनिश्चित रहने से अभियुक्त प्रतिपरीक्षण (क्रास एक्जामिनेशन) भी ठीक से नहीं कर सकता। हकीम सिंह वि० सम्राट् के मामले में तय हुआ था कि अभियुक्त की ओर से यदि उच्च सामाजिक स्तर के व्यक्ति साक्ष्य देते हों तो ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों के साक्ष्य को स्वीकार न करने के लिये बहुत ही दृढ़ तर्क देना चाहिए।

इस मामले में शोहरत के संबंध में दिया गया साक्ष्य निर्बल है, इसका संपोषण नहीं हुआ और बचत में जो साक्षी आए हैं उनका साक्ष्य भी बहुत ही महत्व का है। हमारे विचार से अभियोजन ने न्यायालय के समक्ष यह प्रमाणित नहीं किया कि अभियुक्त एक अभ्यस्त चोर और सेंधमार है और उससे जमानत माँगना ठीक नहीं है।

यह प्रार्थनापत्र स्वीकार किया जाता है और अभियुक्त को पाबंद करनेवाला मजिस्ट्रेट का आदेश निराकृत किया जाता है और उसे उन्मुक्त किया जाता है। यदि उसने जमानत दे दी है तो यह निरसित की जाती है।

प्रार्थनापत्र स्वीकृत

विधि पत्रिका वर्ष ३, १९५९

इलाहाबाद उच्च न्यायालय १६

न्यायमूर्ति एम० सी० देसाई

आपराधिक पुनरीक्षण सं० ५४३।१९५८

३ सितंबर १९५८

महावीर	—	प्रार्थी
	वि०	
राज्य		विपक्षी

आपराधिक अन्वीक्षा—प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) का सिद्धांत—प्रतिष्टंभ का आपराधिक अन्वीक्षा में लागू होना।

न्यायमूर्ति एम० सी० देसाई—

प्रार्थी ने अपनी दोष सिद्धि पर एकमात्र यही आपत्ति की है कि यह दं० प्र० संहिता की धारा ४०३ द्वारा बाधित (बार्ड) है। प्रार्थी की दोष सिद्धि तार अधि-

नियम (टेलिग्राफ वायर्स ऐक्ट) की धारा ५ के अंतर्गत हुई थी। परिस्थिति इस प्रकार है :—

इसके पहले एक बार प्रार्थी की अन्वीक्षा पुलिस के सीनियर सुपरिंटेंडेंट के सम्मोदन (सैंक्शन) पर हुई थी। यह अन्वीक्षा इसी अपराध के लिये हुई थी। विधि के अनुसार उसकी अन्वीक्षा पुलिस सुपरिंटेंडेंट के सम्मोदन (सैंक्शन) पर होनी चाहिए थी। अन्वीक्षा न्यायालय ने प्रार्थी की दोष सिद्धि की और अपील के न्यायालय में प्रार्थी का कहना था कि संमोदन (सैंक्शन) गलत दिया गया कारण कि "पुलिस का सीनियर सुपरिंटेंडेंट" वही अधिकारी नहीं है जो "पुलिस का सुपरिंटेंडेंट" होता है। अपील के न्यायालय ने यह बात मान लिया तथा प्रार्थी की दोषसिद्धि निराकृत करके उसे छोड़ दिया। इसके बाद अभियोजन ने तार विभाग के एस० डी० ओ० का संमोदन लिया जो संमोदन देने के अधिकारी थे और तब प्रार्थी की अन्वीक्षा उसी आधार पर किया और प्रार्थी की दोषसिद्धि फिर हुई। यहाँ मेरे समक्ष श्री पी० सी० चतुर्वेदी का कहना है कि सीनियर एस० पी० और एस० पी० में कोई अंतर नहीं है और इस प्रकार पहलेवाला सीनियर एस० पी० द्वारा लिया हुआ संमोदन वैध था और प्रार्थी की दोषमुक्ति (ऐक्युटल) गलत आधार पर हुई थी और यह कि दोषमुक्ति यदि गलत आधार पर हुई हो किंतु वह अन्वीक्षा वैध रही हो तो उसी बात पर दूसरी अन्वीक्षा (ट्रायल) नहीं हो सकती या दूसरी बार उसका अभियोजन नहीं हो सकता। यों तो यह ठीक है कि गलत आधार पर भी दोषमुक्ति चाहे वह आधार तथ्य का हो या विधि का उसी बात पर दूसरी अन्वीक्षा होने में बाधक है किंतु यह इतना सरल नहीं है। यहाँ तथ्य यह है कि पहली अन्वीक्षा में प्रार्थी का स्वयं ही यह कहना था कि उपयुक्त संमोदन के बिना यह अन्वीक्षा अवैध है; अपील के न्यायालय ने प्रार्थी की इस बात को मान लिया और आवश्यक विधिक परिणाम के साथ उसे छोड़ दिया कि समर्थ अधिकारी के नवीन संमोदन पर उसका अभियोजन पुनः हो सकता है। अब जब उसकी अन्वीक्षा फिर होती है और उसकी दोषसिद्धि की जाती है तो वह बदल जाता है और कहता है कि पहले की अन्वीक्षा वैध थी। इसमें संदेह नहीं कि अब वह यह नहीं कह सकता कि पहले का संमोदन समर्थ अधिकारी द्वारा दिया गया था। प्रार्थी पक्ष और विपक्ष की दोनों बातों पर एक साथ निर्भर नहीं कर सकता और सर्वथा विरोधी बातों का आश्रय एक साथ नहीं ले सकता। जब प्रार्थी ने जोर दिया कि पहले की अन्वीक्षा समर्थ अधिकारी द्वारा है और इसमें सफल होकर उसने द्वितीय अन्वीक्षा की माँग की और नवीन संमोदन पर जब यह द्वितीय अन्वीक्षा आरंभ हुई तो वह अब यह नहीं कह सकता कि पहले की अन्वीक्षा समर्थ अधिकारी द्वारा दी गई थी और उसके परिणाम-स्वरूप यह द्वितीय अन्वीक्षा बाधित (बार्ड) है। विधि यदि किसी व्यक्ति को इस प्रकार समनुमोदन और अननुमोदन (अप्रोवेशन ऐंड डिसअप्रोवेशन) की अनुमति प्रदान करे तो न्याय उपहास मात्र होगा। प्रतिषेध (इस्टापेल) का सिद्धांत जैसे व्यवहार (सिविल) मामलों में लागू होता है उसी प्रकार यह आपराधिक मामलों में भी लागू होता है और यह सिद्धांत अधिक्षेत्र (जुरिडिक्शन) से संबंध रखनेवाले मामलों में भी लागू हो सकता है। केवल संमति (कंसेंट) अधिक्षेत्र नहीं प्रदान कर सकती पर इस सिद्धांत को यहाँ लागू करने के लिये कोई गुंजाइश नहीं है; नीचे के न्यायालय ने प्रार्थी की अन्वीक्षा करने का अधिक्षेत्र इसलिए नहीं अपनाया कि अन्वीक्षा करते समय उसने अपनी संमति दी थी वरन् उसने ऐसा पहले की अन्वीक्षा के परिणामस्वरूप किया। इसके अतिरिक्त यह सर्वव्यापी सिद्धांत नहीं है कि संमति अधिक्षेत्र प्रदान नहीं कर सकती। कुछ परिस्थितियों में यह कर सकती है।

२४ कार्पस जुरिस सेकंडम "क्रिमिनल ला" परिच्छेद १८४२ में है कि:—

"आपराधिक कार्यवाही में कोई पक्ष असंगत स्थिति को नहीं अपना सकता चाहे वह अन्वीक्षा न्यायालय में हो चाहे अपील के न्यायालय में तथा सामान्य नियम तो यह है कि अन्वीक्षा न्यायालय की गलती के बारे में उस बात के विपरीत बात कहने की उसे अनुमति नहीं दी जाती

चाहिए जिसमें उसने स्वतः अपनी सहमति प्रगट किया था या जो उसके निजी कार्यों का स्वाभाविक परिणाम था" । ए० आई० आर० १९४८ कलकत्ता पृ० ५३ में ऐसा ही निर्णय हुआ था ।

डेलने वि० यू० एस० २६३ यू० एस०, ५८६–६८ एल० आर० ४६२ में किसी निधि के अनुसार किसी न्यायाधीश को किसी व्यक्ति विशेष की अन्वीक्षा के बारे में न्यायासन में बैठने का अधिकार नहीं था । किंतु अन्वीक्षा के बाद प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) के सिद्धांत के अनुसार न्यायाधीश के उस न्यायासन में बैठने के विषय पर आपत्ति करने से उसे मना कर दिया गया । 'कार्पस् जुरिस सेकंडम्' 'क्रिमिनल ला' परिच्छेद १४७ में है कि यों तो किसी अपराध के संज्ञान (काग्निजेंस) का अधिक्षेत्र अभियुक्त की संमति पर किसी न्यायालय को प्रदान नहीं किया जा सकता किंतु जब न्यायालय को अभियुक्त पर अधिक्षेत्र होता है तो छोड़कर या संमति देकर इसे प्रदान किया जा सकता है । यह कि न्यायालय विधिक न्यायालय नहीं है अथवा उसे अपराध की सुनवाई का अधिक्षेत्र नहीं है—इसको न तो छोड़ा जा सकता है और न तो प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) के सिद्धांत के आधार पर अधिक्षेत्र प्रदान किया जा सकता है किंतु यह बात कि न्यायालय का संघटन केवल दोषपूर्ण है, जब कि अन्य प्रकार यह वैध हो तो इसे छोड़ा जा सकता है अथवा आरंभिक मामले या कार्यवाहियों में कोई अनियमितता हो गई हो तो इसे भी छोड़ा जा सकता है । 'कार्पस जुरिस सेकंडम्' 'कोर्ट्स्' परिच्छेद १०८ में है कि किसी विषय के बारे में अधिक्षेत्र किसी पक्ष के प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) पर आधारित नहीं किया जा सकता कि वह इसके अस्तित्व से इनकार करे किंतु अधिक्षेत्र संबंधी अन्य आपत्तियों के लिये प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) हो सकता है । जो छोड़ा नहीं जा सकता वह उस विषय या वादमूल के संबंध में अधिक्षेत्र का सर्वथा न होना है (देखिए परिच्छेद १०९) । इस मामले में इस विषय पर और अभियुक्त पर भी अन्वीक्षा न्यायालय का अधिक्षेत्र था; उस अपराध के संबंध में उस न्यायालय को अन्वीक्षा का अधिकार था । 'कार्पस जुरिस सेकंडम्' 'क्रिमिनल ला' परिच्छेद २४४ में है कि किसी व्यक्ति का दो बार उसी विषय के लिये विपत्ति में डालना उस समय नहीं होता जब कि पहलेवाले मुकदमे में अधिक्षेत्र न रहने के कारण जो वह छोड़ा गया था उसके बारे में दूसरी बार यह कहने से मना कर दिया गया हो कि पहलेवाले न्यायालय को अन्वीक्षा का अधिक्षेत्र था । हकीम सईद खुर्शेद अली वि० तिरहुत के आयुक्त ए० आई० आर० १९५५ पटना १९८ में निर्णय हुआ था कि किसी न्यायाधिकरण के अधिक्षेत्र से यदि कोई पक्ष इनकार करता हो और वह उस अभिकथन में सफल हो गया हो तो इसके बाद के दूसरे न्यायालय की कार्यवाही में वह इसकी सत्यता से इनकार नहीं कर सकता । आपराधिक मामलों में प्राङ्न्याय (रेसजुडिकेटा) का सिद्धांत 'उन विषयों की समाप्ति के लिये लागू होता है जिन पर निर्णय पहले दिया जा चुका है ।' (देखिए ६५ एल० ई० ७४७) यों तो संमति (कंसेंट) किसी न्यायालय को अधिक्षेत्र नहीं प्रदान कर सकती किंतु पक्षों को किसी उस तथ्य की स्थिति को स्वीकार करने का अधिकार है जिससे यह पता चलता हो कि अधिक्षेत्र है और न्यायालय को ऐसी स्वीकृति को न्यायिक ढंग पर कार्यान्वित करने का अधिकार है । २३ वाल ३२२–२२–एल० ई० ८२३ । केवल जब न्यायालय को अंतर्भूत (इनहेरेंट) अधिक्षेत्र का अभाव हो तभी पक्षों द्वारा उस न्यायालय को अधिक्षेत्र नहीं प्रदान किया जा सकता किंतु जब अधिक्षेत्र की कमी कुछ तथ्यों के प्रमाण पर निर्भर करती है और यदि वे तथ्य न उठाए गए और न प्रमाणित किए गए तो किसी पक्ष को अधिक्षेत्र न रहने की बात उठाने की अनुमति नहीं देना चाहिए कि इस प्रकार वह निर्णय को प्रभावशून्य कर दे (ए० आई० आर० १९१९ पटना २९४) । केवल यदि न्यायालय को अधिक्षेत्र बिलकुल ही न हो केवल तभी यह संमति द्वारा ठीक नहीं की जा सकती (१९४८ क्वींस बेंच ५) । इस मामले में अन्वीक्षा न्यायालय को ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अधिक्षेत्र बिलकुल ही नहीं था

इसलिए इसमें कोई संदेह नहीं—कि प्रतिष्टंभ

(इस्टापेल) के सिद्धांत द्वारा प्रार्थी अब यह नहीं कह सकता कि पहले का संमोदन वैध था। यदि वह यह नहीं कह सकता कि पहले का संमोदन वैध था तो निर्णय यह है कि पहले की अन्वीक्षा अवैध थी और इस प्रकार दूसरी अन्वीक्षा को यह नहीं कहा जा सकता कि दं० प्र० संहिता की धारा ४०३ से बाधित है।

प्रार्थनापत्र उत्सर्जित

विधि पत्रिका वर्ष ३, १९५९ इलाहाबाद

उच्च न्यायालय २२

(पूर्ण न्यायासन)

(लखनऊ न्यायासन)

एम० एल० चतुर्वेदी, ए० एन० मुल्ला और बी० एन० निगम न्यायमूर्ति गण

आपराधिक निर्देश सं० ४३।१९५६ अक्टूबर ८, १९५८

गंगा बख्श सिंह प्रार्थी

वि०

सुखदीन परिवादी-विपक्षी

राय बरेली के अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश द्वारा दिनांक २३ जून १९५६ का निर्देश (रेफरेंस)

अ—दंड प्रक्रिया संहिता १८९८, धा० १४५ (४)—प्रथम परंतुक (प्राविजो)—कार्यवाही आरंभ होने की तिथि—२ महीने की अवधि की गणना कब से की जानी चाहिए।

ब—दंड प्रक्रिया संहिता, १८९८, धारा १४५ (४)-परंतुक-एक पक्ष का धारण जबरदस्ती छुड़ा दिया गया और इस पर धा० १४५ के अंतर्गत कार्यवाही आरंभ हुई—मजिस्ट्रेट ने धारण (पोजेशन) छोड़ने के दो महीने बाद आरंभिक आदेश (प्रेलिमिनरी आर्डर) पारित किया—जिस पक्ष को धारण छोड़ना पड़ा है उसे इस कार्यवाही में धारण वापस पाने का आदेश नहीं दिया जा सकता।

चतुर्वेदी और निगम न्यायमूर्तिगण —

८-८-१९५५ को सुखदीन ने एस० डी० ओ० के न्यायालय में एक प्रार्थनापत्र धा० १४५ के अंतर्गत दिया कि हम विवादग्रस्त खेत के सीरदार हैं और पहले के जमींदार गंगाबख्श सिंह ने २४-७-१९५५ को इस खेत का धारण(पोजेशन)जबरदस्ती ले लिया है। एस० डी० ओ० ने आदेश दिया कि शांतिभंग की संभावना के बारे में पुलिस २३-८-१९५५ तक प्रतिवेदन दे। उस दिन पुलिस का प्रतिवेदन प्राप्त नहीं हुआ और उसकी प्रतीक्षा के लिये १२-९-१९५५ तिथि निश्चित हुई। वास्तव में पुलिस ने ३१-८-१९५५ को ही प्रतिवेदन दे दिया था और मजिस्ट्रेट ने इसे ८-९-१९५५ को प्राप्त किया किंतु इसका कोई कारण नहीं बतलाया गया कि वह १२-९-१९५५ को मजिस्ट्रेट के सामने क्यों नहीं रखा गया। आरंभिक आदेश (प्रेलिमिनरी आर्डर) धारा १४५ (१) के अंतर्गत १४-१०-१९५५ को पारित किया गया। विवादग्रस्त खेत १८-११-१९५५ को कुर्क किया गया।

जाँच पूरी करने के बाद मजिस्ट्रेट ने २४-४-१९५६ को निर्णय दिया कि सुखदीन सर्वदा से उस खेत के धारण में रहा है और उन्होंने कुर्की उठाकर उसका धारण सुखदीन को दे दिया और गंगाबख्श सिंह को मना किया कि सुखदीन के धारण में हस्तक्षेप न करें। इसके बाद गंगा बख्श सिंह ने सत्र न्यायाधीश के समक्ष पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र निवेशित किया। इसकी सुनवाई विद्वान् अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश ने की। इनका निष्कर्ष यह था कि सुखदीन ने स्वतः स्वीकार किया है कि मजिस्ट्रेट के आरंभिक आदेश के दिन से २ महीने से अधिक तक उसका धारण नहीं था इसलिए संहिता की धारा १४५ (४) के परंतुक के अंतर्गत ऐसा नहीं समझा जा सकता कि उस आदेश के दिन सुखदीन धारण में था। इसलिए उन्होंने इस मामले का निर्देश इस न्यायालय में कर दिया है—तथा उनकी अभिस्तावना (रिकमेंडेशन)

है कि विद्वान् मजिस्ट्रेट का दिनांक २४-४-१९५६ का आदेश निराकृत कर दिया जाय और घोषित किया जाय कि गंगाबख्श सिंह का धारण है और उन्हें धारण पुनर्स्थापित (रिस्टोर) कर दिया जाय।

निर्देश जब सुनवाई के लिये आया तो बहस की गई कि मजिस्ट्रेट के विलंब करने का दंड सुखदीन को नहीं दिया जा सकता क्योंकि १२-९-१९५५ को वह प्रतिवेदन मजिस्ट्रेट के यहाँ था और मजिस्ट्रेट ने १२-९-१९५५ को ही यदि आरंभिक आदेश पारित कर दिया होता तो वह धारण छोड़ने के दो महीने के भीतर होता और धारण सुखदीन को पुनर्स्थापित कर दिया गया होता। आई० एल० आर० १९५१ मद्रास ९५१ में निर्णय हुआ था कि न्यायालय की गलती से किसी पक्ष को हानि नहीं पहुँच सकती। इसलिए कहा गया कि संहिता की धारा १४५ (१) के अंतर्गत मजिस्ट्रेट का आरंभिक आदेश उस दिन पारित हुआ समझा जाना चाहिए जिस दिन प्रार्थनापत्र दिया गया था अर्थात् जिस दिन मजिस्ट्रेट ने सुखदीन के प्रार्थनापत्र का संज्ञान (काग्निजेंस) लिया। यह विचार इस न्यायालय के एक निर्णय के प्रतिकूल पड़ता था इसलिए विद्वान् एकाकी न्यायाधीश ने इसे विभागीय न्यायासन के समक्ष भेज दिया और विभागीय न्यायासन ने जब देखा कि यह विषय महत्वपूर्ण है और विभिन्न उच्च न्यायालयों में इस विषय पर मतभेद है तो उसने इसे बृहत्तर न्यायासन के समक्ष निर्देशित करना उचित समझा।

चंचू नारायण वि० करापति केसप्पा आई० एल० आर० १९५१ मद्रास ९५१ के निर्णय का आधार यह था कि न्यायालय की गलती से किसी पक्ष को हानि नहीं पहुँचनी चाहिए। मद्रास उच्च न्यायालय के समक्ष यह बहस की गई थी कि धारा १४५ (१) के अंतर्गत आरंभिक आदेश (प्रेलिमिनरी आर्डर) पारित करने की बात जब कही जाती है तो इसके विषय में समझना यह चाहिए कि यह परिवाद (कंप्लेंट) पाने या पुलिस के प्रतिवेदन के पाने के साथ ही पारित किया गया इसलिए पिछले दो महीने की गणना परिवाद निवेशित करने की तिथि से करनी चाहिए।

तत्कालीन विधि पर विचार करते हुए और कलकत्ता उच्च न्यायालय के दो निर्णयों पर विचार करते हुए विद्वान् न्यायाधीशों ने निर्णय दिया था कि इस धारा का परंतुक इस उद्देश्य से है कि जो व्यक्ति धारण में नहीं है फिर भी विधि की कल्पना द्वारा वह धारण में समझा जाता है। दूसरे शब्दों में यह परंतुक विधिक कल्पना पर आधारित है। विधान मंडल का उद्देश्य यह था कि यदि मजिस्ट्रेट संतुष्ट हो जाय तो प्रार्थनापत्र निवेशित करने और आरंभिक आदेश के पारित करने के बीच कोई समय नहीं बीतना चाहिए। एक ठीक दूसरे के पीछे होना चाहिए। मजिस्ट्रेट की संतुष्टि या तो पुलिस प्रतिवेदन पर अवलंबित रहनी चाहिए या अन्य प्रकार से प्राप्त सूचना पर। इसलिए उसमें निर्णय हुआ था कि पुलिस प्रतिवेदन आदि यदि संतुष्ट हो जाने योग्य हो कि शांतिभंग की आशंका है तो आरंभिक आदेश पारित करने में देर करने में कोई औचित्य नहीं है। यदि देर करने में औचित्य नहीं है तो आदेश में जो समय दिया हो वह यदि बादवाली तिथि का हो तो समझना यह चाहिए कि पुलिस के प्रतिवेदन या अन्य प्रकार से प्राप्त सूचना के ठीक बाद यह आदेश पारित किया गया। निर्णय में यह कहा गया था कि यदि यह बात सत्य है कि परिवाद निवेशित करने का प्रतिवेदन प्राप्त करने और आरंभिक आदेश पारित करने के बीच काफी समय व्यतीत नहीं होना चाहिए तो इसका परिणाम यह होता है कि आरंभिक आदेश का पारित होना उस दिन समझना चाहिए जिस दिन मजिस्ट्रेट उस मामले का संज्ञान (काग्निजेंस) लेता है और संतुष्ट हो जाता है कि मामले में कार्यवाही शीघ्र करना है। इस प्रकार विधिक कल्पना के आधार पर यह समझना चाहिए कि आरंभिक आदेश पहले वाली किसी तिथि को पारित किया गया था।

चूँकि इसमें बहस यह की गई थी कि आरंभिक आदेश का पारित होना प्रार्थनापत्र निवेशित करने या पुलिस का प्रतिवेदन प्राप्त करने के समय समझना (डीम) चाहिए इसलिए इस अवस्था पर यहाँ यह दिखलाने की आवश्यकता नहीं है कि उपबंध सर्वथा स्पष्ट है और न्यायालय का काम विधान बनाना नहीं है वरन्

विधि जिस दशा में है उसी दशा में इसे लागू करना है तथा यह भी बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि अवधि (लिमिटेशन) को बहुत कड़ाई से लागू करना चाहिए और इस कमी को दिखलाने पर भी कोई परिवर्तन नहीं किया गया जब कि दंड प्रक्रिया संहिता और स्वतः धारा १४५ का संशोधन हाल ही में हुआ है ।

इसी प्रकार का विचार भद्रम्मा वि० कोटम राज ए० आई० आर० १९५५ हैदराबाद १४० में व्यक्त किया गया था कि जब परिनियम के शब्द स्पष्ट हों तो परिनियम को उसी प्रकार लागू करना चाहिए किंतु जब कोई अवस्थाविशेष परिनियम में प्रयुक्त स्पष्ट शब्दों के अंतर्गत न आती हो अथवा उपबंध के शब्दों के नितांत स्पष्ट होने पर भी वे तत्कालीन प्रश्न विशेष में लागू नहीं होते और साथ ही साथ यह स्पष्ट हो कि विधानमंडल का विचार ऐसा नहीं था तो व्याख्या के संबंध में इसे 'काजस ओमिसस' कहते हैं अर्थात् परिनियम में इसके लिये कोई उपबंध नहीं है ।

विचार करने के बाद हम उक्त विचार से सहमत नहीं होते हैं और इन दो रूलिंग्स में जो सूक्तों (मैक्सिम्स) की बात कही गई है उन्हें लागू करने की कोई गुंजाइश नहीं है ।

धारा १४५ (१) में विशिष्ट प्रकार से किसी प्रार्थना पत्र की चर्चा नहीं है । मजिस्ट्रेट को पुलिस प्रतिवेदन से या किसी अन्य प्रकार से संतुष्ट होना है—कार्यवाही आरंभ करने के लिये प्रार्थनापत्र का ही होना आवश्यक नहीं है । यह बात नहीं है कि वह पक्ष किसी वाद मूल (काज) के साथ उपस्थित होता है । प्रत्येक मामले में यह उपलब्ध नहीं हो सकता कि प्रार्थनापत्र कब से आरंभ हो रहा है या पुलिस प्रतिवेदन भी कब से शुरू हो रहा है और अवस्था यदि इस प्रकार की हो तथा मजिस्ट्रेट स्वतः जब शांतिभंग की आशंका देखता है और जाँच करने के बाद संतुष्ट होने पर कि शांतिभंग की आशंका है जब वह आरंभिक आदेश पारित करता है तो इस आदेश की तिथि को पिछली उस तिथि से नहीं लिया जा सकता जब कि मजिस्ट्रेट ने पहले पहल सूचना प्राप्त किया था । इससे यह स्पष्ट है कि कार्यवाही का आरंभ उस तिथि से नहीं होता जिस दिन मजिस्ट्रेट ने सूचना प्राप्त की या जिस दिन उसके यहाँ प्रार्थनापत्र पड़ा वरन् जब वह अपनी संतुष्टि लिखित रूप में व्यक्त करता है उस दिन से कार्यवाही का आरंभ होता है । ए० आई० आर० १९५५ आंध्र ९९ में इसी बात पर जोर दिया गया है । इस रूलिंग में कहा गया था कि यों तो प्रायः जो पक्ष हानि में रहता है वही मजिस्ट्रेट के यहाँ प्रार्थनापत्र देता है परंतु यह आवश्यक नहीं है कि आरंभिक जाँच (प्रेलिमिनरी इनक्वाइरी) उस पक्षविशेष के कहने पर हो । मजिस्ट्रेट उसे स्वतः आरंभ कर सकता है । पक्ष विशेष के कहने पर जब आरंभिक जाँच आरंभ भी हुई हो तो मजिस्ट्रेट यदि संतुष्ट हो जाता है कि इस कार्यवाही की आवश्यकता नहीं है तो वह इसे बंद भी कर सकता है ।

यह कार्यवाही मजिस्ट्रेट की व्यक्तिगत संतुष्टि पर आरंभ होती है, परिवाद या पुलिस प्रतिवेदन पर नहीं । इसके लिये महत्वपूर्ण तिथि वही है जिस दिन मजिस्ट्रेट अपनी संतुष्टि लिख लेता है । यही वह तिथि है जिस दिन पक्षों के धारण (पोजेशन) के बारे में जाँच की जानी चाहिए और यही वह तिथि भी है जिस दिन से उक्त परंतुक (प्राविजो) में दिए हुए दो महीने की गणना करनी होती है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विधान मंडल का यह अभिप्राय था, इसी तिथि से कार्यवाही का आरंभ समझना चाहिए—मजिस्ट्रेट को दी गई आरंभिक सूचना से नहीं । इस प्रकार 'काजस ओमिसस' जिसकी चर्चा उपर की जा चुकी है यहाँ लागू नहीं हो सकता ।

उपबंध से यह स्पष्ट है कि मजिस्ट्रेट को यह अधिकार शांति स्थापित करने के विचार से दिया गया है । प्रसंगवश इससे व्यक्तिगत अधिकार पर प्रभाव पड़ जाता है । जाँच की प्रकृति आभास न्यायिक (क्वासी जुडिशियल) है । यह आपराधिक न्यायालय का व्यवहार (सिविल) न्यायालय के अधिक्षेत्र में घुस जाना है इसीलिए यह आवश्यक है कि इसको सीमित करके उतना ही लागू किया जाय जितना शांति व्यवस्था के लिये अत्यावश्यक हो । मजिस्ट्रेट को धा० १४५ के अंतर्गत तत्व पर विचार

नहीं करना होता या धारण करने का किस पक्ष का क्या अधिकार है इस पर भी विचार नहीं करना होता। उसको इतना ही देखना होता है कि संबद्ध तिथि को वास्तविक धारण किसका था। इससे भी यह पता चलता है कि कार्यवाही का आरंभ होना उस तिथि से समझना चाहिए जब कि मजिस्ट्रेट संतुष्ट हो गया हो कि शांति भंग की आशंका है—जिस दिन उसे प्रथम सूचना मिली उस दिन से नहीं।

यह भी स्पष्ट है कि पक्षों का यह अधिकार नहीं है कि मजिस्ट्रेट को निर्णय देने के लिये बाध्य करें। यदि मजिस्ट्रेट सोचता है कि किसी कार्यवाही की आवश्यकता नहीं है तो इस धारा के अंतर्गत कार्यवाही न करके धारा १०७ या धा० १४४ के अंतर्गत कार्यवाही कर सकता है। उसे किसी निर्णय पर पहुँचने की पाबंदी भी नहीं है। मजिस्ट्रेट के विवेक पर यह निर्भर करता है कि या तो निर्णय दे दे या यह बता दे कि मैं निर्णय देने में असमर्थ हूँ। नियमित वाद और धा० १४५ के अंतर्गत की कार्यवाही में अंतर होता है इसलिए जो सूत्र (मैक्सिम्स) व्यवहार कार्यवाही (सिविल प्रोसीडिंग्स) में लागू होते हैं उनका इस कार्यवाही में लागू होना संभव नहीं है। मजिस्ट्रेट धारण संबंधी अधिकार पर निर्णय नहीं देता, वह धारण की प्रकृति पर भी विचार नहीं करता। मजिस्ट्रेट की जाँच केवल वास्तविक धारण पर होती है उसकी प्रकृति पर नहीं। जाँच भी सरसरी (समरी) होती है। हाल में जो संशोधन हुआ है उससे यह बात और स्पष्ट हो जाती है। जाँच का परिणाम व्यवहार न्यायालय (सिविल कोर्ट) द्वारा जारी किए हुए अस्थायी निषेधाज्ञा (टेंपोरेरी इंजंक्शन) के समान नहीं होता। दं० प्र० संहिता की धारा १४५ के अंतर्गत की जाँच अन्वीक्षा (ट्रायल) नहीं होती। कोई प्रक्रिया (प्रोसीजर) विशेष नहीं दिया हुआ है और सर्वदा ही निर्णय के विरुद्ध पक्षों का व्यवहार न्यायालय में जाने का अधिकार अक्षुण्ण रहता है।

धा० १४५ (४) का प्रथम परंतुक केवल अनुमति ही देता है। मजिस्ट्रेट उस पक्ष का धारण में होना मान सकता है जिसने आरंभिक आदेश के दो महीने के भीतर धारण छोड़ा है। यह मजिस्ट्रेट का विवेक है पर यह विवेक न्यायिक होना चाहिए जिसके आधार पर दो महीने के भीतर धारण छोड़ने पर उसे धारण में होना या तो मान सकता है या धारण में होना मानने से इनकार कर सकता है। यदि मजिस्ट्रेट यह समझता है कि आरंभिक आदेश पारित होने के दो महीने के भीतर उसके वास्तविक स्वामी ने ही अनधिप्रवेशी (ट्रेसपासर) का धारण हटाकर स्वतः धारण में आ गया है तो यदि वह धारणच्युति पर विचार नहीं करता तो उसका ऐसा करना ठीक है। पक्षों को यह अधिकार नहीं है कि मजिस्ट्रेट को (इस प्रकार धारण छोड़ देने पर) यह निर्णय देने को बाध्य करें कि वह पक्ष धारण में माना जाय। यह विवेक पर निर्भर करता है इसलिए एक निश्चित सीमा के भीतर इसे लागू करना चाहिए और एक बार जब सीमा निर्धारण कर दिया गया तो इसका पालन कड़ाई से करना चाहिए। विधान मंडल ने सोच समझकर केवल सीमित विवेक का अधिकार दिया है और हमें कोई कारण नहीं दीखता कि इस विवेक के प्रयोग के लिये यह मानकर कि आरंभिक प्रार्थनापत्र के दिन को आरंभिक आदेश पारित हुआ था इस अवधि को आगे और क्यों बढ़ा दिया जाय।

पक्ष को इसके अंतर्गत किसी आदेश का अधिकार नहीं है। यह कार्यवाही केवल शांति स्थापना के लिये है किसी पक्ष के अधिकार की स्थापना के लिये नहीं। इसलिए आंध्र के निर्णय में व्यक्त किए हुए विचार से हम सहमत हैं और मद्रास के निर्णय में दिए हुए विचार से हम असहमत हैं। इसमें समता के सिद्धांत (इक्युटेबुल प्रिंसिपुल) को लागू करना ठीक नहीं है।

धारा में अस्पष्टता नहीं है। कुछ अवस्था विशेष में कठिनाई पैदा हो सकती है किंतु इससे न्यायालय व्याख्या के निश्चित सिद्धांत से हट नहीं सकता कारण कि न्यायालय का काम व्याख्या करने का है विधान बनाने का नहीं। जो दो महीने की अवधि दी गई है वह ठीक भी है कारण कि यदि एक पक्ष इतनी लंबी अवधि तक

शांतिपूर्वक धारण में रहा है तो वह धारण गलत ही क्यों न हो उससे वास्तविक शांतिभंग की आशंका नहीं होती इसलिए ऐसा कहना कि बाद में शांतिभंग की संभावना हो सकती है ठीक नहीं है। झगड़ा तब भी रह जाता है पर इसका निर्णय व्यवहार न्यायालय पर छोड़ देना चाहिए। मजिस्ट्रेट का अधिकार उस समय शुरू होता है जब वह संतुष्ट हो जाता है कि शांतिभंग की आशंका है और ज्योंही वह समझता है कि शांतिभंग की आशंका नहीं है त्यों ही उसके अधिकार की समाप्ति हो जाती है। उपधारा ५ में है कि सभी पक्षों को यह दिखलाने का अधिकार है कि शांतिभंग की संभावनावाला कोई झगड़ा 'न है और न था'। इस उपबंध में दी गई अवधि का पालन कड़ाई से करना चाहिए। विधान मंडल ने यदि सावधानी से अवधि की सीमा निर्धारित किया है तो कड़ाई से हमें उसका पालन भी करना चाहिए।

पक्ष और विपक्ष की कतिपय रूलिंग्स पर विचार करने के बाद हमारा निष्कर्ष है कि उस उपबंध का अभिप्राय स्पष्ट है और उसका पालन कड़ाई से करना चाहिए। यदि ठीक आरंभिक आदेश (प्रेलिमिनरी आर्डर) के दो महीने से अधिक पहले वह धारण छोड़ चुका है तो धारा १४५ के परंतुक के अंतर्गत उस आदेश के दिन यदि मजिस्ट्रेट उसके धारण को मानते हैं तो यह ठीक नहीं है।

परिणाम स्वरूप मैं विद्वान अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश के निर्देश (रेफरेंस) और अभिस्तावना (रेकमेंडेशन) को स्वीकार करता हूँ।

न्यायमूर्ति मुल्ला —

प्रश्न है कि यदि एक पक्ष ने धारण छोड़ने के बाद समय के भीतर ही धा० १४५ के अंतर्गत की कार्यवाही आरंभ की किंतु मजिस्ट्रेट ने आरंभिक आदेश धारण छोड़ने की तिथि के २ महीने के बाद पारित किया और अपने अंतिम आदेश द्वारा धारण उसे वापस दिला दिया तो यह आदेश इस आधार पर वैध है कि नहीं कि देर न्यायालय ने किया इसलिए इसका नुकसान उस पक्ष को नहीं होना चाहिए जिसने अपना काम समय के भीतर कर दिया है।

मैं अपने साथी न्यायाधीशों के निर्णय से सहमत हूँ। इसके लिये हमारे तर्क निम्नलिखित प्रश्नोत्तर के रूप में हैं :—

प्रश्न—१—धारा १४५ के अभिप्राय और उसके क्षेत्र को देखने से क्या यह प्रतीत होता है कि दं० प्र० संहिता की धा० १४५ (४) का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है?

मेरे विचार से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा १४५ के अंतर्गत पारित आदेश शासन का आदेश है जिसके पीछे न्याय का समर्थन रहता है। सार्वजनिक शांति व्यवस्था के लिये मजिस्ट्रेट को देखना होता है कि झगड़ा होकर पहले की परिस्थिति में परिवर्तन न होने पाए। इस संबंध की जाँच भी सरसरी जाँच होती है। आई० एल० आर० ३० कलकत्ता १५५ में यही बात कही गई थी। इसलिए हमारा निष्कर्ष यह है कि इस उपबंध के अंतर्गत मजिस्ट्रेट पक्षों के बीच किसी प्रश्न का निर्णय नहीं करता वरन् उसका संबंध सार्वजनिक शांति से होता है। इसके पक्ष की स्थिति वाद (सूट) के वादी (प्लैंटिफ) की सी नहीं होती। इस उपबंध का अर्थ स्पष्ट है। इसमें स्पष्ट रूप से अवधि दी हुई है। अवधि (लिमिटेशन) का नियम यह होता है कि यह निश्चित तो की जाती हैं मनमाने ढंग पर पर इसका पालन किया जाता है कड़ाई से।

प्रश्न २—धारा १४५ (४) की भाषा क्या अस्पष्ट है जिससे न्यायालय को यह अधिकार हो जाता है कि समता (इक्युटी) के सिद्धांत द्वारा उसके शब्दों के स्वाभाविक अर्थ को न लगाकर उससे भिन्न अर्थ भी लगाए?

परिनियम की व्याख्या के संबंध में नियम यह होता है कि जब उसके शब्द स्पष्ट हों तो उसे ठीक उसी प्रकार लागू करना चाहिए। जब उसके शब्दों से दो अर्थ निकलते हों तब बात दूसरी होती है। यहाँ दो अर्थ नहीं निकल रहे हैं। इसकी भाषा स्पष्ट है इसलिए बाहरी

विचार के आधार पर भिन्न अर्थ लगाने का कोई कारण नहीं है।

प्रश्न ३—धारा १४५ (६) में पारित आदेश के अंतर्गत क्या साम्यिक (इक्युटेबुल) सिद्धांत लागू किया जा सकता है ?

एकमात्र सार्वजनिक शांति व्यवस्था के भंग होने की संभावना पर ही इसके अंतर्गत मजिस्ट्रेट का अधिक्षेत्र शुरु होता है। और भी परिस्थितियाँ हैं जब कि किसी पक्ष को धारण गलत ढंग पर छोड़ना पड़ता है किंतु उससे यदि शांति व्यवस्था भंग नहीं होती तो इस धारा में वह कार्यवाही नहीं कर सकता; कार्यवाही इसलिए नहीं की जा सकती कि उसको हानि पहुँचने पर भी शांति व्यवस्था भंग होने की संभावना नहीं रहती। वह पक्ष व्यवहार (सिविल) में जाकर उचित सहायता प्राप्त कर सकता है। इसीलिए इस कार्यवाही में मजिस्टेट को पहले पहल यही देखना होता है कि इस झगड़े से शांति व्यवस्था भंग होने की संभावना है कि नहीं। इन मामलों में समता (इक्युटी) का सिद्धांत लागू नहीं हो सकता। समता का सिद्धांत वहाँ लागू होता है जहाँ ऐसी हानि होने की संभावना रहती है कि उसकी पूर्ति नहीं की जा सकती या उससे भयंकर अन्याय हो जाने की आशंका रहती है। धारा १४५ के अंतर्गत की कार्यवाही द्वारा अधिक से अधिक वास्तविक अधिकारी का धारण उस संपत्ति पर से हटाया जा सकता है पर यह भी महत्वपूर्ण है धारण का इस प्रकार हटाया जाना थोड़े समय के लिये ही होता है। यह सच है कि किसी परिनियम के जब दो अर्थ होते हों तो वही अर्थ लगाना चाहिए जो अधिक साम्यिक हो किंतु यदि उसकी भाषा सर्वथा स्पष्ट है तो इस प्रकार की अर्थ लगाना मना है। जब कि अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता और उसका शाब्दिक अर्थ लगाने में भयंकर अन्याय होता हो केवल तभी समता (इक्युटी) का सिद्धांत लागू हो सकता है। इस धारा के शब्दों का यदि स्वाभाविक अर्थ लगाया जाता है तो ऐसा भयंकर अन्याय नहीं होता है जो किसी के मस्तिष्क में क्रांति की भावना जागृत करे। यदि किसी का धारण थोड़े समय के लिये हट भी जाता है तो इससे किसी के मस्तिष्क में क्रांति की भावना नहीं जागृत हो सकती। वह व्यवहार न्यायालय से सर्वदा ही सहायता प्राप्त कर सकता है और दूसरे इस आदेश द्वारा उसे ऐसी हानि नहीं होती जो पूरी नहीं की जा सकती। अतः हमारा निष्कर्ष है कि दं० प्र० संहिता की धा० १४५ (४) के अंतर्गत पारित आदेश में समता का सिद्धांत लागू नहीं होता।

प्रश्न ४ और ५ पर एक साथ विचार करना है। ये प्रश्न इस प्रकार हैं :—

प्रश्न ४—क्या विधि का अर्थ यह होता है कि मजिस्ट्रेट जब व्यक्तिगत रूप से इस बात से संतुष्ट नहीं हो गया रहता कि शांति भंग की आशंका है तब भी उसे आरंभिक आदेश (प्रेलिमिनरी आर्डर) पारित कर देना चाहिए ?

प्रश्न ५—क्या किसी और समय विशेष पर यह कहा जा सकता है कि मजिस्ट्रेट व्यक्तिगत रूप से संतुष्ट हो चुका है जब कि वास्तव में वह इस प्रकार संतुष्ट नहीं हो गया रहता और बराबर ऐसी सूचना इकट्ठा करने में लगा रहता है कि शांति भंग की आशंका है कि नहीं ?

मेरे विचार से इस मामले में मजिस्ट्रेट का अधिक्षेत्र केवल उस समय आरंभ होता है जब वह व्यक्तिगत रूप से संतुष्ट हो जाता है कि सार्वजनिक शांति भंग की आशंका है। यदि मजिस्ट्रेट व्यक्तिगत रूप से संतुष्ट नहीं होता है तो उसे धा० १४५ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र की सुनवाई करने का अधिकार ही नहीं है। यदि ऐसी बात न हो तो जब कभी किसी का धारण (पोजेशन) छूटेगा वह इन आपराधिक न्यायालयों में आने का प्रयत्न करेगा ताकि उसे शीघ्र सहायता मिल सके। इसलिए इसमें मजिस्ट्रेट को स्वतः संतुष्ट हो जाना पड़ता है कि शांति भंग की आशंका है कि नहीं। इसके लिये उसे उस पक्ष विशेष की बातों पर ही अवलंबित नहीं रहना है क्योंकि वह पक्ष तो कहेगा ही कि शांति भंग की आशंका है—उसे अन्य साधनों से इसका पता लगाना पड़ता है। शांति भंग की आशंका से संतुष्ट होने पर ही वह कार्य-

वाही शुरू कर सकता है। यह बात नहीं है कि जिस पक्ष को धारण छोड़ना पड़ा है वह ज्यों ही परिवाद निवेशित करता है त्यों ही मजिस्ट्रेट को आरंभिक आदेश पारित कर देना चाहिए।

चंचूनरायन के उपर्युक्त मुकदमों में कहा गया था—"....'यदि मजिस्ट्रेट संतुष्ट हो गया हो।' तो विधान मंडल का विचार यह था कि प्रार्थनापत्र देने और आरंभिक आदेश पारित करने के बीच समय व्यतीत नहीं होना चाहिए; पहला तुरत दूसरे के बाद होना चाहिए।'

इसमें यह स्वीकार किया गया था कि मजिस्ट्रेट को संतुष्ट पहले होना चाहिए और आरंभिक आदेश उसके बाद। संतुष्ट होने और आरंभिक आदेश पारित करने के बीच समय नहीं बीतना चाहिए वरन् तुरत होना चाहिए। मेरे विचार से यदि आरंभिक आदेश पारित हो गया है तो यह दिखलाता है कि मजिस्ट्रेट संतुष्ट हो गया था। संतुष्टि का प्रश्न मजिस्ट्रेट का व्यक्तिगत प्रश्न है। यदि वह केवल पक्ष आदि के कहने से ही संतुष्ट नहीं होता कि शांतिभंग की आशंका है और इसके लिये वह स्वतंत्र सूचना की खोज में है तो यह नहीं कहा जा सकता कि देर करके गलती किया।

इसमें संदेह नहीं कि दो महीने की अवधि जो नियत है वह पर्याप्त है। जो पक्ष धारण छोड़ता है वह तुरत न्यायालय में आता है इसलिए जाँच करने के लिये यह महीने की अवधि पर्याप्त है। किंतु इस बीच भी यदि मजिस्ट्रेट संतुष्ट नहीं होता कि शांति भंग की आशंका है और इसके लिये उसे पर्याप्त साधन नहीं मिलते कि वह संतुष्ट हो तो उसे बाध्य नहीं किया जा सकता कि आरंभिक आदेश पारित कर दे कारण कि किसी पक्ष का यह अंतर्भूत अधिकार नहीं है कि आपराधिक न्यायालय से सहायता पाने के लिये वह जोर दे। इसलिए हमारा निष्कर्ष है कि (नन प्रो टंक ऐंड एक्टस क्यूरी नेमिनम ग्रैवा विट) के सिद्धांत इसमें लागू नहीं हो सकते।

मैं ए० आई० आर० १९५५ ट्रावनकोर २९२ आयन पद्मनाभन् वि० पद्मनाभन् के निर्णय में व्यक्त किए हुए विचार से पूर्ण सहमत हूँ।

मैं प्रस्तावित आदेश से सहमत हूँ और मैं यह निर्देश स्वीकार करता हूँ।

न्यायालय द्वारा—इस प्रकार विद्वान् अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश के निर्देश और अभिस्तावना को हम स्वीकार करते है। इस खेत का धारण गंगाबखश सिंह को दे दिया जाय।

निर्देश (रेफरेंस) स्वीकृत

———

विधि पत्रिका वर्ष ३, १९५९ इलाहाबाद उच्च न्यायालय २८

न्यायमूर्ति धावन

व्यवहार प्रकीर्णक लेख (सिविल मेसलेनियस रिट) सं० २७८७।१९५८

(३० सितंबर १९५८)

रामधनी लाल — प्रार्थी

वि०

बस्ती के कलक्टर तथा अन्य— उत्तरवादीगण

उ० प्र० मेडिकल नियमावली, परिच्छेद २३५—युवक की आयु निश्चित करने की कार्यवाही असंतोषजनक होती है और इसके दुष्प्रयोग की गुंजाइश रहती है इसलिए आवश्यकता यह है कि इसके लिये कोई युक्तिसंगत और वैज्ञानिक आधार होना चाहिए।

न्यायमूर्ति धावन—

प्रार्थी ने एस० डी० ओ० के यहाँ एक प्रार्थनापत्र दिया था कि लेखपाल के रजिस्टर में मेरी जन्म तिथि गलत लिख दी गई है इसलिए उसे ठीक कर दिया जाय। इस प्रार्थनापत्र को कलक्टर ने अस्वीकार कर दिया। अतः भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६ के

अंतर्गत इस लेख प्रार्थनापत्र में प्रार्थना है कि एस० डी० ओ० को आदेश दिया जाय कि जन्मतिथि के ठीक करने वाले उस प्रार्थनापत्र पर निर्णय दें और कलक्टर ने जिस आदेश द्वारा इस प्रार्थनापत्र को अस्वीकार कर दिया है वह आदेश अभिखंडित (क्वैश) कर दिया जाय। प्रार्थी के शपथपत्र के अनुसार वह बस्ती जिले में एक हलके का लेखपाल था। उसके कहने के अनुसार उसकी जन्म तिथि लेखपाल-रजिस्टर में २६-६-१८६८ लिखी गई है जो गलत है। यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि प्रार्थी ने इसकी कोई सूचना नहीं दी कि यह गलती आई कैसे? उसका कहना है कि उसकी सही जन्म तिथि २०-१०-१६०२ है। दूसरे शब्दों में आयु रजिस्टर में जो आयु लिखी हुई है उसका कहना है कि हमारी आयु उससे ४ वर्ष कम है। उसने रजिस्टर की शुद्धि के लिये प्रार्थनापत्र दिया। सदर सुपरवाइजर कानूनगो ने अपने प्रतिवेदन में इसे अभिस्तावित (रिकमेंड) किया। इसके बाद यह प्रार्थनापात्र भू–अभिलेख अधिकारी के समक्ष रखा गया और उन्होंने प्रार्थी को डाक्टरी परीक्षा के लिये सिविलसर्जन के यहाँ भेज दिया। सिविलसर्जन ने प्रतिवेदन दिया कि प्रार्थी के कहने के अनुसार उसकी आयु ५६ वर्ष की है और देखने से वह ५६ वर्ष का प्रतीत होता है। इस प्रतिवेदन के प्राप्त करने के बाद वह प्रार्थनापत्र एस० डी० ओ० के यहाँ भेजा गया। एस० डी० ओ० ने उस पर अपना कोई आदेश नहीं दिया किंतु अभिस्तावना (रेकमेंडेशन) के साथ कलक्टर के यहाँ भेज दिया। कलक्टर ने कहा कि प्रार्थी की जन्म तिथि बदलने का कोई युक्ति संगत कारण नहीं है और उन्होंने प्रार्थनापत्र अस्वीकार कर दिया।

इस आदेश से असंतुष्ट होने पर भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६ के अंतर्गत प्रार्थी सहायता के लिये इस न्यायालय में आया है।

जब प्रार्थनापत्र सुनवाई के लिये स्वीकार कर लिया गया तो मैंने बस्ती के सिविलसर्जन को आदेश दिया कि उन्होंने प्रार्थी को जो प्रमाणपत्र दिया है कि देखने से उसकी आयु ५६ वर्ष की प्रतीत होती है उसके बारे में वे शपथपत्र दें कि वे इस निष्कर्ष पर कैसे पहुँचे। मैंने सिविलसर्जन को आदेश दिया कि दूसरी सुनवाई के दिन वे न्यायालय में उपस्थित हों और न्यायालय इसके बारे में जो प्रश्न पूछे उसका उत्तर दें।

सिविलसर्जन का शपथपत्र निवेशित किया गया और वे स्वतः न्यायालय में उपस्थित हुए। मैंने सरकारी वकील से कहा कि वे सिविलसर्जन से पूछकर बतलाएँ कि वे जो उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँचे वह उनका अनुमान था या और कुछ। सिविलसर्जन ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि वह अनुमान के सिवा कुछ नहीं था। मेरे विचार से सिविलसर्जन का यह बयान सही है। चूँकि सिविलसर्जन ने बहुत स्पष्ट उत्तर दे दिया है इसलिए इसके बारे में उनसे कोई और प्रश्न पूछना मैं ठीक नहीं समझता।

मेडिकल नियमावली नि० १७६ उपवाक्य ८ में मेडिकल प्रमाणपत्र देने का नियम है। नि० १७७ के देखने से पता चलता है कि जब कभी आयु निश्चित करने का प्रश्न होता है तो सिविलसर्जन या सरकारी डाक्टर से मेडिकल प्रमाणपत्र माँगने का एक सामान्य कार्यक्रम हो गया है। निर्धारित प्रपत्र देखने से पता चलता है कि उस व्यक्ति के बयान और देखने से वह व्यक्ति जैसा प्रतीत होता है उसके आधार पर अपने विचार के अतिरिक्त डाक्टर को अपना निर्णय देने के लिये जगह नहीं के बराबर है।

अतः यह स्पष्ट है कि प्रार्थी जब सिविलसर्जन के यहाँ परीक्षा के लिये भेजा गया तो डाक्टर ने वही काम किया जो सामान्य क्रम में किया जाता है। अपने शपथपत्र में डाक्टर ने स्वीकार किया है कि युवक की आयु निश्चित करने की कोई वैज्ञानिक सामग्री नहीं है और इसलिए उस व्यक्ति की सामान्य आकृति से डाक्टर को अपना निष्कर्ष निकालना पड़ता है। उ० प्र० मेडिकल नियमावली के परिच्छेद २३५ में है कि युवावस्था प्राप्त होने के बाद आयु निर्धारित करने की कोई निश्चित सामग्री नहीं मिलती इसलिए आयु का निश्चित करना एक अनुमान ही होता है।

मैं पूर्णरूपेण संतुष्ट हूँ कि डाक्टर क्लिफर्ड ने प्रार्थी को जो प्रमाणपत्र दिया वह नियमावली के सामान्य क्रम में था इसलिए इसके बारे में उनकी कोई गलती नहीं है। किंतु बाध्य होकर मुझे कहना पड़ता है कि युवावस्था पर आयु निर्धारण की समस्त प्रक्रिया (प्रोसीजर) असंतोषजनक है और इसका बहुत बड़ा दुरुपयोग हो सकता है। यह विचित्र बात है कि एक ओर तो मेडिकल नियमावली के परिच्छेद २३५ में स्पष्ट लिखा हुआ है कि उपर्युक्त अवस्था में आयु निश्चित करना केवल अनुमान है और दूसरी ओर स्थिति यह है कि जब कभी ऐसे व्यक्ति की आयु झगड़े में पड़ती है तो सरकार को बराबर इस अनुमानित आयु को मानना पड़ता है। मैं सोचता हूँ कि अच्छा यह होता कि उस व्यक्ति विशेष की आयु निश्चित करने का भार अपने ऊपर न लेकर सरकार उस व्यक्ति पर ही छोड़ देती कि वह प्रमाण देकर सरकार को संतुष्ट करे कि वह अपनी आयु जितनी कहता है वह ठीक है। मेरा सुझाव है कि आयु निश्चित करने की समस्त प्रक्रिया को और युक्तिसंगत और वैज्ञानिक आधार पर अवलंबित होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो इसमें जो कमी रह जाती है उसके कारण नित्यप्रति ऐसे प्रार्थनापत्र आते रहेंगे।

प्रार्थी के विद्वान् वकील का कहना है कि एस० डी० ओ० को स्वयं उस प्रार्थनापत्र का निर्णय करना चाहिए था किंतु उन्होंने यह बात मान ली कि एस० डी० ओ० उस प्रार्थनापत्र पर निर्णय देने के लिये बाध्य नहीं था और वह इसे कलक्टर के यहाँ भेज सकता था। उन्होंने यह भी मान लिया कि कलक्टर को निर्णय का अधिकार था। इसलिए इस कथन में बल नहीं है कि एस० डी० ओ० को स्वतः इस प्रश्न पर निर्णय करना चाहिए था। प्रार्थी की ओर से यह भी कहा गया कि कलक्टर ने प्रार्थी के उन साक्ष्यों पर विचार नहीं किया जो उसने अपने सही आयु के बारे में दिया था। इन साक्ष्यों में उसकी जन्मकुंडली थी और डाक्टर का प्रतिवेदन था।

जन्मकुंडली का महत्व इसलिए समाप्त हो जाता है कि प्रार्थी ने इसका कोई कारण नहीं बतलाया कि उसने आरंभ में अपनी जन्मतिथि २६-६-१८६८ क्यों दी थी। प्रार्थी ने यह मान लिया है कि लेखपाल रजिस्टर के विषय में नियम यह है कि उसमें वही आयु लिखी जाती है जो प्रार्थी बतलाए। प्रार्थी का यह काम था कि न्यायालय को बतलाए कि उसकी जन्मतिथि २६-६-१८६८ क्यों लिखी गई। प्रार्थी यदि इसे बतलाता तो न्यायालय इस समय दिए गए साक्ष्यों से उसकी तुलना करता कि कौन सही है। किंतु प्रार्थी के शपथपत्र में इसके बारे में कुछ नहीं है कि उसकी जन्मतिथि २६-६-१८६८ कैसे लिखी गई।

डाक्टर क्लिफोर्ड का प्रतिवेदन अनुमान पर आधारित था इसलिए कलक्टर के सामने कोई ऐसा महत्वपूर्ण साक्ष्य नहीं था जिस पर वे विचार करते। कलक्टर को जन्मकुंडली के मूल्य पर विचार नहीं करना था वरन् उन्हें इस पर विचार करना था कि पहलेवाली जन्मतिथि क्या गलत लिखी गई है? इस प्रश्न पर निर्णय देने के लिये प्रार्थी ने कलक्टर के सामने कोई सामग्री उपस्थित नहीं किया। यह बात नहीं है कि कलक्टर ने साक्ष्य पर विचार नहीं किया। कलक्टर का आदेश स्पष्टतः एस० डी० ओ० के प्रतिवेदन पर आधारित है। कलक्टर का आदेश है तो छोटा सा किंतु इससे यह प्रकट होता है कि यह एस० डी० ओ० के प्रतिवेदन के पढ़ने के बाद पारित किया गया।

यह उन मामलों में से है जो बराबर उठते रहते हैं और जिनके द्वारा सरकारी कर्मचारी को विधि और समता (इक्युटी) के अनुसार जितने समय तक सेवा करने का अधिकार है उससे अधिक अवधि तक सेवा करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रार्थनापत्र में बल नहीं है इसलिए अस्वीकार किया जाता है।

इस आदेश की एक प्रतिलिपि उ० प्र० सरकार के मुख्य सचिव के पास और एक प्रतिलिपि उ० प्र० मेडिकल विभाग के सचिव के पास अवलोकनार्थ भेज दी जाय।

प्रार्थनापत्र अस्वीकृत

विधि पत्रिका वर्ष ३, १९५९ इलाहाबाद
उच्च न्यायालय ३१

(लखनऊ न्यायासन)

मुख्य न्यायाधिपति मूथम

व्यवहार प्रकीर्णक (सिविल मिसलेनियस) प्रार्थना-पत्र सं० १६।१९५७—२७ अक्टूबर १९५८

शिवसहाय शुक्ला — प्रार्थी

वि०

जिला बोर्ड बाराबंकी — विपक्षी

उ० प्र० जिला बोर्ड अधिनियम, धा० ११४—'व्यापार करना' (कैरिंग आन बिजनेस) सरकार या स्थानीय संस्था की नौकरी में लागू नहीं होता—निवास स्थान की भी एक शर्त है इसलिए सरकारी नौकर यदि उस क्षेत्र के भीतर रहता है तो वह दायित्व से नहीं बच सकता।

मुख्य न्यायाधिपति मूथम—

भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६ के अंतर्गत यह प्रार्थनापत्र दिया गया है। इसमें प्रश्न यह है कि सरकारी कर्मचारी द्वारा पाया गया वेतन जिलाबोर्ड अधिनियम के अंतर्गत परिस्थिति और संपत्ति कर के संबंध में कर निर्धारण के लिये उसकी पूरी कर लगाने योग्य आय में जोड़ा जा सकता है कि नहीं।

प्रार्थी तहसीलदार है जो मार्च १९५५ से बाराबंकी में है। बाराबंकी के जिलाबोर्ड ने प्रार्थी पर परिस्थिति और संपत्ति कर (सर्कमस्टांसेज एंड प्रापर्टी टैक्स) इसलिए लगाया कि वह जिले के भीतर रहता है।

इस संबंध में उस पर एक नोटिस भी तामील कर दी गई। प्रार्थी का कहना है कि कर देने के दायित्व में हमारा वेतन नहीं आ सकता। इस प्रार्थनापत्र में उसने कहा है कि उस पर जो माँग की नोटिस तामील की गई है उसे अभिखंडित कर दिया जाय।

जिला बोर्ड अधिनियम के धा० ११४ के संबद्ध अंश इस प्रकार हैं :—

"अ—देहात में रहनेवाले या व्यापार करनेवाले किसी भी व्यक्ति पर कर लगाया जा सकता है बशर्ते ऐसे व्यक्ति ने कर निर्धारण वर्ष में कुल मिलाकर कम से कम ६ महीने तक या तो निवास किया है या व्यापार किया है;...... ।"

व्याख्या....................

"व्यापार करना" ये शब्द सरकार या स्थानीय संस्था की नौकरी में लागू नहीं होते।"

अंतिम वाक्य उ० प्र० अधिनियम १६।१९३४ द्वारा जोड़ा गया। प्रार्थी का कहना है कि इस वाक्य का अभिप्राय यह होता है कि वेतन को छोड़ देना है।

अब इसमें झगड़ा नहीं है कि यदि प्रार्थी को वेतन के अतिरिक्त दूसरे साधनों से आय रहती तो कर देने के दायित्व को निश्चित करते समय इस अतिरिक्त आय का लेना उचित था और इसमें संदेह नहीं कि यदि धारा में अंतिम वाक्य न होता तो कर देनेवाली पूरी आय पर यह कर देने का दायी प्रार्थी इस आधार पर होता कि वह देहाती क्षेत्र में रह रहा था। इसलिए प्रश्न यह है कि "व्यापार करना" ये शब्द सरकार या स्थानीय संस्था की नौकरी में लागू नहीं होते" का वही अर्थ होता है जो प्रार्थी कह रहा है। बहस की गई है जब तक इसका अर्थ इस प्रकार नहीं किया जाता जिससे कि वेतन कर से बच जाय तब तक अंतिम वाक्य का कुछ अर्थ ही नहीं होगा। मैं सोचता हूँ कि ऐसी बात नहीं है। इस कर के देने का दायित्व या तो देहात में निवास करने पर आधारित है या देहात में व्यापार करने पर और मेरे विचार से इस वाक्य का अर्थ एकमात्र यही हो सकता है कि सरकारी या स्थानीय संस्था के कर्मचारी पर इस आधार पर कर नहीं लगाया जा सकता कि वह व्यापार करता है। मेरे विचार से कर देने का निवास करनेवाला जो दूसरा आधार है उससे प्रार्थी नहीं बच सकता।

धारा में इस वाक्य के जोड़ने का प्रयोजन वास्तव में क्या था इसे समझना कठिन प्रतीत हो रहा है। गौरीशंकर वर्मा वि० नगरपालिका सीतापुर ए० आई० आर० १९३३ अवध, ६१ में ऐसा ही प्रश्न विचाराधीन था।

उ० प्र० नगरपालिका अधिनियम १९१६ में इस प्रकार का कर 'निवासी' (इनहैबिटेंट) पर लगाया जा सकता था। 'निवासी' की परिभाषा दी गई थी 'कोई व्यक्ति जो साधारणतया निवास करता हो, व्यापार करता हो या उसके अंतर्गत कोई अचल संपत्ति हो जिसको या तो वह धारण करता हो या जिसका वह स्वामी हो।' श्री गौरीशंकर वर्मा न्यायाधीश थे जिनका न्यायालय सीतापुर में था किंतु यह मान्य है कि वे सीतापुर नगरपालिका की सीमा के भीतर न तो निवास करते थे और न उनकी कोई संपत्ति उस सीमा के भीतर थी। प्रश्न था कि क्या यह कहा जा सकता है कि वे व्यापार करते थे? पूर्ण न्यायासन का निर्णय हुआ कि 'व्यापार करना' में व्यक्तिगत या अर्द्ध व्यक्तिगत प्रकार का काम आता है और इसमें सरकारी कर्मचारी का काम नहीं शामिल है। इसलिए इसमें निर्णय हुआ था कि प्रार्थी नगरपालिका की सीमा के भीतर 'व्यापार' नहीं करता अतः उस पर परिस्थिति और संपत्ति कर नहीं लगाया जा सकता। सेठ विमल प्रसाद वि० जिला बोर्ड सहारनपुर १९५४ ए० एल० जे० रिपोर्टर ५८२ में इस न्यायालय ने जिलाबोर्ड अधिनियम की धारा ११४ में प्रयुक्त शब्द 'व्यापार करना' (कैरिंग आन बिजनेस) का अर्थ लगाया था और इस प्रकार अर्थ करने के बाद निर्णय दिया कि इसमें लाभ के लिये कोई काम करना होता है न कि वेतन पर किसी दूसरे का काम करना। इस प्रकार उसमें निर्णय हुआ था कि प्रार्थीगण पर जो चीनी मिल के कर्मचारी हैं ऐसा कर नहीं लगाया जा सकता। मुख्य न्यायाधिपति मलिक ने इस अंतिम वाक्य के बारे में कहा था कि:—

'१९३४ के पहले कोई निर्णय ऐसा नहीं हुआ था जिसमें 'व्यापार करना' इसका अर्थ यह लगाया गया हो कि इसमें सरकारी कर्मचारी का वेतन भी शामिल है तो व्याख्या के रूप में इन शब्दों को जोड़ने की आवश्यकता क्यों पड़ी यह स्पष्ट नहीं है'

इसके अतिरिक्त गौरीशंकर वर्मा वाले उपर्युक्त मुकदमे में यह स्पष्ट निर्णय हुआ था कि इन शब्दों में सरकारी कर्मचारियों की सेवा नहीं आती। ये शब्द क्यों जोड़े गए इसका संभावित कारण न्यायालय ने दिया था कि एबंडंटी काटला' के सिद्धांत पर जोड़े गए। मेरे विचार से इस वाक्य द्वारा—'व्यापार करना' ये शब्द सरकारी या स्थानीय कर्मचारियों की सेवा में लागू नहीं होते' विधिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसका परिणाम यह होता है कि चूँकि प्रार्थी देहाती क्षेत्र में रहता है इसलिए वह परिस्थिति और संपत्ति कर के देने के लिये दायी है और यह कि कर लगानेवाली उसकी पूरी आय को निश्चित करते समय सरकारी कर्मचारी के पद से पाया जानेवाला वेतन शामिल कर लेना चाहिए। इसलिए यह प्रार्थनापत्र असफल होता है और परिव्यय के साथ उत्सर्जित किया जाता है।

प्रार्थनापत्र उत्सर्जित

विधि पत्रिका वर्ष ३, १९५९ इलाहाबाद उच्च न्यायालय ३२

न्यायमूर्ति जे० के० टंडन

व्यवहार प्रकीर्णक लेख (सिविल मेसलेनियस रिट) सं० ३४७६।१९५९–दिसंबर १, १९५८

मुसम्मात सबीर कुबरा — प्रार्थी

वि०

उ० प्र० राज्य तथा अन्य — विपक्षीगण

भारतीय संविधान, अनुच्छेद २२६—प्रार्थी यदि सत्य को छिपाकर गलत बयान देता है तो वह अनुच्छेद २२६ के अंतर्गत उच्च न्यायालय की सहायता पाने का अधिकारी नहीं है।

न्यायमूर्ति टंडन—

प्रार्थी श्रीमती सबीर कुबरा ने परमादेश (मैंडमस) लेख जारी करने की प्रार्थना किया है कि उत्तर प्रदेश राज्य, जिलाधीश बरेली, और बरेली के पुलिस अधीक्षक को मना कर दिया जाय कि वे प्रार्थी को पकड़कर पाकिस्तान न भेजें। परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं:—

विधि पत्रिका वर्ष ३, (१९६०) ५८-५९ इला० राजस्व६

(लखनऊ न्यायासन)

न्यायमूर्ति आर० सिंह (उच्च न्यायालय) व्यवहार प्रकीर्णक प्रार्थनापत्र सं० २१७।१९५६

१५ अक्टूबर, १९५७

बाबूराम प्रार्थी

वि०

परागी तथा अन्य विपक्षीगण

उ० प्र० पंचायत राज अधिनियम, १९४७ धा० १२ डी०, २ (ई०)—गाँव सभा के प्रधान के चुनाव के संबंध में चुनाव याचिका (एलेक्शन पेटिशन) —एस० डी० ओ० इसे कलक्टर के आदेश पर अतिरिक्त एस० डी० ओ० के यहाँ नहीं भेज सकता—उ० प्र० संशोधन अधिनियम १९।१९५७, धा० २ का प्रभाव।

ब—भारतीय संविधान अनुच्छेद २२६ का क्षेत्र-अभिवचन (प्ली) यदि ऐसा है कि उससे अधिक्षेत्र के मूल पर प्रभाव पड़ता है तो लेख प्रार्थनापत्र (रिट पेटिशन) में उसे उठाया जा सकता है।

न्यायमूर्ति सिंह—

प्रार्थी ने गाँव सभा के प्रधान के पद के लिये विपक्षी के निर्वाचित घोषित होने पर उसके विरुद्ध चुनाव याचिका निवेशित किया था। यह चुनाव याचिका उत्सर्जित कर दी गई। इस उत्सर्जन के आदेश का अभिखंडित करने के लिये प्रार्थी ने भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६–२२७ के अंतर्गत यह उत्प्रेषण लेख (रिट आफ सेर्टियोरेरी) प्रार्थनापत्र निवेशित किया है।

यह चुनाव याचिका पहले क्षेत्रीय एस० डी० ओ० के यहाँ निवेशित की गई थी और उन्होंने कलक्टर के आदेश के अनुसार इसे एक दूसरे अधिकारी के यहाँ भेज दिया जिसका पद अतिरिक्त एस० डी० ओ० का था। अतिरिक्त एस० डी० ओ० को इसके निर्णय का अधिकार नहीं है यह १९५७ ए० एल० जे० ३७९ पूर्ण न्यायासन में निश्चित हो चुका है।

विपक्षियों की ओर से दूसरी बात यह कही गई है कि अधिक्षेत्र (जुरिडिक्शन) के प्रश्न को नीचे के न्यायालय में नहीं उठाया गया था इसलिए इस लेख प्रार्थनापत्र में उसे उठाया नहीं जा सकता। यों तो लेख (रिट) का जारी करना विवेक पर निर्भर करता है और इसलिए यदि प्रार्थी ने पहले इसपर आपत्ति नहीं उठाई है तो लेख प्रार्थनापत्र में उसकी यह आपत्ति नहीं सुनी जानी चाहिए किंतु बाद में इधर कुछ निर्णय ऐसे हुए हैं जिनके अनुसार न्यायालय को अधिक्षेत्र के प्रश्न पर सुनवाई करने में पूर्ण रुकावट नहीं है। १९५५ ए० एल० जे० ६ और ए० आई० आर० १९५६ बंबई ५३० के निर्णयों के अनुसार यदि उठाई गई आपत्ति अधिक्षेत्र के मूल पर प्रभाव डालनेवाली है तो नीचे के न्यायालय में न उठाई जाने पर भी ऐसे लेख प्रार्थनापत्र में उठाई जा सकती है। यहाँ प्रथम श्रेणी के सहायक कलक्टर का जो अतिरिक्त एस० डी० ओ० के नाम से पुकारा जाता है विधि के अंतर्गत कोई अस्तित्व नहीं है इसलिए चुनाव-याचिका की सुनवाई का उसे अधिक्षेत्र नहीं था। इस प्रकार यह अभिवचन (प्ली) इस लेख प्रार्थनापत्र में लिया जा सकता है।

इस लेख प्रार्थनापत्र तथा अन्य लेख प्रार्थनापत्रों के निवेशित करने के बाद राज्य के विधानमंडल ने उ० प्र० पंचायत राज अधिनियम का संशोधन अधिनियम १९।१९५७ द्वारा कर दिया। विपक्षी के विद्वान् वकील ने बहस की है कि संशोधन के बाद अतिरिक्त एस० डी० ओ० द्वारा पारित आदेश वैध हो गया क्योंकि उक्त संशोधन अतीत प्रभावी (रिट्रास्पेक्टिव) है। संशोधन में दिया गया कि एस० डी० ओ० में वह अतिरिक्त एस० डी० ओ० भी संमिलित है जो उपयुक्त प्राधिकरण द्वारा नामोद्दीष्ट या नियुक्त है।

यह मान्य है कि इस संशोधन को अतीत प्रभावी बनाया गया और ऐसा करना ठीक था फिर भी प्रार्थी के विद्वान् वकील का कहना है कि इस संशोधन द्वारा भी विपक्षी की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। उनका कहना है कि ऐसे अतिरिक्त एस० डी० ओ० की नियुक्ति 'उपयुक्त प्राधिकरण' द्वारा होनी चाहिए किंतु 'उपयुक्त

प्राधिकरण' कौन सा होगा इसकी चर्चा न तो संशोधन अधिनियम में है और न तो आरंभिक अधिनियम में ही है। विपक्षी की ओर से कोई प्रमाण ऐसा नहीं दिया गया जिसमें 'उपयुक्त प्राधिकरण' का नाम दिया गया हो इसलिए 'उपयुक्त प्राधिकरण' (अप्राप्रिएट अथारिटी) के अर्थ के लिये हमें शब्दकोश का सहारा लेना पड़ेगा। विपक्षी की ओर से एक बात यह अवश्य कही गई है कि जैसे भूराजस्व अधिनियम (लैंडरेवेन्यू ऐक्ट) के अंतर्गत राज्य सरकार को किसी प्रथम श्रेणी के सहायक कलक्टर को जिले के किसी विभाग का अधिकारी बनाने का अधिकार है और इसी अधिकारी को साधारणतः एस० डी० ओ० कहते हैं उसी प्रकार राज्य सरकार को या अधिकार देने पर कलक्टर को अतिरिक्त एस० डी० ओ० की नियुक्ति का अधिकार है। यह तर्क मन में नहीं बैठता। जहाँ कहीं भी अतिरिक्त अधिकारियों की नियुक्ति की बात आई है वहाँ उसके लिये नियम बना दिया गया है जैसे अवध न्यायालय अधिनियम के अंतर्गत अतिरिक्त न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिये स्पष्ट उपबंध है और इसी प्रकार बंगाल आसाम और आगरा व्यवहार न्यायालय अधिनियमों के अंतर्गत अतिरिक्त जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति के संबंध में उपबंध है। दंड प्रक्रिया संहिता में भी अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश और ए० डी० एम० की नियुक्ति के संबंध में दिया हुआ है। उ० प्र० भूराजस्व अधिनियम के अंतर्गत अतिरिक्त आयुक्त और अतिरिक्त कलक्टर की नियुक्ति के संबंध में दिया हुआ है। इन सबसे यह प्रतीत होता है कि अतिरिक्त (अडिशनल) अधिकारियों की नियुक्ति के लिये उपबंध स्पष्ट होना चाहिए और इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जिस प्राधिकरण द्वारा एस० डी० ओ० की नियुक्ति होती है उसी के द्वारा अडिशनल एस० डी० ओ० की भी नियुक्ति हो सकती है। अडिशनल एस० डी० ओ० की नियुक्ति या नामोद्दीष्ट (डिजिग्नेट) करने के संबंध में किसी उपबंध के न रहने के कारण तथा ऐसी नियुक्ति के लिये "उपयुक्त अधिकारी" कौन है इसकी ओर संकेत न रहने से उक्त संशोधन द्वारा अडिशनल एस० डी० ओ० की नियुक्ति वैध नहीं बनाई जा सकती।

वर्तमान लेख प्रार्थनापत्र का जहाँ तक संबंध है इस पर संशोधन अधिनियम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जिले के जिस उपविभाग में यह गाँव सभा पड़ती है उसके एस० डी० ओ० को ही एकमात्र इस चुनाव याचिका की सुनवाई का अधिकार है और उस एस० डी० ओ० को इसे किसी अन्य अधिकारी के पास जिसे अडिशनल एस० डी० ओ० कहा जाता है भेजने का अधिकार नहीं है जब तक कि उक्त अडिशनल एस० डी० ओ० किसी समर्थ प्राधिकरण द्वारा नामोद्दीष्ट न हो। विपक्षी सं० २ का २८ जून प्रश्न १९५६ का चुनाव याचिका का उत्सर्जन वाला आदेश अभिखंडित किया जाता है और चुनाव याचिका विचाराधीन समझी जायगी। मुकदमें की अवस्था विशेष के कारण परिव्यय के संबंध में कोई आदेश नहीं दिया जाता।

———

विधि पत्रिका वर्ष १(१९८०)५८-५९ इला०(राजस्व)१०

एम० एम० सिद्दिकी, न्यायिक सदस्य (राजस्व मंडल)

राजस्व मंडल के दिनांक २३ मई १९५१ के आदेश पर पुनर्विचार प्रार्थनापत्र जो ज० वि० अधिनियम की धारा ३३२ के अंतर्गत था

११ जुलाई १९५८।

रेवा, मुसम्मात तथा अन्य — अपीलकर्ता

वि०

केदार सिंह तथा अन्य — उत्तरवादीगण

उ० प्र० जमींदारी विनाश तथा भूमिधार नियमावली १९५२ नि० ४, ५—"सुनवाई के लिये विचाराधीन" (पेंडिंग फार हीयरिंग) का तात्पर्य—पुनर्विचार प्रार्थनापत्र निहित होने की तिथि को स्वीकार नहीं किया गया नि० ४ के अंतर्गत स्थगित होने या नि० ५ के अंतर्गत उपशमन (अबेटमेंट) का प्रश्न नहीं उठता।

ब - उ० प्र० जमींदारी विनाश तथा भूमि सुधार अधिनियम, १।१९५ , धा० २—पुनर्विचार प्रार्थनापत्र–अधिवासी अधिकार का प्रश्न ऐसे प्रार्थनापत्र में नहीं उठाया जा सकता ।

न्यायिक सदस्य एम० एम० सिद्दिकी—

ये तीन प्रार्थनापत्र राजस्व मंडल के २३ मई १९५१ के आदेश पर पुनर्विचार करने के लिये दिए गए हैं जो अपील सं० ४८४, ४८१ और ४८६।१९५०–५१ में पारित किया गया था ।

अकबरी बेगम वाद विषय की भूमि की स्वामिनी थी । उसने अपने स्वामित्व अधिकार को भगीरथ को बेच दिया । केदार सिंह तथा अन्य (जो इसमें उत्तरवादी हैं) लोगों ने अकबरी बेगम और भगीरथ के विरुद्ध अग्रक्रय वाद (प्रीएम्पशन सूट) निवेशित किया और मुंसिफ के न्यायालय से डिग्री प्राप्त किया । इसके विरुद्ध अपील की गई किंतु अपील भी उत्सर्जित हो गई । अपील जब विचाराधीन थी उसी बीच भगीरथ ने इस संपत्ति का पट्टा वर्तमान प्रार्थियों को कर दिया । अग्रक्रय वाद की अपील के उत्सर्जित होने पर उत्तरवादियों ने अग्रक्रय-संपत्ति का दखल ले लिया और प्रार्थियों को अनधिप्रवेशी (ट्रेसपासर्स) कहकर उनके अधिनिष्कासन (एजेक्टमेंट) का वाद निवेशित किया । प्रार्थियों ने वाद के विरोध में कहा कि हमने भगीरथ से अपने कृषक के अधिकार को प्राप्त किया है और यह सद्भावना (बोना फाइडी) था । अन्वीक्षा (ट्रायल) न्यायालय ने तो यह वाद उत्सर्जित कर दिया पर अपील में अतिरिक्त आयुक्त ने निर्णय दिया कि प्रार्थियों के पक्ष में भूधारण अधिकार का दिया जाना वास्तविक नहीं है और यही निष्कर्ष राजस्व मंडल ने अपने आदेश दिनांक २३ मई १९५१ में मान लिया । इस आदेश के पुनर्विचार के लिये यह प्रार्थनापत्र निवेशित किया गया है ।

राजस्वमंडल के निष्कर्ष को गलत ठहराने के लिये कोई प्रमाण नहीं दिया गया ।

इन प्रार्थनापत्रों में दो अन्य आधारों पर जोर दिया गया है जिनमें से एक यह है कि जमींदारी विनाश नियमावली के नियम ५ और ४ के अनुसार कार्यवाही का उपशमन (अबेटमेंट) हो जाना चाहिए था । इसमें संदेह नहीं कि पुनर्विचार प्रार्थनापत्र निहित तिथि को विचाराधीन था किंतु उत्तरवादी के विद्वान् वकील ने हमारा ध्यान नि० ४ (१) पर दिलाया जो इन शब्दों में है 'समस्त वाद और कार्यवाहियाँ·········जो निहित होने की तिथि को किसी न्यायालय में सुनवाई के लिये थीं" । उनका कहना है कि उस तिथि को प्रार्थनापत्र स्वीकार (ऐडमिट) नहीं किया गया था इसलिए किसी न्यायालय में कुछ सुनवाई के लिये नहीं था और इसलिए नि० ४ के अंतर्गत यह न तो स्थगित हो सकता था और न नि० ५ के अंतर्गत उपशमित (अबेटेड) । मैं इससे सहमत हूँ । जबतक कि अपील या प्रार्थनापत्र स्वीकृत (ऐडमिट) न हो जाय तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुनवाई के लिये है । इसलिए कार्यवाही के उपशमित होने का कोई प्रश्न नहीं है ।

प्रार्थियों का दूसरा आधार है कि हमें अधिवासी अधिकार प्राप्त हो गया है । इस संबंध में ज० वि० अधिनियम की २३ के अंतर्गत के मामले में पारित आदेश से यह स्पष्ट है कि ये अधिवासी नहीं हैं । यदि वे हों भी तो इस पुनर्विचार प्रार्थनापत्र में यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता ।

उत्तरवादियों की ओर से एक आरंभिक आपत्ति यह उठाई गई थी कि एक उत्तरवादी के मरने पर अवधि के भीतर उसके उत्तराधिकारी अभिलेख (रिकार्ड) पर नहीं लाए गए इसलिए प्रार्थनापत्र संधार्य (मेनटेनेबुल) नहीं हैं । प्रार्थी के विद्वान् वकील का कहना है कि उपशमन (अबेटमेंट) नियम पुनर्विचार (रेव्यू) प्रार्थनापत्र में लागू नहीं होता । चूँकि मैंने तत्व पर निर्णय दे दिया है इसलिए अब इस आपत्ति पर विचार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती ।

इस प्रकार प्रार्थनापत्रों में बल नहीं है और वे परिव्यय (कास्ट्स) के साथ उत्सर्जित किए जाते हैं ।

—पुनर्विचार (रेव्यू) प्रार्थनापत्र उत्सर्जित

———

विधि पत्रिका वर्ष ३, (१९८०) ५८-५९
इला० (राजस्व) १२

न्यायमूर्ति गुर्तू (उच्च न्यायालय)

बुलंदशहर के जिला न्यायाधीश के आदेश दिनांक ३१ अगस्त १९५० के विरुद्ध एस० ए० सं० १९४९। १९५०।

१ नवंबर, १९५७

चौधरी पृथी सिंह तथा अन्य — वादी अपीलकर्तागण

वि०

चौधरी गुरुदयाल तथा अन्य — प्रतिवादी-उत्तरवादीगण

जामा कुँवर, मुसम्मात तथा अन्य — वादी उत्तरवादीगण

सहभागी (कोशेयरर्स)—यदि संयुक्त भूमि से संबंध पूर्णरूपेण टूट गया है तो इस स्थिति में संयुक्त धारण करनेवाले का अधिकार यदि किसी बड़े महाल में सहभागीदार लोग बंजर भूमि के धारण में अकेले हों और अकेले खेती करते हों तो उस स्थिति में जब कि संयुक्त भूमि से पूर्णरूपेण संबंध विच्छेद हो जाता है इस अधिकार को मान्यता नहीं देनी चाहिए।

न्यायमूर्ति गुर्तू—

घोषणा (डिक्लेरेशन) के लिये यह वाद निवेशित किया गया था कि वादी इन खेतों के संयुक्त स्वामी हैं और प्रतिवादीगण के साथ वादीगण को इस पर धारण (पोजेशन) दिला दिया जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन खेतों के संबंध में यह मुकदमा है वह पहले बाग था और इसके एक भाग पर के पेड़ १३३३ फ० में काट दिए गए। इस खाली भूमि पर प्रतिवादियों ने अकेले खेती करना आरंभ किया। इसके बाद शेष भाग पर के पेड़ भी काट डाले गए और १३३३ फ० में प्रतिवादियों ने इस भाग पर भी अकेले खेती करना आरंभ किया।

वादीगण का उन खेतों से जब पूर्णरूपेण संबंध विच्छेद हो गया तो उन्होंने यह वाद निवेशित किया। प्रतिवादियों का कहना है कि वादियों का संयुक्त धारण का अधिकार नहीं है वरन् वे केवल बँटवारा कर सकते हैं।

अन्वीक्षा न्यायालय ने केवल इतना ही घोषित किया कि वादीगण प्रतिवादियों के साथ इन खेतों के सह भागीदार है—और कुछ नहीं।

नीचे के न्यायालय द्वारा अपील उत्सर्जित कर दी गई।

यह अपील वादियों द्वारा निवेशित की गई है। इसमें कहा गया है कि चूँकि यह घोषणा हो चुकी है कि वादीगण इन खेतों के संयुक्त कृषक हैं इसलिए हमें संयुक्त धारण का अधिकार है।

इस न्यायालय की रुलिंग्स में यह निर्णय हो चुका है यदि आपस में व्यवस्था करके प्रतिवादीगण अकेले धारण में हैं तो वादी को व्यवस्था (अरेंजमेंट) भंग करने का अधिकार नहीं है और वादी यदि नहीं चाहता कि व्यवस्था चालू रहे तो उसे बँटवारा करना पड़ेगा। इस मामले में चूँकि प्रतिवादी गण १३३३ फ० से ही धारण में हैं इसलिए इससे यह ध्वनित होता है कि कोई व्यवस्था हुई थी जिसके अनुसार प्रतिवादीगण अकेले उस भाग के धारण में थे। शेष भाग का जहाँ तक संबंध है उसके बारे में कोई व्यवस्था नहीं प्रतीत होती। ऐसी परिस्थिति में बँटवारा ही एकमात्र उपाय है। यह १९४९ ए० डबल्यू० आर० (उच्च न्यायालय) १७१ में निर्णय हुआ था किंतु मेरा निर्णय यह है कि यह अधिकार उस समय नहीं देना चाहिए जब कि इस अधिकार द्वारा समस्त संयुक्त भूमि पर से वादी का संबंध विच्छेद पूर्णरूपेण हो जाता हो।

इस मामले में जिस भाग पर प्रतिवादियों का धारण बाद में हुआ मेरे विचार से उस भाग पर वादियों और प्रतिवादियों का संयुक्त धारण होना चाहिए। समता के विचार से ही यह अच्छा नहीं होगा वरन् पक्षों के अधिकार से भी यह मेल खाता है। भूमि के संयुक्त धारण करनेवालों का अधिकार जो इस न्यायालय द्वारा सीमित किया गया है उसका विस्तार इस सीमा तक नहीं किया जा सकता कि संयुक्त धारण करनेवालों में से किसी एक संयुक्त खाते के किसी भाग के उपभोग से पूर्णरूपेण विच्छेद हो जाय

इसलिए यह अपील आंशिक रूप में स्वीकार की जाती है और नीचे के न्यायालय की डिग्री का संशोधन किया जाता है कि वादीगण को उस भाग का संयुक्त धारण दिया जाय जिस भाग पर १३५३ फ० में खेती आरंभ हुई थी। यदि आवश्यकता पड़े तो इस डिग्री का जब निष्पादन किया जाय उस समय निष्पादन (एक्जीक्यूशन) न्यायालय उचित जाँच करने के बाद क्षेत्रफल निश्चित करके उसकी हदबंदी कर देगा।

परिस्थिति ऐसी है कि उभय पक्ष अपने अपने परिव्यय (कास्ट्स) को सहन करें।

अपील आंशिक रूप में स्वीकृत

विधि पत्रिका वर्ष ३ (१९८०) ५८–५६

इला० (राजस्व) १३

न्यायमूर्ति वी० जी० ओक

(उच्च न्यायालय)

व्यवहार प्रकीर्णक लेख सं० १५६८।१६५६

२३ दिसंबर १६५७

गजराम सिंह — प्रार्थी

वि०

एस० डी० ओ० गुनउर तथा अन्य — विपक्षीगण

उ० प्र० पंचायत राज नियमावली नि० २५ (१) परंतुक (प्राविजो) —चुनाव न्यायाधिकरण के कार्य की प्रवृत्ति—एस० डी० ओ० चुनाव याचिका का निर्णय अपने व्यक्तिगत ज्ञान के आधार पर नहीं कर सकता।

न्यायमूर्ति वी० जी० ओक—

गुनउर जिला बदायूँ के एस० डी० ओ० ने गाँव सभा के प्रधान के चुनाव के संबंध निवेशित की गई चुनाव याचिका को उत्सर्जित कर दिया था। इसी उत्सर्जन के आदेश को अभिखंडित करने के लिये भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६ के अंतर्गत यह लेख प्रार्थनापत्र निवेशित किया गया।

गजराम सिंह ने गौरी सहाय के चुनाव पर आपत्ति करने के लिये चुनाव याचिका निवेशित किया था।

उत्सर्जनवाला आदेश संक्षिप्त है। उसमें है कि "मैंने वकील की बात सुनी और प्रार्थी के अभिकथन पर विचार किया। चुनाव स्वयं मेरी उपस्थिति में हुआ और प्रार्थी ने जिस अवैधता की चर्चा की है वैसी कोई बात चुनाव के बीच नहीं हुई थी। तात्पर्य यह कि यह चुनाव बहुत सुंदर ढंग से हुआ और प्रार्थी के आरोप में मुझे कोई बल नहीं दीखता। इसलिए पंचायत राज अधिनियम के नियम २५ (१) के अंतर्गत यह चुनाव याचिका उत्सर्जित करता हूँ।"

गौरी सहाय की ओर से २० अप्रैल १९५६ के आदेश के बारे में कहा गया कि परंतुक १ में है कि एस० डी० ओ० जब इस बात से संतुष्ट हो जाता है कि चुनाव याचिका सारहीन है तो वह इसे उत्सर्जित कर सकता है। इसमें कहा गया कि न्यायाधिकरण ने इसमें कोई तत्व नहीं देखा इसलिए इसे उत्सर्जित कर दिया।

नियम २५ (१) में है कि निर्वाचन न्यायाधिकरण आभास न्यायिक (क्वासी जुडिशियल) होता है। नि० २५ (१) के अंतर्गत एस० डी० ओ० प्रशासकीय ढंग से काम नहीं करता इसलिए एस० डी० ओ० चुनाव याचिका का निर्वर्तन केवल अपने व्यक्तिगत ज्ञान के आधार पर नहीं कर सकता। जो सिद्धांत आभास न्यायिक कार्यवाहियों के निर्वर्तन के संबंध में लागू होता वही सिद्धांत चुनाव याचिका के इस निर्वर्तन में लागू होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि नि० २५ (१) के परंतुक १ के ये शब्द "प्रार्थनापत्र में तत्व नहीं है" व्य० प्र० संहिता के आ० ७ नि० ११ के शब्द "वाद पत्र से जब वादमूल (काज आफ ऐक्शन) प्रकट नहीं होता" के समान हैं।

इस मामले में चुनाव याचिका इस आधार पर अस्वीकार नहीं की गई कि वादमूल प्रकट नहीं होता

वरन् इसके अस्वीकार करने का कारण था कि न्यायाधिकरण संतुष्ट हो गया था कि यह सर्वोत्तम चुनाव था। दंड प्रक्रिया संहिता की धारा २०२ के अंतर्गत जैसी कार्यवाही की जाती है उसी ढंग पर कार्यवाही करनी चाहिए थी। इसमें चुनाव याचिका के समर्थन में एक पक्षीय साक्ष्य लेना चाहिए था और इस प्रकार साक्ष्य लेने के बाद जब न्यायाधिकरण संतुष्ट हो जाता कि इसमें कोई तत्व नहीं है तब यह पंचायत राज नियमावली के नि० २५ (१) के परंतुक १ के अंतर्गत उत्सर्जित किया जा सकता था। किंतु इस मामले में ऐसी कोई कार्यवाही नहीं की गई।

इसमें प्रमुख आधार यह लिया गया है कि मतदान के दिन प्रार्थी का नाम पुकारा ही नहीं गया। इसमें संदेह नहीं कि प्रार्थी चुनावर्थियों में से एक था। इसे गौरी सहाय और मुकुंदी ने भी माना है। यदि प्रार्थी का कहना सत्य हो तो चुनाव में यह भारी अनियमितता है और इसलिए अपनी बात को प्रमाणित करने के लिये प्रार्थी को अवसर देना चाहिए था। न्यायाधिकरण को एकमात्र अपने ही ज्ञान के आधार पर इसका निर्णय नहीं करना चाहता था। चुनाव याचिका विधि के अनुसार निर्णय करने के लिये प्रतिप्रेषित (रिमांड) की जानी चाहिए।

विद्वान् एस० डी० ओ० ने अपने आदेश में कहा है कि चुनाव मेरी उपस्थिति में हुआ। इसलिए प्रतीत होता है कि उन्हें इसका दृढ़ निश्चय हो गया था कि चुनाव ठीक से हुआ इसलिए अच्छा यह होगा कि चुनाव याचिका की सुनवाई किसी दूसरे न्यायाधिकरण द्वारा हो।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६ के अंतर्गत यह प्रार्थनापत्र स्वीकार किया जाता है। गजराम सिंह द्वारा निवेशित चुनाव याचिका का निर्णय विधि के अनुसार करने के लिये यह प्रतिप्रेषित किया जाता है। बदायूँ के जिलाधीश इसको किसी दूसरे एस० डी० ओ० के यहाँ सुनवाई के लिये भेज दें। गजराम सिंह प्रार्थी इसका परिव्यय (कास्ट्स) विपक्षी सं० ४ से प्राप्त करेंगे।

—प्रार्थनापत्र स्वीकृत

विधि पत्रिका वर्ष ३, (१९८०) १९५८-५९ इला० (राजस्व) १४

उच्च न्यायालय

न्यायमूर्ति देसाई

वाद सं० १७२।१९५३, नगीना के प्रतिकर (कंवेंसेशन) अधिकारी के आदेश दिनांक १८ जुलाई १९५४ के विरुद्ध व्यवहार पुनरीक्षण सं० ८८६।१९५४

३१ जनवरी १९५७

रानी फूल कुमारी — प्रार्थी

वि०

राज्य तथा अन्य — विपक्षीगण

उ० प्र० जमींदारी विनाश तथा भूमिसुधार अधिनियम, १।१९५१, धा० ३३३, ४८, ४९—व्यवहार प्रक्रिया संहिता, धा० १९०८, धारा ११५ —जमींदारी विनाश अधिनियम के अंतर्गत आदेश देनेवाले प्रतिकर अधिकारी व्य० प्र० सं० की धारा ११५ के अभिप्राय के अनुसार उच्च न्यायालय के नीचे का (सबार्डिनेट टू हाईकोर्ट) न्यायालय नहीं है।

न्यायमूर्ति देसाई—

प्रतिकर अधिकारी ने जमींदारी विनाश अधिनियम के अंतर्गत आदेश पारित किया था। उसी आदेश के पुनरीक्षण के लिये व्य० प्र० सं० की धारा ११५ के अंतर्गत यह प्रार्थनापत्र निवेशित किया गया है। प्रार्थी एक मध्यवर्ती है जिसे अपने स्वामित्व अधिकार के ले लिए जाने के बदले प्रतिकर प्राप्त करने का अधिकार है। प्रार्थी को जो प्रतिकर देना है उसके लिये प्रतिकर निर्धारण का प्रारूप तैयार किया गया। प्रार्थी ने इसपर दो आधारों पर आपत्ति किया जिनमें से एक यह है कि लगान का मूल्यांकन कम है। उसका एक कृषक विपक्षी सं० २ दि अपर गैंजेज सूगर मिलस लिमिटेड है। प्रतिकर अधिकारी के समक्ष जो झगड़ा था वह यही था कि विपक्षी को जो भूमि प्रदान की गई थी उसकी लगान किस दर से निर्धारित की जाय। इसने भूमिधरी अधिकार का एक सनद भी प्राप्त कर लिया है। प्रार्थी ने प्रतिकर अधिकारी को सूचित किया कि मैंने सरकार के यहाँ

भूमिधरी सनद को अस्वीकार करने के लिये प्रार्थनापत्र दिया है और वह अभी विचाराधीन है। इसके बाद प्रतिकर अधिकारी ने स्वतः उसे इस कार्यवाही में पक्ष बनाया। विपक्षी को एक नोटिस दी गई, उस नोटिस पर वह उपस्थित हुआ और कहा कि हमें पक्ष नहीं बनाना चाहिए कारण कि प्रार्थी को प्रतिकर रूप में दी जानेवाली धनराशि से हमारा कुछ संबंध नहीं है। प्रार्थी ने भी उसे विपक्षी बनाने पर आपत्ति किया किंतु प्रतिकर अधिकारी ने अपने आदेश को निराकृत करने से इनकार कर दिया। प्रार्थिनी चाहती है कि वह आदेश व्य० प्र० संहिता की धारा ११५ के अंतर्गत उत्सर्जित कर दिया जाय।

व्य० प्र० संहिता की धारा ११५ में है कि नीचे का न्यायालय (सबार्डिनेट कोर्ट) यदि कोई अधिक्षेत्र संबंधी गलती करता है तो उच्च न्यायालय ऐसे निर्णय का अभिलेख मँगा कर जैसा उचित समझे आदेश दे सकता है। इस मामले में प्रतिकर अधिकारी जमींदारी विनाश अधिनियम की धारा ४८ के अंतर्गत इसकी सुनवाई करता है। उसके द्वारा निर्णीत कोई आपत्ति धारा ४९ के अंतर्गत व्यवहार न्यायालय की डिग्री समझी जायगी। इसमें संदेह नहीं कि आपत्तियों का निर्वर्तन करते समय वह न्यायालय का काम करता है। धारा ४८ के अंतर्गत वाद की सुनवाई वह व्यवहार प्रक्रिया संहिता के नियमों के अनुसार करता है। किंतु केवल इसी बात से यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें व्य० प्र० संहिता की धारा ११५ लागू होती है। वह व्यवहार न्यायालय के उन सभी अधिकारों का प्रयोग करता है जो व्य० प्र० संहिता द्वारा प्रदान किए गए हैं किंतु उस पर वे सब दायित्व नहीं होते जो व्यवहार न्यायालय पर होते हैं। केवल वही उपबंध इसमें लागू होते हैं जो वाद की सुनवाई और निर्वर्तन से संबंध रखते हैं।

यदि व्यवहार प्रक्रिया संहिता की धारा ११५ लागू भी होती हो तो ठीक उसकी शर्तों के अनुसार ही लागू होगी। उच्च न्यायालय इसमें केवल तभी हस्तक्षेप कर सकता है जब कि उसके नीचे का यह न्यायालय हो। प्रार्थी का न्यायालय एक न्यायालय विशेष है जो जमींदारी विनाश अधिनियम के अंतर्गत बना है। यह व्यवहार न्यायालय (सिविल कोर्ट) से अंतर रखता है। व्यवहार न्यायालय बंगाल और आसाम व्यवहार न्यायालय अधिनियम (सं० १२।१८८७) के अनुसार बने हैं। प्रतिकर अधिकारी का न्यायालय जमींदारी विनाश अधिनियम के अनुसार बना है और इस अधिनियम द्वारा इसे जो अधिकार प्रदान किए गए हैं केवल उन्हीं अधिकारों का यह प्रयोग कर सकता है। धारा ३२५ में दिया हुआ है कि दंड संहिता की कुछ धाराओं के संबंध में इसके अंतर्गत की कार्यवाही न्यायिक कार्यवाही समझी जायगी। इसका अभिप्राय यह है कि इसे व्यवहार न्यायालय के समान नहीं बनाया गया है। धारा ४९ के अंतर्गत पारित आदेश के बारे में दिया हुआ है कि यह व्यवहार न्यायालय की डिग्री समझी जायगी, इससे भी यह पता चलता है कि यह व्यवहार न्यायालय नहीं है। धारा ४८ में दिया हुआ है कि इसको व्यवहार न्यायालय के समस्त अधिकार प्रदान किए गए हैं और इसे व्यवहार प्रक्रिया संहिता के उपबंधों का पालन करना है। इससे भी यही परिणाम निकलता है। व्यवहार न्यायालय को इसकी सुनवाई का अधिक्षेत्र नहीं हैं, यह सर्वथा स्पष्ट है। अतः इसका अर्थ यह निकलता है कि प्रतिकर अधिकारी व्यवहार न्यायालय के समान कार्य नहीं करते। प्रतिकर आयुक्त और उनके सहायक उसके काम का निरीक्षण करते हैं—इस न्यायालय को उसके निरीक्षण करने का कहीं भी उपबंध नहीं है।

"नीचे का" (सबार्डिनेट) शब्द के दो विशेष अर्थ होते हैं। १—निम्न महत्व या श्रेणी का और २—अधीन या प्राधिकार के अंतर्गतवाला। एक न्यायालय का दूसरे के नीचे (सबार्डिनेट) होने का प्रश्न तब उठता है जब ये शब्द दूसरे अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जब यह तय करना होता है कि कोई न्यायालय विशेष धारा ११५ व्य० प्र० सं० के उपबंध के अनुसार उच्च न्यायालय के नीचे का न्यायालय है कि नहीं तो केवल इतना ही दिखलाना पर्याप्त नहीं है कि वह नीचे का न्यायालय निम्न श्रेणी या स्तर का है वरन् यह दिखलाना पड़ेगा कि वह उच्च-

न्यायालय के अधीन या प्राधिकरण के अंतर्गत है। एक न्यायालय दूसरे के नीचे का न्यायालय तब होता है जब वह उस पर अपील के अधिकार का प्रयोग करता है या उसके निरीक्षण के अंतर्गत होता है और अपील के अधिकार का प्रयोग या निरीक्षण करने का अधिकार उसे किसी परिनियम के उपबंधों द्वारा प्रदान किया गया हो। कोई परिनियम यह कह सकता है कि अमुक न्यायालय अमुक न्यायालय के नीचे का न्यायालय है यद्यपि कि ऊपरवाला न्यायालय नीचेवाले न्यायालय पर किसी अपील के अधिकार का या निरीक्षण के अधिकार का प्रयोग न करता हो। उसी प्रकार कोई परिनियम यह कह सकता है कि अमुक न्यायालय अमुक न्यायालय के नीचे का न्यायालय नहीं है चाहे ऊपरवाला न्यायालय नीचे के न्यायालय की अपील ही क्यों न सुनता हो। जब तक न्यायालय को किसी न्यायालय पर नियंत्रण रखने का अधिकार नहीं होता तब तक उसे उच्च न्यायालय के अधीन नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यदि कोई परिनियमित उपबंध न हो तो किसी न्यायालय को उच्च-न्यायालय के नीचे का न्यायालय नहीं कहा जा सकता। उ० प्र० भूधारण अधिनियम के अंतर्गत प्रथम श्रेणी के सहायक कलक्टर के आदेश की अपील जिला न्यायाधीश या आयुक्त के यहाँ होती थी किंतु वह कलक्टर के नीचे का (सबार्डिनेट) था जब कि कलक्टर को मामूली आदेश के सिवा अपील सुनने का अधिकार ही नहीं था। इससे यह प्रकट होता है कि एक न्यायालय दूसरे के नीचे होना उस दूसरे न्यायालय के अपील के अधिक्षेत्र के अंतर्गत होने पर निर्भर नहीं करता।

व्य० प्र० संहिता की धारा ११५ के अंतर्गत "...उच्च न्यायालय के...नीचे का न्यायालय" शब्द प्रयुक्त हैं। यहां नीचे का न्यायालय द्वितीय अर्थ में प्रयुक्त है। चूँकि किस न्यायालय के नीचे का कौन न्यायालय है यह परिनियम का प्रश्न है इसलिए संहिता की धारा ३ में यह दे दिया गया है। "नीचे का न्यायालय" होने की बात इसी उपबंध के अनुसार तय होगी। जब यह स्पष्ट दे दिया गया हो कि नीचे के न्यायालय कौन कौन से हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि जो न्यायालय नहीं दिए हुए हैं वे इसके बाहर हैं। यदि कोई इस विचार का हो कि जो न्यायालय धारा ३ में नहीं दिए हुए हैं वे भी उच्च न्यायालय के नीचे न्यायालय हो सकते हैं तो इसके लिये बहुत ही दृढ़ प्रमाण चाहिए। व्य० प्र० संहिता की धा० ११५ का संकेत उसी ओर है जिनमें व्यवहार प्रक्रिया संहिता लागू होती है। जिनमें व्यवहार प्रक्रिया संहिता लागू नहीं होती वे धारा ११५ के अनुसार उच्च न्यायालय के नीचे के न्यायालय नहीं हो सकते। व्यवहार प्रक्रिया संहिता के अनुसार व्यवहार न्यायालय वहीं हैं जो बंगाल और आसाम व्यवहार न्यायालय अधिनियम के अंतर्गत स्थापित हैं। और न्यायालय या न्यायाधिकरण हैं जो दूसरे अधिनियमों के अंतर्गत स्थापित हैं। वे व्यवहार न्यायालय नहीं है और उनकी कार्यवाही स्वतः व्यवहार प्रक्रिया संहिता के अनुसार नहीं होती। इसलिए धारा ११५ के अंतर्गत वे नीचे के न्यायालय नहीं हो सकते। उनको स्थापित करने वाले अधिनियमों को यह अधिकार होता है कि उसके लिये प्रक्रिया निर्धारित करे। इस प्रक्रिया के लिये यदि वे चाहे तो संपूर्ण व्यवहार प्रक्रिया संहिता के उपबंध लागू कर सकते हैं और चाहें तो कुछ उपबंध व्यवहार प्रक्रिया संहिता के और कुछ अन्य उपबंध भी लागू कर सकते हैं। केवल इतना ही कह देने से कि इसमें व्यवहार प्रक्रिया संहिता के उपबंध लागू होंगे उसे व्यवहार न्यायालय नहीं कहा जा सकता क्योंकि व्यवहार प्रक्रिया संहिता पर व्यवहार न्यायालय का एकाधिकार नहीं है। ए० आई० आर० १९५१ पटना १४०, ए० आई० आर० १९३२ इलाहाबाद ६५१ और आई० एल० आर० ३७ बंबई ११४ में निर्णय हुआ था कि धारा ११५ के लिये नीचे के जो न्यायालय धारा ३ में गिनाए गए हैं वे स्वतः पूर्ण (एक्जास्टिव) नहीं है। किंतु इसके लिये कोई कारण नहीं दिया गया है कि वे स्वतः पूर्ण क्यों नहीं हैं। ए० आई० आर० १९४४ मद्रास १३९ में निर्णय हुआ था कि धारा ११५ के अंतर्गत राजस्व न्यायालय भी उच्च न्यायालय के नीचे का न्यायालय है। दूसरी ओर सुल्तान अली वि० नूर हुसेन में निर्णय हुआ था कि जो न्यायालय धारा ३ की परिभाषा में नहीं हैं वे

धारा ११५ के अभिप्राय के लिये उच्च न्यायालय के नीचे के न्यायालय नहीं हैं। कुछ व्यवहार (सिविल) अधिकारों का प्रयोग करने के कारण ही उन्हें उच्च न्यायालय के नीचे का न्यायालय नहीं कहा जा सकता। इस निर्णय से मैं सहमत हूँ और अत्यंत सम्मान के साथ इसके प्रतिकूल निर्णय देनेवाले उपर्युक्त निर्णयों को मानने में असमर्थ हूँ। धारा ३ स्वतः पूर्ण है इसमें मुझे कोई संदेह नहीं और उसमें दिए गए न्यायालयों के अतिरिक्त कोई दूसरा न्यायालय धारा ११५ के अंतर्गत उच्च न्यायालय के नीचे का न्यायालय नहीं कहा जा सकता।

किसी अधिनियम के अंतर्गत जब नए अधिकार या नए दायित्व का सृजन होता है तब इसके लिये दो उपाय हैं, एक यह कि वर्तमान व्यवहार न्यायालय ही इन अधिकारों और दायित्वों को लागू करें या इसके लिये विशेष न्यायालय की स्थापना हो। यदि वर्तमान व्यवहार न्यायालय ही इन सबको लागू करते हैं तब तो वे धारा ११५ के प्रयोजन के लिये उच्च न्यायालय के अधीन होंगे और यदि उसके लिये नए न्यायालय बनते हैं तो जैसा ऊपर कहा गया है वे उच्च न्यायालय के नीचे के न्यायालय नहीं होंगे क्योंकि नए न्यायालय का बनना ही यह प्रकट करता है कि व्यवहार न्यायालय और इस नए न्यायालय में अंतर है। जब अधिकारों और दायित्वों को लागू करने का काम व्यवहार न्यायालय को दिया जाता है तब दो बातें देखनी चाहिए। यह कि वे अधिकार आदि वर्तमान न्यायालय को दिए गए हैं या न्यायालय के प्रमुख अधिकारी विशेष के निरूपित व्यक्ति (परसोना डेजिग्नेटा) के पद से, यह उसकी व्याख्या द्वारा समझा जा सकता है। ए० आई० आर० १९३३ इलाहाबाद ७६४ में निर्णय हुआ था कि उ० प्र० जिला बोर्ड अधिनियम के अंतर्गत जिला न्यायाधीश जब चुनाव याचिका की सुनवाई करते हैं तो वे (परसोना डेजिग्नेटा) होते हैं, व्यवहार न्यायालय नहीं। ए० आई० आर० १९४९ लाहौर १३१२ में नीचे के न्यायालय को न्यायालय रूप में अधिकार प्रदान करने और ऐसे न्यायालय के प्रमुख अधिकारी को (परसोना डेजिग्नेटा) रूप में अधिकार प्रदान करने में अंतर बतलाया गया है। ए० आई० आर० १९४१ पटना ६५ में निर्णय हुआ था कि देखना यह चाहिए कि यह अधिकार यदि व्यवहार न्यायालय को न्यायालय के पद से सौंपा गया है तब तो इसके लिये तत्संबंधी अधिक्षेत्र के सारे उपबंध लागू होंगे किंतु यदि न्यायालय के पद से यह काम नहीं दिया गया है वरन् वह जब केवल (परसोना डेजिग्नेटा) होता है तो उस समय न्यायालय के समान अधिक्षेत्र वाले उपबंधों से शासित नहीं होगा।

अत्यंत संमान के साथ इस कथन के बारे में मैं अपना सुझाव यह देता हूँ कि इसमें थोड़ा संशोधन कर देना चाहिए तथा देखना चाहिए कि यह अधिकार वर्तमान न्यायालय को प्रदान किया गया है या नए न्यायालय को प्रदान किया गया है। (परसोना डेजिग्नेटा) भी एक न्यायालय हो सकता है इसलिए यह विभेदकरण कि अधिकार का प्रयोग न्यायालय के पद से करने का विधान है या अन्य ढंग से, ठीक नहीं है। कभी कभी यह संयोगवश ही होता है कि ऐसा नियुक्त अधिकारी व्यवहार न्यायालय का अधिकारी होता है अन्यथा यदि कोई दूसरा व्यक्ति हो तो यह भ्रम नहीं पैदा होगा कि यह व्यवहार न्यायालय है कि नहीं। १९५६ ए० डब्ल्यू० आर० (उच्च न्यायालय) १७६ में नगरपालिका अधिनियम के अंतर्गत मजिस्ट्रेट द्वारा पारित एक आदेश का पुनरीक्षण इसलिए नहीं किया गया था कि यह आदेश पारित करते समय मजिस्ट्रेट केवल (परसोना डेजिग्नेटा) था।

'नीचे के न्यायालय' ये शब्द संविधान में भी पाए जाते हैं। संविधान के प्रयोजन के लिये यह बतला दिया गया है कि उच्च न्यायालय के नीचे के न्यायालय कौन कौन से हैं! इसमें अधिनियम विशेष या स्थानीय अधिनियम के अंतर्गत बने हुए अधिनियम जैसे जिला बोर्ड अधिनियम और जमींदारी विनाश अधिनियम आदि का नाम नहीं है। नीचे का न्यायालय होने के लिये एक शर्त यह है कि इसके प्रमुख अधिकारी की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार

राज्यपाल उच्च न्यायालय की सलाह से करते हों। जमींदारी विनाश अधिनियम का यह अभिप्राय नहीं है कि इसके द्वारा बनाए गए न्यायालयों के प्रमुख अधिकारियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा उच्च न्यायालय की सलाह पर हो। इसका अर्थ यह होता है कि कम से कम संविधान के प्रयोजन के लिये यह उच्च न्यायालय के नीचे का न्यायालय नहीं है। अनुच्छेद २२८ में उच्च न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि वह उसके नीचे के न्यायालय में विचाराधीन मामले को यदि चाहे तो हटा सकता है। अनुच्छेद २२७ के अंतर्गत उच्च न्यायालय को सभी न्यायालयों और न्यायाधिकरणों को निरीक्षण करने का अधिकार दिया गया है। इस संबंध में यह बात महत्वपूर्ण है कि अनुच्छेद २२७ में कहीं 'नीचे के न्यायालय' शब्द नहीं प्रयुक्त हैं। इसलिए उच्च न्यायालय के केवल निरीक्षण के अंतर्गत होने से कोई न्यायालय उच्च न्यायालय के नीचे का न्यायालय नहीं हो सकता।

जैसे इसके लिये व्य० प्र० संहिता की धारा ३ में दिया है कि कौन कौन से न्यायालय उच्च न्यायालय के नीचे के न्यायालय हैं उसी प्रकार दंड प्रक्रिया संहिता की धा० १७ और २१ में दिया हुआ है कि कौन कौन से न्यायालय किन किन न्यायालयों के अधीन हैं। प्रक्रिया के संबंध में व्यवहार प्रक्रिया संहिता और दंड प्रक्रिया संहिता दो प्रमुख संहिताएँ हैं। दंड प्रक्रिया संहिता में यह स्पष्ट दिया हुआ है कि 'नीचे के न्यायालय' होने की बात एकमात्र परिनियम (स्टैट्यूट) पर निर्भर करती है, किसी सामान्य नियम पर नहीं। दंड प्रक्रिया संहिता में नीचे के न्यायालय होने और अधीन न्यायालय होने में अंतर बतलाया गया है और यह निश्चित हो चुका है कि एक दूसरे पर निर्भर नहीं करते। यदि दंड प्रक्रिया संहिता के प्रयोजन के लिये नीचे का न्यायालय होना अपील के अधिक्षेत्र के अधीन होने पर निर्भर नहीं करता तो उसी प्रसंग में व्यवहार प्रक्रिया संहिता में 'नीचे के न्यायालय' शब्दों का कोई दूसरा अर्थ लगाना ठीक नहीं है।

ए० आई० आर० १९३४ इलाहाबाद २६० में निर्णय हुआ था कि नीचे का न्यायालय होने के लिये केवल इतना ही आवश्यक है कि वह किसी प्रकार नीचे हो; चाहे वह प्रशासन में नीचे हो चाहे न्याय में नीचे हो या, चाहे निष्पादन में नीचे हो, यदि नीचे है तो वह नीचे का न्यायालय (सबार्डिनेट कोर्ट) कहा जा सकता है। अत्यंत संमान के साथ मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ। यदि सामान्य नियम यही होता तो नीचे का न्यायालय होने के लिये नियम विशेष बनाने की आवश्यकता ही क्या थी? यदि धारा ३ का नियम इस सामान्य नियम के अतिरिक्त होता तो धारा ३ में इसकी ओर संकेत अवश्य होता। यह सामान्य नियम सामान्य वाक्यांश अधिनियम (जेनरल क्लाजेज ऐक्ट) में नहीं है।

न्यायालय अवमान अधिनियम (कंटेंप्ट आफ कोर्ट ऐक्ट) में उच्च न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि वह अपने नीचे के न्यायालयों के अवमान (कंटेंप्ट) में दंड दे। किंतु न्यायालय अवमान अधिनियम की धारा २ में नीचे के न्यायालय का जो अर्थ है उसी अर्थ में धारा ११५ (व्य० प्र० सं०) में उसका प्रयोग नहीं हो सकता। इसके लिये कई प्रमाण दिए गए हैं किंतु वे सब दूसरे प्रसंग में हैं। किसी दूसरे परिनियम में भिन्न प्रसंग में प्रयुक्त इन शब्दों का एक ही प्रकार से अर्थ नहीं किया जा सकता। धारा ११५ के लिये जो पहली शर्त है कि वह न्यायालय व्यवहार (सिविल) न्यायालय होना चाहिए वह शर्त उच्च न्यायालय के नीचे का न्यायालय होने के लिये न्यायालय अवमान अधिनियम के अंतर्गत नहीं है।

उच्च न्यायालय के एकाकी न्यायाधीश के आदेश की अपील उसी उच्च न्यायालय के दो न्यायाधीशों का एक न्यायासन सुनता है किंतु अपील सुनने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि वह एकाकी न्यायाधीश का न्यायालय दो न्यायाधीशों के न्यायासन के नीचे का न्यायालय है। एकाकी न्यायाधीश उच्च न्यायालय का काम करता है और न्यायासन भी उच्च न्यायालय का काम करता है। यदि उक्त सिद्धांत को थोड़ा और आगे

बढ़ा दिया जाय तब तो यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समुदाय और सरकार भी मुंसिफ तक के अधीन हो सकती है क्योंकि वे उनके कार्यों और उनके आदेशों पर निर्णय देते हैं और विधि के विरुद्ध पाने पर उसे अभिखंडित कर सकते हैं। अपील में और इस अभिखंडन की प्रक्रिया में कोई विशेष अंतर नहीं है। यदि कोई न्यायालय किसी न्यायालय के नीचे का न्यायालय केवल इसलिए हो सकता है कि वह अपील में उसके आदेश का अभिखंडन कर सकता है तब तो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक संस्था को प्रत्येक न्यायालय के नीचे का हो जाना चाहिए।

एक बात यह कही गई है कि जमींदारी विनाश अधिनियम की धारा ३३० के अनुसार उच्च न्यायालय को सुनवाई का अधिकार नहीं है। सुनवाई में व्यवहार न्यायालय (सिविल कोर्ट) का अधिकार समाप्त किया गया है और इसी आधार पर यह कहा जाता है कि उच्च न्यायालय भी व्यवहार न्यायालय है। यह बात मैं नहीं मानता। व्यवहार न्यायालयों की स्थापना बंगाल और आसाम व्यवहार न्यायालय अधिनियम के अंतर्गत हुई है किंतु उच्च न्यायालय की स्थापना संविधान के अंतर्गत हुई है—उक्त अधिनियम के अंतर्गत उच्च न्यायालय की स्थापना नहीं हुई है। सामान्य वाक्यांश अधिनियम में उच्च न्यायालय की परिभाषा दी गई है कि राज्य में व्यवहार न्यायालय का सबसे ऊँचा अपील का यह न्यायालय है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि यह व्यवहार न्यायालय है। अपील का सबसे ऊँचा व्यवहार न्यायालय का अर्थ है अपील के अधिक्षेत्र का सबसे ऊँचा न्यायालय, यह आवश्यक नहीं है कि यह स्वतः भी व्यवहार न्यायालय हो।

मेरा निर्णय है कि प्रतिकर अधिकारी व्यवहार प्रक्रिया संहिता की धारा ११५ के अभिप्राय के अंतर्गत उच्च न्यायालय के नीचे का न्यायालय नहीं है।

व्यवहार प्रक्रिया संहिता के आ० १ नि० २ के अंतर्गत उन लोगों को अभिलेख पर लाया जा सकता था जिनको उसमें पक्ष बनाना चाहिए था या पूर्णरूपेण निर्णय देने के लिये जिनका रहना आवश्यक हो। इस मामले में पक्ष बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। एक बात यह कही गई है कि गलती कितनी ही बड़ी क्यों न हो वह पुनरीक्षण में ठीक नहीं की जा सकती। किंतु यहाँ मजिस्ट्रेट को पक्ष बनाने का अधिक्षेत्र नहीं था विकल्पतः अधिक्षेत्र का सारभूत दुरुपयोग हुआ। प्रार्थी नहीं चाहती थी कि विपक्षी को पक्ष बनाया जाय और स्वतः विपक्षी ने भी अपने को पक्ष बनाए जाने पर आपत्ति किया था।

कुछ भी हो चूँकि यह निर्णय हो चुका है कि प्रतिकर अधिकारी इस न्यायालय के नीचे का न्यायालय नहीं है इसलिए व्यवहार प्रक्रिया संहिता की धारा ११५ के अंतर्गत इसमें हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। इसलिए प्रार्थनापत्र उत्सर्जित किया जाता है परंतु परिव्यय के लिये कोई आदेश नहीं दिया जाता।

बहस सुनने के बाद और जब कि मैंने करीब आधा निर्णय लिखा दिया था प्रार्थी की ओर से एक प्रार्थनापत्र दिया गया कि इस प्रार्थनापत्र को संविधान के अनुच्छेद २२७ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र माना जाय। वास्तव में इसमें उत्प्रेषण लेख (रिट आफ सेर्टियोरेरी) जारी करने का प्रार्थनापत्र दिया जाना चाहिए था। प्रतिकर अधिकारी का आदेश बिना अधिक्षेत्र का था इसलिए उत्प्रेषण लेख में उसे अभिखंडित किया जा सकता था। अनुच्छेद २२६ के अंतर्गत लेख, आदेश या निर्देश में जो काम किया जा सकता था वह निरीक्षण (सुपरवाइजरी) अधिक्षेत्र के अंतर्गत अब नहीं किया जा सकता कारण कि इसके लिये जिन जिन शर्तों का पालन करना होता है वह अब नहीं किया जा सकता। दूसरे, उत्प्रेषण लेख का जारी करना विवेक पर निर्भर करता है और यहाँ पर प्रार्थी को कम से कम अब तक कोई हानि नहीं पहुँची है। मैं समझता हूँ कि यदि किसी अन्य उपबंध के अंतर्गत उपाय नहीं रह गई है तो अनुच्छेद २२६ के अंतर्गत उसे पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है। इसलिए मैं इस प्रार्थनापत्र को अनुच्छेद २२७ के अंतर्गत प्रार्थनापत्र मानना अस्वीकार करता हूँ।

प्रार्थनापत्र उत्सर्जित किया जाता है।

प्रार्थनापत्र उत्सर्जित

विधि पत्रिका वर्ष ३, १९५९
इलाहाबाद (राजस्व) २०

मुख्य न्यायाधिपति मूथम और न्यायमूर्ति आर० दयाल
(उच्च न्यायालय)

व्यवहार प्रकीर्णक लेख सं० ३१८९।१९५७

१३ अगस्त १९५८

चौधरी मुहम्मद मुशीर अहमद खाँ तथा अन्य–प्रार्थीगण
वि०
राजस्व मंडल उ० प्र० इलाहाबाद तथा अन्य विपक्षीगण

उ० प्र० भूधारण अधिनियम (यू० पी० टेनेंसी ऐक्ट) १७।१९३९ धा० ४५ बी०–डिग्री का तात्पर्य उस डिग्री से है जो अंतिम हो चुकी हो और जिसे अब बदला नहीं जा सकता।

न्यायमूर्ति दयाल —

भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२६, २२७ के अंतर्गत ये लेख प्रार्थनापत्र निवेशित किए गए हैं। इनके द्वारा राजस्व मंडल द्वारा पारित एक आदेश की वैधता पर आपत्ति की गई है। तथ्य इस प्रकार हैं:—

१९४४ में प्रार्थीगण ने उ० प्र० भूधारण अधिनियम की धारा १७५ और १७६ के अंतर्गत कुछ खेतों पर से प्रतिवादी उत्तरवादियों के अधिनिष्कासन (एजेक्टमेंट) के लिये वाद निवेशित किया। इसमें प्रार्थीगण को इन खेतों का सीरदार कहा गया और प्रतिवादियों को उनका कृषक। इस वाद का विरोध प्रतिवादियों ने कई आधार पर किया जिनमें से प्रमुख यह था कि हम इन खेतों के वंशानुगत कृषक (हेरीडेटरी टेनेंट्स) हो चुके हैं।

१४ अप्रैल १९४५ को अन्वीक्षा (ट्रायल) न्यायालय ने प्रार्थीगण के पक्ष में निर्णय दिया और प्रतिवादी उत्तरवादीगण के अधिनिष्कासन के लिये डिग्री पारित किया। डिग्री का निष्पादन १९४५ में हुआ और प्रार्थीगण ने धारण (पोजेशन) प्राप्त कर लिया। इसके बाद प्रार्थीगण ने इन खेतों को उन्हें लगान पर दे दिया और इन कृषकों का नाम १३५६ फ० में अध्यासी (आकूपैंट) लिख गया।

उस निर्णय के विरुद्ध प्रतिवादियों ने जो अपील निवेशित की थी उसे रुहेलखंड के आयुक्त ने २८ नवंबर १९४५ को उत्सर्जित कर दिया। राजस्व मंडल में अपील १९५७ में सुनवाई के लिये आई और इसमें प्रतिवादी उत्तरवादियों का कथन है कि उ० प्र० जमींदारी विनाश अधिनियम की धारा २० (ए०) के अंतर्गत हमें अधिवासी अधिकार प्राप्त हो गया है। राजस्व मंडल ने इस कथन को मान लिया और अपील स्वीकार किया। इसी स्वीकार करनेवाले आदेश की वैधता पर इस लेख प्रार्थनापत्र द्वारा आपत्ति की गई है।

राजस्व मंडल में और इस न्यायालय में इस बात पर जोर दिया गया कि नीचे के न्यायालयों का यह निर्णय था कि प्रार्थीगण की 'सीर' की भूमि के प्रतिवादीगण कृषक (टेनेंट्स) थे और डिग्री के निष्पादन पर उनका अधिनिष्कासन होने पर भी वे निहित होने की तिथि के ठीक पहले की तिथि को 'सीर' के कृषक थे और इसलिए जमींदारी विनाश अधिनियम की धारा २० (ए०) (१) के अंतर्गत उन्हें अधिवासी अधिकार प्राप्त हो गया तथा अब उनका अधिनिष्कासन नहीं हो सकता। इस विधिक स्थिति को तो वादी ने माना पर उनका कहना था कि उ० प्र० भूधारण अधिनियम की धारा ४५ बी० के अंतर्गत डिग्री का निष्पादन होने के बाद प्रतिवादियों की शिकमी की स्थिति समाप्त हो गई। वादी के इस कथन के उत्तर में प्रतिवादियों का कहना है कि उस डिग्री के विरुद्ध प्रतिवादियों की अपील अभी भी विचाराधीन है इसलिए डिग्री के अंतिम (फाइनल) न होने से प्रतिवादियों का 'सीर' के कृषक होने का अधिकार समाप्त नहीं हुआ। राजस्व मंडल ने इस अभिकथन को मान लिया और तदनुसार नीचे के न्यायालय की डिग्री को निराकृत कर दिया।

यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना है कि क्या राजस्व मंडल का यह निष्कर्ष गलत है ?

धारा ४५ (बी०) के देखने से पता चलता है कि उसमें अधिनिष्कासन का संबंध उस डिग्री से है जो कि केवल इसी अर्थ में अंतिम (फाइनल) न हो गई हो

कि यह प्रभावपूर्ण और मानने योग्य है वरन् इस अर्थ में कि किसी बड़े न्यायालय द्वारा अब निराकृत नहीं की जा सकती। जब तक परिस्थिति ऐसी है कि इस डिग्री का निराकरण हो सकता है तब तक उस डिग्री के आधार पर किसी कृषक का अधिनिष्कासन उसके भूधारण अधिकार का उपशमन (एक्सटिंक्शन) नहीं कर सकता।

यदि इसका अर्थ यह न हो तब तो जब अन्वीक्षा (ट्रायल) न्यायालय डिग्री पारित करके उसका निष्पादन करता है और उसके फलस्वरूप वह कृषक धारण (पोजेशन) छोड़ देता है तो उसका अधिकार समाप्त हो जाने से वह अपील में बहस ही नहीं कर सकता, ऐसी बात नहीं है।

इस प्रकार राजस्व मंडल का यह निर्णय ठीक था कि जमींदारी विनाश अधिनियम के लागू होने के समय प्रतिवादी का शिकमी का अधिकार समाप्त नहीं हो गया था।

प्रार्थनापत्र परिव्यय के साथ उत्सर्जित किए जाते हैं।

प्रार्थनापत्र उत्सर्जित

———

विधि पत्रिका वर्ष ३, १९५९ इला० (राजस्व) २१

आर० के० सिंह और सी० एच० निगम, न्यायिक-सदस्यगण

बहवरहा, पचोतर, गाजीपुर

एस० ए० सं० ४५१।५४-५५—२३ जनवरी १९५९

नरेश अहीर — अपीलकर्ता

वि०

केवल अहीर — उत्तरवादीगण

उ० प्र० भूधारण अधिनियम की धारा ४९ के अंतर्गत एक मुकदमे में वाराणसी के अतिरिक्त आयुक्त के आदेश दिनांक २९-७-१९५५ के विरुद्ध द्वितीय अपील

उ० प्र० जमींदारी विनाश तथा भूमिसुधार अधिनियम १९५०—उ० प्र० भूधारण अधिनियम की धारा ४९ के अंतर्गत वाद—उ० प्र० जमींदारी विनाश अधिनियम के अंतर्गत निहित होने की तिथि के बाद यदि भूस्वामी (लैंड होल्डर) की मृत्यु हुई तो भूस्वामी के उत्तराधिकारी आवश्यक पक्ष नहीं है कि अभिलेख पर लाए जाँय।

सिंह, न्यायिक सदस्य—

वाराणसी के अतिरिक्त आयुक्त ने उ० प्र० भूधारण अधिनियम की धारा ४९ के अंतर्गत निवेशित वाद को उत्सर्जित कर दिया था। उसी आदेश के विरुद्ध नरेश अहीर आदि ने यह द्वितीय अपील निवेशित की है। अन्वीक्षा (ट्रायल) न्यायालय ने वादी के वाद में डिग्री दे दी थी। प्रतिवादियों ने इसके विरुद्ध अपील निवेशित किया। विद्वान अतिरिक्त आयुक्त ने अपील उत्सर्जित कर दिया। प्रतिवादीगण इस द्वितीय अपील में आए हैं।

विद्वान् अतिरिक्त आयुक्त ने अपील का निर्णय तत्व पर नहीं दिया वरन् केवल प्राबैधिक (टेक्निकल) आधार पर इसे उत्सर्जित कर दिया। विद्वान् अतिरिक्त आयुक्त ने अपने निर्णय में जहाँ तहाँ गलतियाँ दिखलाई हैं कि मरने पर मृतक के विधिक उत्तराधिकारी अभिलेख पर नहीं लाए गए किंतु ये सब महत्व की नहीं हैं। रिसाल वि० उ० प्र० सरकार १९५६ ए० एल० जे० ५१६ में निर्णय हुआ था कि निहित (वेस्टिंग) आदेश के बाद भूस्वामी (लैंडहोल्डर) भूस्वामी नहीं रह गए वरन् राज्य अब भूस्वामी है इसलिए उ० प्र० भूधारण अधिनियम की धारा ४९ के मुकदमें में भूस्वामी जब जमींदारी विनाश अधिनियम की धारा ६ के अंतर्गत निहित होने के आदेश के बाद मरा तो उससे भूस्वामी का अधिकार समाप्त हो गया तथा उसके उत्तराधिकारी को अभिलेख पर लाने की कोई आवश्यकता नहीं रही। ऐसी अवस्था में, उसमें निर्णय हुआ था कि पूर्णरूपेण और प्रभावपूर्ण निर्णय देने के लिये न्यायालय यदि चाहे तो गाँवसभा को पक्ष बना सकती है। गाँवसभा को पक्ष बनाने में कोई रुकावट नहीं बतलाई गई है।

उच्च न्यायालय के इस निर्णय के बाद मृतक जमींदार के उत्तराधिकारियों को पक्ष बनाने और उनके वयस्क या अवयस्क होने पर विचार करने में समय लगाना व्यर्थ था। विद्वान् अतिरिक्त आयुक्त को इसका निर्णय तत्व पर देना चाहिए था प्रावैधिक (टेक्निकल) ढंग पर नहीं।

इस प्रकार विधि की ऐसी स्थिति में मृतक जमींदार के उत्तराधिकारियों को जमींदारी विनाश के बाद अभिलेख पर लाना आवश्यक नहीं है। अतः अपने सहयोगी की सहमति के अधीन मैं अपील स्वीकार करता हूँ और इसे तत्व पर निर्णय देने के लिये अतिरिक्त आयुक्त के यहाँ प्रतिप्रेषित करता हूँ। यदि विद्वान् अतिरिक्त आयुक्त आवश्यक समझें तो गाँव सभाको पक्ष बना सकते हैं कारण कि गाँवसभा को पक्ष बनाने में कोई रुकावट नहीं डाली गई है।

न्यायिक सदस्य निगम—मैं सहमत हूँ।

अपील स्वीकृत

विधि पत्रिका वर्ष ३, १९५९
इलाहाबाद (राजस्व) २२

एस० एन० मित्रा एवं आर० के सिंह, न्यायिक सदस्यगण

कृषि आयकर पुनरीक्षण सं० ४०४।१९५६
८ दिसंबर १९५८

हनुमान प्रसाद वि० राज्य

उ० प्र० कृषि आयकर अधिनियम, १९४८, धा० २५—यदि कुछ धनराशि करनिर्धारण (असेसमेंट) से बच गई हो तो इसके प्रमाण का आरंभिक भार विभाग पर है।

न्यायिक सदस्य, मित्रा—

कृषि आयकर अधिनियम की धारा २२ के अंतर्गत अपील के प्राधिकारी के आदेश दिनांक १४–३–५५ के विरुद्ध यह पुनरीक्षण है। यह हनुमान प्रसाद करदाता की १३६० फ० की आय के बारे में है।

श्री हनुमान प्रसाद पर १७०७७ रु० पर कर निर्धारण हुआ था। बाद में यह पता चला कि १३५५ फ० से १३५९ फ० तक बकाया लगान की ४५६९ रु० की आय करनिर्धारण से बच गई है। कर निर्धारण प्राधिकारी ने कृषि आयकर अधिनियम की धारा २५ के अंतर्गत आगे की कार्यवाही आरंभ किया और इस धनराशि पर ७५३ रु० १५ आना और कर लगाया। करदाता ने अपील निवेशित किया और झाँसी मंडल के विद्वान् कलक्टर ने अपने आदेश दिनांक १४–३–५५ द्वारा इस छूटी हुई आय के बारे में कार्यवाही बंद कर दिया।

विभाग की ओर से विशेष कार्याधिकारी की बहस सुना। उनका कहना है कि ४५६९ रु० १३६१ फ० में बकाया लगान का वसूल किया गया। उनका कहना है कि यह बकाया लगान १३५५ से १३५९ फ० तक की है। उनका यह भी कहना है कि यदि करदाता के शपथ-पत्र को छोड़ दिया जाय तो कोई और ऐसा साक्ष्य नहीं है जिससे पता चले कि करदाता ने बकाया लगान की वसूली नहीं किया। उनका यह भी कहना है कि करदाता ने रक्षित-प्रति (काउंटर फायल) न तो कर निर्धारण अधिकारी के समक्ष उपस्थित किया और न अपील के अधिकारी के समक्ष और करदाता ने स्वयं सारभूत साक्ष्य को छिपाया है। तात्पर्य यह कि उनका कहना है कि यह बात प्रमाणित करने के लिये कि इस छुटी हुई आय के बारे में करदाता ने वसूली नहीं की, भार करदाता पर है और अपील के प्राधिकारी ने उस धनराशि को छोड़ देने में गलती की है।

करदाता के विद्वान् वकील का कहना है कि आरंभिक करनिर्धारण के बारे में यों तो भार करदाता पर था कि इस बात का प्रमाण दे कि उसने कितनी धनराशि वसूल की है पर 'छुटी हुई आय' (इस्केप्ट इनकम) के बारे में प्रमाण देने का भार करदाता पर से हट कर विभाग पर चला गया। इस संबंध में विद्वान् वकील ने आयकर आयुक्त बंबई वि० गोपाल बैजनाथ मनोहर ए० आई० आर० १९२५ बंबई ४१० का निर्देश किया जिसमें निर्णय हुआ था कि यह दिखलाने का भार कि कोई आय करनिर्धारण से बच गई है या कर निर्धारण बहुत कम दर

पर हुआ है आयकर आयुक्त पर है। विद्वान् वकील ने चिमनराम वि० आयकर आयुक्त, बंबई ए० आई० आर० (३०) १९४३ बंबई १३२ का भी निर्देश किया जिसमें निर्णय हुआ था कि केवल यह कहने से ही काम नहीं चलेगा कि कोई आय करनिर्धारण से छूट गई है वरन् आयकर आयुक्त को यह स्थापित करना पड़ेगा कि उक्त आय कर निर्धारण से छूट गई है, कर दाता को प्रमाणित नहीं करना है कि आरंभिक कर निर्धारण ठीक था और कोई आय कर निर्धारण से छूटी नहीं है। विद्वान् वकील का कहना है कि छूटी हुई आय को प्रमाणित करने का भार कृषि आयकर विभाग पर है, न कि करदाता पर। विभाग ने यह प्रमाणित नहीं किया है कि १३५५ फ० से १३५९ फ० तक की बकाया धनराशि १३६० फ० में वसूल की गई। अपील के अधिकारी ने छूटी हुई आय के बारे में जो कार्यवाही समाप्त कर दी वह ठीक किया। विद्वान् वकील का यह भी कहना है कि करदाता ने रक्षित प्रति (काउंटर फायल) दी है और विभाग की ओर से विशेष कार्याधिकारी का यह कहना ठीक नहीं है कि रक्षित प्रतियाँ नहीं दी गई।

इसमें प्रमुख प्रश्न यह है कि जो ४५६९ रु० की धन राशि १३५५ फ० से १३५९ फ० तक की बकाया थी उसे करदाता ने वसूल किया है कि नहीं। यह सर्वथा स्पष्ट है कि १३५५ फ० से १३५७ फ० तक का बकाया धन १३६० फ० में कालबाधित हो गया और वसूल नहीं किया जा सकता। जो बकाया धन वसूल किया जा सकता है वह १३५८ से १३६० फ० तक का है। कर दाता की ओर से एक शपथपत्र निवेशित किया गया है कि हमने १७७६८ रु० के अतिरिक्त और रुपया वसूल नहीं किया है और उक्त धनराशि पर कर पहले ही लग चुका है। अपील के अधिकारी का निर्णय था कि इस मामले से यह पता चलता है कि रसीद की रक्षित प्रतियाँ प्रेषित की गई हैं। विशेष कार्याधिकारी का कहना है कि रसीद की रक्षित प्रतियाँ प्रेषित नहीं की गई हैं। कुछ भी हो विभाग ने यह प्रमाणित नहीं किया कि ४५६९ रु० की धनराशि करदाता ने वसूल किया है और जब तक कि इस प्रकार का साक्ष्य नहीं आता करदाता पर यह प्रमाणित करने का भार नहीं है कि आरंभिक कर निर्धारण ठीक था। अपील के अधिकारी ने जो छूटी हुई आय के बारे में कार्यवाही समाप्त कर दी, वह ठीक किया। कौन धनराशि कर निर्धारण से बच गई है इसको प्रमाणित करने का आरंभिक भार विभाग पर है।

अतः हमारा विचार है कि यह पुनरीक्षण उत्सर्जित कर दिया जाय।

पुनरीक्षण उत्सर्जित

विधि पत्रिका वर्ष ३, १९५९
इलाहाबाद (राजस्व) २३
पूर्ण न्यायासन

आर० दयाल, गोपाल जी मेहरोत्रा और ए० पी० श्रीवास्तव न्यायमूर्तिगण

उच्च न्यायालय

बाँसी के अतिरिक्ति मुंसिफ श्री रमेशचंद्र सक्सेना के निर्णय दिनांक २८ अक्टूबर १९५७ के विरुद्ध व्यवहार पुनरीक्षण सं० ४६१।१९५२

२८ अक्टूबर, १९५७

यार मुहम्मद तथा अन्य — प्रार्थीगण

वि०

लक्ष्मीदास तथा अन्य — विपक्षीगण

विशिष्ट साहाय अधिनियम (स्पेसिफिक रिलीफ ऐक्ट) १८७७, धा० ९-उ० प्र० भूधारण अधिनियम (यू० पी० टेनेंसी ऐक्ट) १९३९, धा० २४२-खेती की जानेवाली भूमि के धारण (पोजेशन) के लिये विशिष्ट साहाय्य अधिनियम की धारा ९ के अंतर्गत वाद निवेशित किया गया तो यह उ० प्र० भू धारण अधिनियम की धा० २४२द्वारा बाधित (बार्ड)नहीं है।

न्यायमूर्ति श्रीवास्तव—

इस पूर्ण न्यायासन का निर्माण इस बात पर विचार करने के लिये हुआ है कि यदि वादी ने खेती की जाने वाली भूमि पर से अपना धारण वाद निवेशित करने की तिथि से ६ महीने के भीतर हटने के संबंध में धारण

वापस पाने के लिये वाद विशिष्ट साहाय्य अधिनियम की धारा ९ के अंतर्गत निवेशित किया है तो क्या व्यवहार न्यायालय (सिविल कोर्ट) का अधिक्षेत्र उ० प्र० भूधारण अधिनियम की धारा २४२ के अंतर्गत बाधित है ?

इसका निर्देश (रेफरेंस) न्यायमूर्ति मुकर्जी ने इसलिए किया है कि इसी न्यायालय के दो विभागीय न्यायासन के इसी विषय पर के निर्णयों में विरोध है (ये निर्णय गंगादीन वि० गोकुल प्रसाद १९५१ ए० एल० जे २९० और जगनारायण मल्लाह वि० भगवती प्रसाद पांडेय १९५७ ए० एल० जे० ७८३ हैं) और उस विरोध को ठीक करने की आवश्यकता है ।

विद्वान् वकील ने भूराजस्व अधिनियम (लैंड रेवेन्यू ऐक्ट) की धारा ४० (२) पर भी बहस करना चाहा किंतु हमने उन्हें इसकी अनुमति नहीं दी कारण कि केवल उपर्युक्त प्रश्न ही हमको निर्देश किया गया है ।

वादी ने ३० नवंबर १९४८ को विशिष्ट साहाय अधिनियम की धारा ९ के अंतर्गत धारण के लिये एक वाद निवेशित किया और उसमें उसका कहना था कि हम विवादग्रस्त खेतों के (यह मान्य है कि इन खेतों में खेती की जाती है) धारण में थे और प्रतिवादीगण ने बिना किसी विधिक आधार पर गलत ढंग से हमारा धारण नवंबर १९४८ में हटा दिया । प्रतिवादियों ने इसका विरोध किया और उनका कहना है कि वादीगण का उपर्युक्त कथन सही नहीं है । उनका कहना है कि हम लोग वादी के कृषक हैं और १२ वर्ष से अधिक लगातार धारण में हैं, इसलिए उनका कहना है कि वादीगण हमारा अधिनिष्कासन नहीं कर सकते । उनका यह भी कहना है कि वादीगण ने राजस्व न्यायालय (रेवेन्यू कोर्ट) के अधिक्षेत्र से छुटकारा पाने के लिये ही विशिष्ट साहाय्य अधिनियम की धारा ९ के अंतर्गत यह वाद निवेशित किया है क्योंकि यदि वे राजस्व न्यायालय में यह वाद निवेशित करते तो कभी सफल नहीं होते ।

गंगादीन के उपर्युक्त निर्णय पर निर्भर करके विद्वान् मुंसिफ ने अधिक्षेत्र न रहने की बात अस्वीकार कर दिया । तथ्य के आधार पर उन्होंने वादी की बात को स्वीकार किया और प्रतिवादियों के कथन को अस्वीकार कर दिया । इस पर प्रतिवादियों ने पुनरीक्षण प्रार्थनापत्र निवेशित किया । इसी से यह निर्देश (रेफरेंस) आया है । पुनरीक्षण में उनका कहना है कि विद्वान् मुंसिफ ने उ० प्र० भूधारण, अधिनियम की धारा २४२ के लागू होने के संबंध में जो अपना विचार व्यक्त किया है उसमें औचित्य नहीं है और इस प्रश्न का निर्णय उन्होंने ठीक नहीं किया है । विद्वान् वकील ने अपने कथन के समर्थन में जगनारायण मल्लाह के उपर्युक्त निर्णय पर निर्भर किया ।

प्रार्थी के विद्वान् वकील ने पाँच आधारों पर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि वादी के इस वाद की सुनवाई राजस्व न्यायालय में ही हो सकती है । इनमें से कई आधार एक समान ही हैं । वे इस प्रकार हैं:–

(१) उ० प्र० भूधारण अधिनियम की धारा २४२ के उपबंधों का क्षेत्र विस्तृत है और उनकी प्रकृति आदेशात्मक (इंपरेटिव) है । अधिनियम के इतिहास से यह पता चलता है कि अब तक विधान मंडल का विचार यही रहा है कि खेती किए जानेवाले खेतों के झगड़ों का निबटारा राजस्व न्यायालय को ही करना चाहिए । जब कभी न्यायालय ने विधि का अर्थ इस प्रकार लगाने का प्रयत्न किया कि उससे व्यवहार न्यायालय को ऐसे मामलों की सुनवाई का सहवर्ती या विकल्पतः (आल्टरनेटिव) अधिकार प्राप्त है तब विधान मंडल ने हस्तक्षेप करके व्यवहार न्यायालय के अधिक्षेत्र को हटाने के संबंध में प्रतिबंध को स्पष्ट किया । झगड़े की प्रकृति जो भी हो इसका संबंध यदि खेती किए जानेवाले खेतों से है और उ० प्र० भूधारण अधिनियम की चतुर्थ सूची में किसी प्रकार से भी वे आ सकते हैं तो एकमात्र राजस्व न्यायालय को ही इसकी सुनवाई का अधिकार होगा । जब उ० प्र० भूधारण अधिनियम की धारा २४२का अधिनियमन हो रहा था उस समय विशिष्ट साहाय्य अधिनियम की धारा ९ के अंतर्गत निवेशित वाद के विषय में कोई अपवाद नहीं बनाया गया । इसलिए यदि वादी ने अपने वाद का निर्माण विशिष्ट साहाय्य अधिनियम की धारा ९ के अंतर्गत किया तो धारा २४२

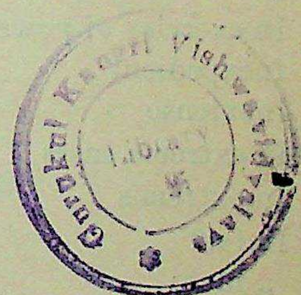
Incoherent — असंबद्ध
Income — आय
„ accruing and arising — प्रोद्‌भूत और उत्पन्न आय
„ expenditure — आय व्यय
„ per capita — प्रतिव्यक्ति आय
„ Tax Officer — आयकर अधिकारी
„ tax refund — आयकर प्रत्यर्पण
„ tax return — आयकर प्रविवरण
„ Tax Service — आयकर सेवा
„ tax statements — आयकर विवरण
„ „ verification certificate — आयकर सत्यापन प्रमाणपत्र
Incoming — आगामी, आनेवाला
„ — आय
Incomings — आय
Incompatible — असंगत
„ with justice — न्यायासंगत
Incompetence — अक्षमता
Incompetency — अक्षमता
Incompetent — निर्बल, अक्षम
„ evidence — अप्रतिग्राह्य साक्ष्य
„ remand order — अक्षम प्रतिप्रेषण आदेश
Incomplete — अपूर्ण, अधूरा
In conformity with — के अनुसार
„ connection with — से संबद्ध, के संबंध में, के बारे में
„ consequence — परिणाम स्वरूप, फलतः
„ consideration of — के प्रतिफल स्वरूप
Incosistency — विरोध, असंगति
Inconsistent clauses — असंगत खंड
In consonance with — के अनुसार, के अनुकूल
„ consultation with — से परामर्श करके
„ contempletion of — को ध्यान में रखते हुए, के विचार से
Incontestable — अविवाद्य
In continuation of — की अनुवृत्ति में, के आगे
„ contradiction to — के विपरीत
„ contra-distinction to — के व्यतिरेक में, के प्रतिविपरीत
„ contravention of — के प्रतिकूल, का उल्लंघन कर

Inconvenience — असुविधा
Inconvertible — अपरिवर्त्य
Incorporated — समाविष्ट, निगमित
Incorporation — समामेलन, निगमन
Incorporeal — अमूर्त
" chattels — अमूर्त स्वापतेय
" hereditament — अमूर्त दायाप्ति
" property — अमूर्त संपत्ति
" thing — अमूर्त वस्तु
Incorrect — अशुद्ध
" entry — " प्रविष्टि
Increase — वृद्धि
Increased power — वर्धित शक्ति
Increment — वृद्धि, संवृद्धि
" to island — द्वीप में "
Incriminate — अपराधारोपण
Incriminating — अपराधारोपक
" circumstances — अपराधारोपक परिस्थितियाँ
" evidence — अपराधारोपक साक्ष्य
Incrimination — अपराधारोपण
Inculpable — अदोष
Inculpate — दोषारोपण करना, दोष लगाना
Inculpatory — दोषारोपक
Incumbent — अनिवार्य
Incurable infirmity — असाध्य नैर्बल्य
Incur debts — ऋण लेना
" liability — दायित्व लेना
" loss — हानि उठाना
Indebted — ऋण ग्रस्त, ऋणी
Indebtedness — ऋण ग्रस्तता
Indecency — अशिष्टता
Indecent — अशिष्ट, अश्लील
" assault — बलात्कार
" exposure — अश्लील अनावरण
" liberties — " स्वच्छंदता
Indecently — अशिष्टतः

Indecent publication	अश्लील प्रकाशन
Indecisive	अनिर्णीत
In default of	के अभाव में
„ „ „ payment	न देने पर
Indefeasible	अशून्यी कार्य
„ estate	„ „ संपदा
Indefeasible interest	„ „ हित
Indefinite	अनिश्चित, अनियत
„ imprisonment	„ कारावास
„ punishment	„ दंड
„ trust	„ न्यास
Indelible	अमिट
Indemnification	क्षतिपूर्ति
Indemnify	„ करना
Indemnifying	क्षतिपूरण
Indemnity	क्षतिपूर्ति
Indent	व्यादेश, वस्तु आदेश, बीजक
Indents and supplies	„ और प्रदाय
Indenture	अनुबंध
Independence	स्वतंत्रता
Independent	स्वतंत्र, स्वाधीन
„ contract	„ संविदा, अनाश्रित संविदा
„ contractor	स्वतंत्र संविदाकार, स्वतंत्र ठेकेदार
„ covenant	अनाश्रित संश्राव
In detail	विस्तार में, सविस्तर
Indeterminate	अनियमित, अनिश्चित
„ sentence	अनियत दंडादेश
Index	देशना
India Act	भारत अधिनियम
„ Government Mint	भारत-शासन-टंक शाला
„ Meteorological Office	भारतीय ऋतु विज्ञान कार्यालय
Indian Administrative Service	भारत-प्रशासन-सेवा
„ Aircraft Act	भारतीय विमान अधिनियम
„ Air Force Act	„ वायुसेना अधिनियम
„ Arms Act	„ आयुध „
„ Army Act	„ सेना „

Indian Army Circular	भारतीय सेना परिपत्र
„ Army Orders	„ „ आदेश
„ Bar Councils Act	„ विधि परिषद् अधिनियम
„ Citizen	„ नागरिक
„ Citizenship Law	„ नागरिकता विधि
„ Companies Act	„ समवाय अधिनियम
„ Contract Act	„ संविदा „
„ „ (Amendment) Act	„ „(संशोधन)„
„ Copyright Act	„ प्रतिलिप्यधिकार अधिनियम
„ Councils Act	„ परिषद् अधिनियम
„ Electricity Act	„ विद्युद् अधिनियम
„ Electricity Rules	„ „ नियम
„ Emigration Act	„ उत्प्रवास अधिनियम
„ Evidence Act	„ साक्ष्य „
„ Explosives Act	„ उत्स्फोट „
„ Extradition Act	„ प्रत्यर्पण „
„ Factories Act	„ निर्माणी „
„ (Foreign Jurisdiction) Order in Council	„ (विदेश-क्षेत्राधिकार) परिषद् आदेश
„ Forest Act	„ वन अधिनियम
„ Limitation Act	„ अवधि „
„ Lunacy Act	„ उन्माद „
„ Majority Act	„ वयस्कता „
„ Medical Council Act	„ भैषजिक परिषद् अधिनियम
„ Medical Degrees Act	„ „ उपाधि „
„ Medical Service (Reserved Posts) Rules	„ „ सेवा (आरक्षित पद) नियम
„ Merchandise Marks Act	„ पण्य चिह्न अधिनियम
„ Mines Act	„ खानि अधिनियम
„ national	„ नागरिक
„ „ of Indian domicile	„ राष्ट्रिक जो भारत का नागरिक हो
„ Naturalization Act	„ देशीयकरण अधिनियम
„ Navy (Discipline) Act	„ नौ सेना (अनुशासन) अधिनियम
„ Passport Act	„ पारपत्र अधिनियम
„ Penal Code	भारतीय दंड संहिता
„ Piligrim Ship Rules	„ तीर्थयात्रा जलयान नियम

Indian Police Act	भारतीय आरक्षि अधिनियम
„ Post Office Act	„ डाकघर अधिनियम
„ Railways Act	„ संयान „
„ Registration Act	„ पंजीयन „
„ „ of Ships Act	„ जलयान पंजीयन अधिनियम
„ Stamp Act	„ मुद्रांक अधिनियम
„ „ Amendment (Extending	„ मुद्रांक अधिनियम
and Amending) Act	„ मुद्रांक-संशोधन-(विस्तारी तथा संशोधी) अधि०
Indian Succession Act	„ उत्तराधिकार अधिनियम
Indictment	अभ्यारोप
Indictor	अभ्यारोपक
Indigent	निर्धन
„ prisoner	„ बंदी
Indignity	अपमान
Indirect	परोक्ष, व्यवहित, अप्रत्यक्ष
„ confession	अप्रत्यक्ष दोष स्वीकृति
Indirectly	परोक्षतः, परोक्ष रूप में
Indiscriminately	बिना विभेद के अविवेकतया
Indiscriminate slaughter	अविवेक बध
Indispensable	अनिवार्य, अपरिहार्य
„ evidence	„ साक्ष्य
„ party	„ पक्ष
Indisputable	अविवाद्य, निर्विवाद्य
„ titte	निर्विवाद्य स्वत्व
Indistinct	अस्पष्ट
Indistinguishable	भेद रहित
Individual	व्यक्ति
Indivisible	अविभाज्य
„ property	„ संपत्ति
Indoor	आभ्यंतर, अंतर्वासी
„ patient	अंतर्वासी रोगी
Inducement	प्रेरणा, प्रोचन
Induct	पदासीन करना, प्रतिष्ठित करना
In due course	यथाक्रम, यथा समय
„ „ „ of law	यथोचित विधि क्रम में
In due process of law	„ „ प्रक्रिया में



Indulgue	निरत होना
Indulgence	निरति
Industrial Disputes Settlement Act	औद्योगिक-विवाद-समाधान-अधिनियम
Industrial Financc Corporation Act	,, वित्त निगम अधिनियम
Industry	उद्योग
,, department	,, विभाग
In effect	प्रवर्तन में, प्रवृत्त, लागू
Ineffective	निष्प्रभावी, अप्रभावी
Inefficiency	अदक्षता, कार्याक्षमता
Ineligibility	अपात्रता
Ineligible	अपात्र
Inequality	असमता
Inequitable	असाम्यपूर्ण, अन्याय्य
In equity	साम्य में, साम्यतः
Inevitable	अपरिहार्य अवश्यंभावी
,, accident	अपरिहार्य दुर्घटना
,, casualty	,, उपघात
Inevitable march of events	अनिवार्य घटना क्रम
Inexact	अयथार्थ
Inexercise of	का प्रयोग करते हुए, के प्रयोग में
In exercise of powers	अधिकारों का प्रयोग करते हुए
Inexpedient	अनुपयुक्त, अवांछनीय
Inextenso	सविस्तर, विस्तार से, पूरा पूरा
In extreme cases	चरम स्थितियों में
In extremis	मरणासन्न, अंतिमावस्था में
In fact	वस्तुतः
,, facto	,,
Infamous	जघन्य, दुष्कीर्तिकर
,, conduct	,, आचरण
,, crime	,, अपराध
Infamy	दुष्कीर्ति, कलंक
Infancy	शैशव, शैशव काल
Infant	शिशु
Infantry	पदाति सेना
Inference	अनुमान, अध्याहार
Inferential fact	आनुभाविक तथ्य

Inferior	अवर, अधर, निचला
„ court	नीचे का न्यायालय
„ criminal court	नीचे का दंड „
„ holder	अवरधारी
Inferred	अनुमित
Inferior proprietor	अवर अधिस्वामी
Infinite	अनंत, असंख्य
Infirmity	नैर्बल्य
Infirm person	निर्बल व्यक्ति
Inflation	स्फीति
Inflict punishment	दंड देना
Influence	प्रभाव, प्रभावित करना, प्रभाव डालना
Influcntial	प्रभावशाली
Inforce for the time being	तत्समय प्रवृत्त
Inform	सूचित करना, बताना
Informal	अनौपचारिक
Informant	ज्ञापक, सूचक
Informa pauperis	अकिंचन के रूप में, अकिंचनवत्
In formation	सूचना, जानकारी
„ and belief	सूचना और विश्वास
In former	भेदी, सूचक
Infringe	अतिलंघन करना
Infringement	अतिलंघन
„ of copyright	प्रतिलिप्यधिकार का अतिलंघन
„ „ rules	नियमों का अतिलंघन
Infront	सामने
Infructuous	निष्फल
In full	पूर्णतः
„ satisfaction	के पूर्णतया चुकाने के लिये
In future	भविष्य में, आगे
In futuro	भावी
In good faith	सद्‌भाव से, सद्‌भावना से
„ „ order	सुव्यवस्थित
„ „ time	समय रहते, समय पर
Ingress	प्रवेश, प्रवेशाधिकार, प्रवेश मार्ग
Ingress and egress	प्रवेश और निर्गम

Ingression	प्रवेश
In gross	व्यक्तिबद्ध, अभूमिबद्ध
Inhabitant	निवासी
In hand	हस्तगत
Inherent	अंतर्निहित, अंतर्भूत
„ right	अंतर्निहित अधिकार
Inherit	दाय पाना
Inheritable blood	दायाद्यता
Inheritance	दाय
„ certificate	दाय प्रमाणपत्र
Inheritance tax	दायकर
Inherited	दायागत
Inhibit	निरोध करना
Inhibition	निरोध, निरोधन, निरोध लेख
In his discretion	स्वविवेक से, स्वविवेक में
„ „ own handwriting	अपने हाथ से
„ „ „ person	स्वयं
„ „ „ right	अपने वैयक्तिक अधिकार में
„ „ view	उसकी दृष्टि में
Inhuman	अमानुषिक, अमानवीय
Inimical	वैरपूर्ण, शत्रुतापूर्ण
In infinitum	अनंत तक
In initio	प्रारंभ में
Iniquitous	असाम्यपूर्ण, अन्यायपूर्ण
Iniquity	असाम्य, अन्याय
In italics	तिरछे अक्षरों में
Initial	प्रारंभिक, प्रथमाक्षर प्रथमाक्षर करना
Initiate	सूत्रपात करना उपक्रमण करना
Injunction	आज्ञा, निषेधाज्ञा
Interim injunction	अंतःकालीन आज्ञा, अंतःकालीन निषेधाज्ञा
mandatory injunction	अधिदेशक आज्ञा
perpetual injunction	शाश्वत निषेधाज्ञा
preliminary injunction	प्रारंभिक आज्ञा
interlocutory „	अंतर्वादीय निषेधाज्ञा
preventive „	निवारक आज्ञा
restraining injunction	अवरोधक आज्ञा

विधि पत्रिका के नियम

(१) "विधि पत्रिका" का वार्षिक, षाण्मासिक और त्रैमासिक शुल्क क्रमशः १०), ५॥) और २॥) है; एक प्रति का मूल्य १) है। शुल्क मनीआर्डर या वी० पी० द्वारा देय है। वी० पी० से मँगाने में डाकव्यय अतिरिक्त लगेगा।

(२) शुल्क 'मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, "विधि पत्रिका" विभाग, वाराणसी-१' के पते से आना चाहिए।

(३) "विधि पत्रिका" प्रत्येक अँगरेजी मास के अंतिम सप्ताह में प्रकाशित होगी।

(४) "विधि पत्रिका" में विधि संबंधी लेख तथा विधि विषयक पत्रों, पुस्तकों आदि की समालोचनाएँ भी प्रकाशित होंगी। समालोचनार्थ पुस्तकों की दो दो प्रतियाँ आनी चाहिए। लेख, समालोचनार्थ पुस्तकें आदि 'संपादक, "विधि पत्रिका", नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी—१' के पते से भेजनी चाहिए।

———

सोल एजेंट :—

श्री भगवानदास गोवर्धनदास शाह,
के० २७।११, कूचा माधोदास सामिया,
भैरो बाजार,
वाराणसी।



प्रकाशक और मुद्रक—नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी की ओर से तथा उसके लिये श्री सिद्धनाथ सिंह,
नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी



विधि पत्रिका

वर्ष ३] मई १९५९ : वैशाख–ज्येष्ठ (सौर) सं० २०१६ : शक १८८१ [अंक ५

विधिविषयक लेखों, केंद्रीय-राज्य अधिनियमों आदि से युक्त, इलाहाबाद तथा भारत के अन्य उच्च न्यायालयों के महत्वपूर्ण अँगरेजी निर्णयों का हिंदी रूपांतर तथा विवरण प्रकाशित करनेवाली हिंदी जगत् की एकमात्र मासिक पत्रिका

विषय सूची

वार्षिकशुल्क १०) एक प्रति का १)

परामर्शदातृ समिति

(१) श्री कमलाकांत वर्मा, भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद
(२) श्री बलराम उपाध्याय, न्यायाधीश, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद।
(३) श्री कन्हैयालाल मिश्र, महाधिवक्ता, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद।
(४) श्री गोपालचंद्र सिंह, विशेष अधिकारी, सचिवालय, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ।
(५) श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

संपादक मंडल

(१) श्री ब्रजरत्नदास, वकील, वाराणसी।
(२) श्री प्रतापनारायण सिंह, राजकीय अधिवक्ता, वाराणसी।
(३) श्री गौरीनंदन उपाध्याय, ऐडवोकेट, वाराणसी।
(४) श्री देवीनारायण, ऐडवोकेट, वाराणसी।
(५) श्री कैलासपति त्रिपाठी, ऐडवोकेट, वाराणसी।
(६) श्री गोपीकृष्ण, बार-ऐट-ला, वाराणसी।
(७) श्री चतुर्भुजदास पारिख, ऐडवोकेट, वाराणसी।
(८) श्री राघवराम वर्मा, वकील, वाराणसी।
(९) चौधरी शुकदेव सिंह, वकील, वाराणसी।
(१०) श्री मोतीलाल बापुली, ऐडवोकेट, वाराणसी।

श्री चंद्रभूषण मिश्र, ऐडवोकेट }
श्री रामसुरत सिंह, ऐडवोकेट } प्रतिवेदक, इलाहाबाद

संपादक (संयोजक)—सिद्धनाथ सिंह बी० ए०, एल-एल० बी०, वकील
सहायक संपादक—पारसनाथ सिंह बी० ए०, एल-एल० बी०

विधि पत्रिका मई १९५९

(शक १८८१)

वाद तालिका

विधि पत्रिका

[लेख खंड]

वर्ष ३] १९५९ मई : वैशाख-ज्येष्ठ (सौर) सं० २०१६ : शक १८८१ [अंक ५

संपादकीय

कचहरी की भाषा और लिपि

मुसलमान जब भारतवर्ष में आए तो उस समय यहाँ की बोलचाल की भाषा हिंदी थी और कुछ रूपांतर के साथ नागरी लिपि का व्यवहार होता था। इसी के माध्यम से कारबार होता था। मुसलमान शासन के प्रारंभिक काल से और अकबर के शासनकाल के मध्य तक राज्य के राजस्व विभाग (रेवेन्यू डिपार्टमेंट) में हिंदी का प्रयोग चालू था किंतु न्यायालय में फारसी का प्रयोग होता था और अंग्रेजी शासन स्थापित होने के बाद भी यही भाषा प्रचलित थी। बाद में सुझाव दिया गया कि सरकारी कामकाज में और दैनिक व्यवहार में अंग्रेजी का प्रयोग चालू कर दिया जाय किंतु कुछ उदार नीति-वाले अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने इसका समर्थन नहीं किया। १८३० में 'कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स' का विचार इस प्रकार था—

"यह बात महत्वपूर्ण है कि न्याय संबंधी समस्त कार्यवाही उस भाषा में होनी चाहिए जिसे न्यायाधीश समझते हों किंतु इससे कम महत्व की बात यह नह है कि न्याय उस भाषा में होना चाहिए जिसे मुकदमा लड़नेवाले समझते हों, उनके वकील समझते हों और सामान्य जनता उसे समझती हो। न्यायाधीश को जनता की भाषा समझना सरल है अपेक्षाकृत जनता का न्यायाधीश की भाषा समझना। इसलिए न्यायालयों की भाषा बोलचाल की भाषा होनी चाहिए और प्रत्येक जिला के न्यायालयों की भाषा उस विशेष जिला में बोली जानेवाली बोलचाल की भाषा होनी चाहिए जब तक कि व्यवहार में कोई दूसरी कठिनाई पैदा न हो।"

इस सुझाव को बहुत समय तक कार्यान्वित नहीं किया जा सका। सन् १८३७ में इसे कार्यान्वित किया गया। इस बीच कचहरी की भाषा के संबंध में दो विचारधाराएँ थीं—एक विचार के लोग वे थे, जो यह चाहते थे कि अंग्रेजी ही यह माध्यम रहे, दूसरे विचार के लोग वे थे जो यह चाहते थे कि कचहरियों में फारसी का स्थान बोलचाल की भाषा ले ले किंतु उसकी लिपि

रोमन रहे। सरकार ने इन दोनों विचारधाराओं का अनुमोदन नहीं किया। प्रजा के हित को ध्यान में रखकर और इस बात की कठिनाई को समझते हुए कि न्यायालयों की भाषा विदेशी भाषा होने से बड़ी कठिनाई है और न्याय पानेवालों के साथ वास्तविक न्याय नहीं हो सकता सरकार ने कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के विचार के अनुसार न्याय संबंधी कार्यवाही के लिये फारसी के स्थान पर बोलचाल की भाषा (वर्नाक्यूलर) रखने का निश्चय किया। अंग्रेजी भाषा का प्रयोग सरकारी कर्मचारियों के बीच आदानप्रदान के लिये रखा गया जिनमें कि साधारण जनता से सीधा संबंध नहीं होता था।

सदर बोर्ड आफ रेवेन्यू ने यह परिवर्तन १८३७ में किया। बंगाल सरकार के सचिव ने सदर बोर्ड आफ रेवेन्यू के सचिव को एक पत्र दिनांक ३० जून १८३७ में लिखा था और उस पत्र में यह बात और स्पष्ट कर दी गई थी। उसमें लिखा था कि फारसी के स्थल पर अंग्रेजी का प्रयोग केवल उन यूरोपीय अधिकारियों के बीच होगा जो प्रत्यक्ष रूप से सर्वसाधारण की सूचना के लिये नहीं होगा तथा कारबार के अन्य विभागों में फारसी के स्थान पर बोलचाल की भाषा का प्रयोग होगा।

बंगाल संहिता में कुछ विनियमन ऐसे थे जिनके अनुसार न्याय और राजस्व संबंधी कार्यवाही में फारसी भाषा का प्रयोग सकारात्मक रूप से होना अनिवार्य था। ऐसे नियमों के कारण इस सुधार में अड़चन पड़ती थी। इस अड़चन को दूर करने के लिये वाइसराय की परिषद् में एक विधेयक पेश किया गया कि उक्त भाषा संबंधी विनियमन को हटा दिया जाय।

यह विधेयक २० नवंबर १८३७ को विधि हो गया। यह अधिनियम सं० २९।१८३७ था। इसके अनुसार बंगाल में बंगला भाषा और उड़ीसा में उड़िया भाषा चालू की गई। देश के एक बहुत बड़े भूभाग में जिसमें बिहार, उत्तरी पश्चिमी सीमांत प्रदेश और मध्य प्रदेश का कुछ हिस्सा शामिल था, लोगों की बोलचाल की भाषा हिंदी थी जो नागरी लिपि या इसके कुछ परिवर्तित रूपों में लिखी जाती थी। इस भूभाग को हिंदुस्तान कहते थे। हिंदी के बावजूद भी इन प्रदेशों में फारसी के स्थान पर उर्दू का व्यवहार इस गलत धारणा के आधार पर होने लगा कि हिंदुस्तान की बोलचाल की भाषा उर्दू ही है। यह धारणा इस आधार पर और दृढ़ हुई थी कि कुछ यूरोपीय लेखकों ने उर्दू का नाम हिंदुस्तानी दे दिया था और इससे समझा यह गया कि जैसे बंगला भाषा बंगाल की है, गुजराती भाषा गुजरात की है उसी प्रकार हिंदुस्तानी (उर्दू) हिंदुस्तान की भाषा है। सन् १८८१ में यह गलती बिहार में ठीक की गई और एकमात्र नागरी लिपि (अथवा कैथी) को फारसी लिपि के स्थान पर प्रयोग में लाने को कहा गया। मध्य प्रदेश में भी कड़ा आदेश जारी किया गया कि न्यायालयों में हिंदी भाषा और नागरी लिपि का सर्वत्र व्यवहार होना चाहिए। गलती ठीक करने के लिये उपर्युक्त कारण भी दिए गए थे।

उत्तरी पश्चिमी प्रदेश की भाषा हिंदी और लिपि नागरी थी। इस बात का समर्थन उत्तरी पश्चिमी प्रदेश के सरकार के सचिव के एक पत्र दिनांक १७ अगस्त १८४४ द्वारा होता है जो उन्होंने आगरा कालेज के आचार्य को लिखा था। वह इस प्रकार था—"××× हिंदी चालू बोलचाल की भाषा है" उत्तरी पश्चिमी प्रदेश के राजस्व मंडल ने एक विज्ञप्ति सं० ८।१८५७ में यही बात कही थी कि:—"राजस्व मंडल जिलाधीशों और आयुक्तों का ध्यान सरकार के प्रस्ताव (सं० ४०११ दिनांक ३० सितंबर, १८५४) की ओर आकृष्ट करता है कि जिसके द्वारा यह निश्चित किया गया है कि पटवारियों के कागज उस भाषा और लिपि में लिखे जाँय जो सर्वसाधारण से परिचित हो और जिसे खेती करनेवाले तथा खेतों के मालिक दोनों समझते हों। सामान्यतः वह भाषा हिंदी और उसकी लिपि नागरी होगी। इसके अपवाद भी हो सकते हैं किंतु वे एकमात्र आयुक्त की आज्ञा पर लागू होंगे।"

बाद में चलकर हम देखते हैं कि हिंदी की मान्यता उसी प्रकार थी। उत्तरी पश्चिमी प्रदेश के सरकार के

१८७३–७४ में शिक्षा की प्रगति के प्रतिवेदन पर दिए गए आदेश में है कि:—"सर्वसाधारण हिंदी भाषा से परिचित हैं इसलिए इस अभिप्राय में हिंदी को मातृभाषा कहना उचित है।" उत्तरी पश्चिमी प्रदेश तथा अवध के शिक्षा संचालक ने १८७७–७८ के वार्षिक प्रतिवेदन में कहा था, "नियमतः प्रदेश की मुख्य बोलचाल की भाषा हिंदी है और गावों की जनता मुसलमानों के अधिक और कम प्रभाव के फलस्वरूप अधिक और कम शुद्धता से व्यवहार में लाती है।"

इसके समर्थन में और भी प्रमाण दिए जा सकते हैं। १८४८ में 'कलकत्ता रेव्यू' में एक लेखक के विचार इस प्रकार थे:—

'हिंदी किस सीमा तक बोलचाल की भाषा है इसको ठीक ठीक निर्धारित करना सरल नहीं है। साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि विहार अवध राजपुताना तथा उत्तरी पश्चिमी प्रदेशों के शासक के अधीन भूभाग की बोलचाल की भाषा हिंदी है। यात्रिओं का दावा है कि समस्त भारत में हम हिंदी से अपना काम चला लेते हैं। सभी शिक्षित मुसलमान तो उर्दू बोलते हैं किंतु नीची श्रेणी के मुसलमान ××× हिंदुओं की तरह बोलते हैं×××।'

प्रसिद्ध भाषाविद् डा० राजेंद्र लाल मित्रा का 'जर्नल आफ दि एसियाटिक सोसाइटी फार बंगाल में १८६४ में एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें उनका कहना था कि :—

'भारत की समस्त प्रांतीय बोलचाल की भाषाओं में हिंदी का स्थान सबसे ऊँचा है। हिंदू जाति के सबसे सभ्य लोगों की यह बोलचाल की भाषा है×××।'

आर० बीम्स, बी० सी० एस० माननीय श्री केलाग आदि विद्वानों का भी विचार यही था। श्री फ्रेडिक पिंकाट एम० आर० ए० एस० ने स० १८८७ में प्रकाशित अपने एक लेख में लिखा था कि :—

"उत्तरी भारत की भाषा हिंदी है और हिंदी रही है और इस वास्तविक भाषा के चतुर्दिक विस्तार का ही परिमाण यह था कि इससे यह धारणा हुई कि सामान्य हिंदुस्तानी भारत में 'लिंगु आ फ्रांका है।'

इस विषय का और विस्तार करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। जितनी बातें ऊपर कही गई वे यह दिखलाने के लिये पर्याप्त हैं कि हिंदी जैसे अब है उसी प्रकार पहले भी जब सरकार ने फारसी के स्थान पर बोलचाल की भाषा के प्रयोग का आदेश दिया तो इन प्रदेशों की बोलचाल की भाषा थी। उर्दू का प्रयोग मुख्यतः शिक्षित मुसलमान करते थे और यही न्यायालयों में प्रयुक्त होती थी। ऐसा इसलिए था कि इसमें फारसी अरबी और तुर्की शब्दों का बाहुल्य था। यह फारसी लिपि में लिखी जाती थी इसलिए इन प्रदेशों के बहुत से लोग इसे समझ नहीं सकते थे। किंतु उत्तरी पश्चिमी प्रदेश की सदर दीवानी अदालत ने इस गलत धारणा से कि इस प्रदेश की बोलचाल की भाषा उर्दू है, निदेश दिया कि फारसी के स्थान पर इसका प्रयोग होगा। इसका नाम हिंदुस्तानी रखा गया। फिर भी इस निदेश में था कि जहाँ हिंदी का प्रचलन है वहाँ का अभिवचन और मुकदमे की कार्यवाही हिंदी में लिखी जानी चाहिए। सदर दीवानी का अभिप्राय यह था कि कार्यवाही उसी भाषा में होनी चाहिए जिसे जनता समझती हो। इस निदेश की अवहेलना पूर्णरूपेण की गई क्योंकि शिक्षित मुसलमानों का प्रभाव था और वे लोग बहुत समय से बहुत कठिन फारसी के शब्दोंवाले उर्दू के प्रयोग के अभ्यस्त हो गए थे और जनता की सामान्य बोलचाल की भाषा को लिखना घृणास्पद समझते थे। फारसी लिपि में लिखी जानेवाली उर्दू भाषा समस्त प्रदेशों के न्यायालयों की भाषा हो गई।

इसका परिणाम बहुत ही निराशाजनक सिद्ध हुआ। बहुत पहले ही सरकार का यह विचार हुआ था कि न्यायालयों की भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसे जनता समझ सके और जैसा पहले कहा जा चुका है सदर दीवानी ने अपनी विज्ञप्ति द्वारा यही निदेश दिया था कि सरलता से समझी जानेवाली भाषा का प्रयोग होना

चाहिए पर इन सबके बावजूद भी कड़े फारसी शब्द प्रयोग किए जाने लगे जिन्हें जनता समझ नहीं सकी। एक वर्ष बाद राजस्वमंडल ने यह सूचना जारी करना आवश्यक समझा कि उनके नीचे की अदालतों में फारसी शब्दों के प्रयोग पर रोक लगा दी जाय और साधारण बोलचाल की भाषा के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया जाय जिसे जनता अच्छी तरह समझ सके। विज्ञप्ति सं० ३ दिनांक २८ अगस्त १८४० में था कि—

'...आप लोग अपने नीचे के अधिकारियों को यह समझा दें कि बोर्ड का मंतव्य केवल इतना ही नहीं था कि हिंदी क्रियाओं और प्रत्ययों का प्रयोग किया जाय। बोर्ड का विचार यह था कि प्रत्येक कागज ऐसी भाषा में लिखा जाना चाहिए कि कोई शिक्षित व्यक्ति जो फारसी से बिलकुल परिचित नहीं है वह उस भाषा में अपनी बात व्यक्त कर सके।'

—सिद्धनाथ सिंह

———

अधिनियम खंड

(पूर्वानुबद्ध)

किंतु प्रतिबंध यह है कि संचालक यदि वह ऐसा करना आवश्यक समझे; यह निदेश दे सकता है कि संशोधनों सहित संपूर्ण निर्वाचक नामावली एक ही निर्वाचक नामावली के रूप में प्रकाशित की जाय, और ऐसी दशा में इस प्रकार प्रकाशित की गई निर्वाचक नामावली ही उपानुच्छेद (२) के अधीन पुनरीक्षित निर्वाचक नामावली के रूप में प्रकाशित की जायगी।

विविध

१६—निर्वाचक नामावलियों की अवधि—(१) अनुच्छेद ६ के उपबंधों के अधीन किसी कक्ष के लिये बनायी गयी निर्वाचक नामावली अनुच्छेद ७ के अधीन प्रकाशित होने पर तुरंत लागू हो जायगी और अनुच्छेद १२, १३, और १५ के अधीन किये गये संशोधन तथा पुनरीक्षण इत्यादि के सहित यह उस समय तक प्रचलित रहेगी जब तक कि कक्ष के लिये इसके अनंतर बनायी गयी निर्वाचक नामावली लागू न हो जाय।

१७—निर्वाचक नामावलियों का समारक्षण तथा परिरक्षण इत्यादि—(१) अनुच्छेद ८ के अधीन किये गये संपूर्ण अध्यर्थन और अनुच्छेद ६ के अधीन की गयी संपूर्ण आपत्तियाँ और इन विषयों में निर्वाचक रजिस्ट्रीकरण अधिकारी द्वारा कक्ष के संबंध में किये गये निर्णय निर्वाचक रजिस्ट्रीकरण अधिकारी के कार्यालय में या किसी ऐसे अन्य स्थान पर जिसे संचालक निर्दिष्ट करे निर्वाचक नामावलियों के आगामी पुनरीक्षण तक अथवा नयी बनायी गयी निर्वाचक नामावली के प्रचलित होने तक, जो भी पहले हो, रखे जायेंगे।

(२) प्रत्येक कक्ष के लिये निर्वाचक नामावलियों के अतिरिक्त इनकी उतनी प्रतियाँ जितनी कि संचालक निर्दिष्ट करे, जिसके संबंध में वह नामावली है, निर्वाचक रजिस्ट्रीकरण अधिकारी के कार्यालय में और महापालिका के कार्यालय में रखी जायगी। मूल निर्वाचक नामावली में किये गये संशोधनों के अनुसार इन प्रतियों में भी समय समय पर संशोधन किये जायंगे।

(३) इस अनुच्छेद के उपानुच्छेद (१) और (२) में उल्लिखित प्रतियों को जमा करने के पूर्व कक्ष का निर्वाचक रजिस्ट्रीकरण अधिकारी नियमानुसार प्रमाणित करेगा।

(४) प्रत्येक व्यक्ति को, ऐसा शुल्क देने पर जो राज्य सरकार द्वारा निर्दिष्ट किया जाय उपानुच्छेद (१) तथा (२) में उल्लिखित निर्वाचन संबंधी कागज पत्रों को देखने तथा उसकी प्रमाणीकृत प्रतियों को पाने का अधिकार होगा।

(५) प्रत्येक कक्ष के लिये, निर्वाचक नामावलियों की प्रकाशित प्रतियाँ ऐसे मूल्य पर जो राज्य सरकार द्वारा निर्दिष्ट की जाय, जनता को उस समय तक बिक्री के लिये उपलब्ध हो सकेगी जब तक कि उस कक्ष के लिये अगली निर्वाचक नामावली प्रकाशित न हो जाय।

(६) किसी भी कक्ष के लिये निर्वाचक नामावली प्रकाशित हो जाने पर, उस समय प्रचलित निर्वाचक नामावली जो नयी निर्वाचक नामावली के प्रकाशन से ठीक पहले लागू थी संबद्ध महापालिका के अभिलेख में उतने वर्षों तक के लिये, जो संचालक निर्दिष्ट करे, रखी रहेगी।

उत्तर प्रदेशीय सरकार

लखनऊ, २३ फरवरी, १६५६

विज्ञप्ति

१६५२ ई० के उत्तर प्रदेश जमींदारी विनाश और भूमिव्यवस्था नियमावली क संशोधनों के निम्नलिखित आलेख को, जिसे उत्तर प्रदेश जमींदारी विनाश और भूमिव्यवस्था अधिनियम, १६५० (१६५१ ई० का उत्तर प्रदेश अधिनियम संख्या १) द्वारा प्रदत्त अधिकारों का प्रयोग करके बनाने का प्रस्ताव है, उक्त अधिनियम की धारा ३४४ के अधीन ऐसे सब व्यक्तियों की सूचना

के लिये, जिन पर, उसका प्रभाव पड़ने की संभावना है, प्रकाशित किया जाता है और एतद्द्वारा सूचना दी जाती है कि उक्त आलेख पर १० मार्च, १९५९ को या उसके पश्चात् विचार किया जायगा।

२—उक्त संशोधनों के आलेख के संबंध में किसी आपत्ति या सुझाव पर जो किसी ऐसे व्यक्ति से, जिस पर उसका प्रभाव पड़ने की संभावना है, उपर्युक्त दिनांक से पहले प्राप्त होंगे, गवर्नर विचार करेंगे।

३—उक्त आलेख के संबंध में सभी आपत्तियाँ और सुझाव उत्तर प्रदेश सरकार के सचिव, माल (क) विभाग, लखनऊ को संबोधित किए जाने चाहिए।

प्रस्तावित संशोधन

१—नियम ७ में शब्द 'गाँव सभा' के स्थान पर शब्द 'गांव समाज' रख दिया जाय।

२—नियम ८५-घ के पश्चात् निम्नलिखित को नये नियम ८५-ङ के रूप में बढ़ा दिया जाय :—

८५-ङ—(१) धारा ७९-क के अधीन ऋणी मध्यवर्ती की ओर से पुनर्वासन अनुदान के लिये प्रार्थनापत्र देने के पूर्व, कलेक्टर, जिसके विचाराधीन इनकम्बर्ड स्टेट्स ऐक्ट का व्यवहार हो, इनकम्बर्ग स्टेट्स ऐक्ट के व्यवहार की पत्रावली में उपलब्ध आस्थानों के ब्योरों के आधार पर संबद्ध पुनर्वासन अनुदान अधिकारी और ऋणी मध्यवर्ती से पूछताछ करेगा कि धारा ७९ के अधीन प्रार्थनापत्र प्रस्तुत किया है या नहीं। यदि ऐसा कोई प्रार्थनापत्र प्रस्तुत न किया गया हो या प्रस्तुत किया गया हो किंतु दोषपूर्ण पाया गया हो अथवा ऋणी द्वारा किसी विलंब के कारण अस्वीकृत किया हुआ पाया गया हो तो कलेक्टर ऋणी मध्यवर्ती को इस आशय का नोटिस जारी करेगा कि वह नोटिस की प्राप्ति के पंद्रह दिन के भीतर निम्नलिखित प्रस्तुत करे :

(क) उत्तर प्रदेश में स्थित अपने समस्त आस्थानों की सूची जो उन आस्थानों से भिन्न हो जिनके संबंध में यह रिपोर्ट हो कि उनकी कुर्की या बिक्री इनकम्बर्ड स्टेट्स ऐक्ट की धारा १९ की उपधारा (२) के उपबंधों के अधीन की जा सकती है और उनके साथ एक शपथपत्र;

(ख) ज० वि० आकार पत्र २७ में उत्तर प्रदेश में स्थित अपने समस्त आस्थानों की प्रतिकर निर्धारण तालिकाओं की प्रतियाँ; और

(ग) पुनर्वासन अनुदान आकार पत्र ३ के नत्थी १ में अतिरिक्त सूचना तथा साथ में वक्फ, न्यास या निबंध के सृजन से संबद्ध विलेख की प्रति यदि ऋणी मध्यवत वक्फ, न्यायालय या निबंध हो।

(२) यदि ऋणी मध्यवर्ती उप नियम (१) में अपेक्षित लेख्य या सूचनायें प्रस्तुत न कर, तो कलेक्टर ऋणी मध्यवर्ती के उन आस्थनों के ब्योरों को जिनके लिये इस अधिनियम के अधीन प्रतिकर का भुगतान किया गया हो या वह देय हो, ऋणदाताओं या अन्य स्रोतों से जितना भी संभव हो पूछताछ करके मालूम करेगा। कलेक्टर नियत शुल्क देकर ज० वि० आकार पत्र २७ में ऋणी मध्यवर्ती के समस्त आस्थानों की प्रतिकर निर्धारण तालिकाओं की प्रतियाँ भी प्राप्त करेगा। प्रतियां प्राप्त करने का व्यय जैसा कि यू० पी० इनकम्बर्ड स्टेट्स ऐक्ट, १९३४ के अधीन निर्मित नियमावली के नियम १४ में व्यवस्थित है, ऋणी प्रार्थी से वसूल किया जायगा।

(३) धारा ७९-क के अधीन पुनर्वासन अनुदान के अवधारण और भुगतान के लिये पार्थनापत्र कलेक्टर ऋणी मध्यवर्ती की ओर से पु० अनु० आकार पत्र ३-में पुनर्वासन अनुदान अधिकारी के समक्ष लिखित रूप रूप में तदर्थ प्राधिकृत किसी अधिकारी द्वारा इनकम्बर्ड स्टेट्स एक्ट के व्यवहार को पत्रा वली में उपलब्ध सूचनाओं और उपनियम (१) तथा (२) के अधीन एकत्र की गई सूचना के आधार पर प्रस्तुत करेगा। यदि ऋणी मध्यवर्ती के समस्त आस्थानों की मालगुजारी १०,००० रुपया या इससे अधिक हो पुनर्वासन अनुदान के लिये कोई भी प्रार्थनापत्र उसकी ओर से कलेक्टर द्वारा नहीं दिया जायगा।

(४) उक्त ऋणी मध्यवर्ती को देय पुनर्वासन अनुदान अवधारित करने के पश्चात् पुनर्वासन अनुदान अधिकारी उसे कलेक्टर के अधिकार में रख देगा। कलेक्टर ऋणी मध्यवर्ती के पुनर्वासन अनुदान के केवल उस भाग का उपयोग इनकम्बर्ड स्टेट्स ऐक्ट के व्यवहार के अंतर्गत उसके ऋणों के परिशोधन के लिये करेगा जो उन आस्थानों के लिये देय मालगुजारी के अनुरूप हो जिसके संबंध में यह पाया जाय कि उनको इनकम्बर्ड स्टेट्स ऐक्ट की धारा १६ की उपधारा (२) के उपबंधों के अधीन कुर्की या बिक्री की जा सकती है।

(५) उपधारा (३) के अधीन कलेक्टर द्वारा दिये गये प्रार्थनापत्र के साथ ऋणी मध्यवर्ती, का प्रार्थना पत्र भी, यदि कोई हो, संमिलित कर लिया जायगा और दोनों पर सुनवाई इस प्रकार होगी मानों कि वह एक प्रार्थना-पत्र था।

३—नये नियम ८५-ङ के पश्चात् निम्नलिखित को नियम ८५-च के रूप में बढ़ा दिया जाय :

'८५-च—पुनर्वासन अनुदान अधिकारी ऋणी मध्यवर्ती को देय पुनर्वासन अनुदान की धनराशि को अवधारित करने के प्रयोजनों के लिये, धारा ३२३ के अधीन ऋणी मध्यवर्ती या किसी अन्य व्यक्ति से ऐसे पत्रजात अथवा ऐसी अतिरिक्त सूचना देने के लिये कह सकता है जो आवश्यक हो, किंतु जो पु० अनु० आकार पत्र ३-क के प्रार्थना पत्र में प्राप्य न हो।'

४—नियम ६८-क में—

शब्द 'भूमि व्यवस्था कमिश्नर' के स्थान पर शब्द 'प्रतिकर कमिश्नर' रख दिये जायँ।

५—नियम १०३ तथा १०५ निकाल दिये जायँ।

६—नियम १०६ के स्थान पर निम्नलिखित रख दिया जाय :

'१०६—(१) नियम १०६ के अधीन रहते हुए गांव सभा का प्रधान और उप-प्रधान जो उस मंडल से संबंधित हो जिसके लिये भूमि प्रबंधक समिति स्थापित की गई हो, भूमि प्रबंधक समिति के क्रमशः पदेन सदस्य और सभापति तथा उप सभापति होंगे।'

(ख) उस मंडल के जिसमें भूमि प्रबंधक समिति स्थापित हो गाँव पंचायतों के तत्कालीन सदस्यों में से निर्वाचित किये जाने वाले सदस्यों की संख्या निम्नलिखित होगी :

तत्संबंधी गाँव पंचायत के सदस्यों की संख्या	
(१) १५ तक	५
(२) १६ से २५ तक	७
(३) २६ से ३० तक	६

(ग) खंड (ख) में उल्लिखित समिति के सदस्यों के निर्वाचन के पश्चात् यथाशीघ्र कलेक्टर, धारा १२२ की की उपधारा (१) के प्रथम उपबंधन के अधीन नामांकन यदि कोई हो, करेगा और नामांकित सदस्यों के नाम समिति के सभापति को सूचित करेगा।

(२) उपनियम (१) के खंड (ख) में उल्लिखित समिति के सदस्य एतत् पश्चात् बतायी गयी रीति से निर्वाचित किये जायेंगे।

(३) इस नियम के अधीन भूमि प्रबंधक समिति के सदस्यों के निर्वाचन का संचालन कलेक्टर के सामान्य अधीक्षण, निदेश और नियंत्रण के अधीन होगा, जो प्रत्येक मंडल के लिये पीठासीन अधिकारी की नियुक्ति करेगा और निर्वाचन का दिनांक, समय तथा स्थान नियत करेगा। पीठासीन अधिकारी नियत किये गये दिनांक, समय और स्थान की सार्वजनिक सूचना उस रीति से देगा जो कलेक्टर द्वारा निर्दिष्ट की जाय और निर्वाचन का संचालन करेगा।

(४) नामांकन निर्वाचन के ठीक पहले किये जायँगे और मतदान हाथ उठाकर किया जायगा। पीठासीन अधिकारी प्रतियोगी उम्मेदवारों का नाम एक एक करके पुकारेगा और दूसरे उम्मेदवार का नाम पुकारने के पूर्व, उपस्थित निर्वाचकों से यदि वे उस उम्मेदवार के लिये जिसका नाम पुकारा गया है, मत देना चाहें तो हाथ उठाने की अपेक्षा करेगा। कोई भी निर्वाचक एक से

अधिक हाथ नहीं उठायेगा और किसी भी दशा में एक निर्वाचक का एक ही हाथ गिना जायगा। पीठासीन अधिकारी उठाये हुए हाथों को गिनेगा और उनकी संख्या घोषित करेगा। इस प्रकार निर्वाचन उस समय तक होता रहेगा जब तक कि सभी प्रतियोगी उम्मेदवारों के लिये मत न ले लिए जायँ। यदि दो या इससे अधिक उम्मीदवारों को बराबर मत मिले और यह आवश्यक हो कि परिणाम घोषित करने के प्रयोजन के लिये, एक या अधिक का नाम निकाल दिया जाय, तो उनमें से विजयी उम्मेदवार और उम्मेदवारों का निर्णय परची डालकर किया जायगा।

(५) पीठासीन अधिकारी या तो उसी समय अथवा समस्त उम्मेदवारों के लिए मत ले लिये जाने के बाद शीघ्र एक स्मृति पत्र तैयार करेगा जिसमें गांव पंचायत के सदस्यों को चुनाव की बैठक का नोटिस दिये जाने की रीति, प्रत्येक उम्मेदवार द्वारा प्राप्त मतों की संख्या, निर्वाचन का फल निर्वाचित व्यक्तियों के नामों का प्रख्यापन और ऐसे अन्य विषय दिये जायेंगे जिनके संबंध में वह यह समझे कि उनसे किसी ऐसे विवाद के, जो बाद में उठ खड़ा हो, निर्णय में सहायता मिलेगी। इस प्रकार तैयार किये गये स्मृति पत्र को पीठासीन अधिकारी संबद्ध परगने के इंचार्ज असिस्टेंट कलेक्टर को अभिलेख के लिये प्रस्तुत करेगा।

(६) कोई भी असंतुष्ट उम्मेदवार निर्वाचित व्यक्तियों के नामों को घोषित किये जाने के दिनांक से १५ दिन के भीतर परगने के इंचार्ज असिस्टेंट कलेक्टर के समक्ष आपत्ति प्रस्तुत कर सकता है जिसका उस पर निर्णय अंतिम होगा।

१०६ क—(१) हलके का लेखपाल भूमि प्रबंधक समिति का पदेन मंत्री (सेक्रेटरी) होगा परंतु उसे मत देने का अधिकार न होगा।

(२) कमिश्नर धारा १२२ की उपधारा (१) के तृतीय प्रतिबंधात्मक खंड के अधीन अनर्हता निवारण की आज्ञा देने के लिये सूक्ष्म नियत अधिकारी को होगा।

७—वर्तमान नियम १०७ के स्थान पर निम्नलिखित रख दिया जाय :

'१०७—समिति के सदस्यों का कार्यकाल चाहे वे पदेन, निर्वाचित या नामांकित हों, तब तक रहेगा जब तक कि गाँव पंचायत का पुनस्संगठन न हो।'

८—वर्तमान नियम १०८ के स्थान पर निम्नलिखित रख दिया जाय :

'१०८—भूमि प्रबंधक समिति के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने, अनर्ह ठहराये जाने, त्यागपत्र देने या हटा दिये जाने की दशा में रिक्त स्थान की पूर्ति निर्वाचन या नामांकन द्वारा, जैसी भी दशा हो, नियम १०६ में नियत रीति से की जायगी। इस प्रकार निर्वाचित या नामांकित व्यक्ति वहिर्गामी सदस्य के शेष असमाप्त पदावधि के लिये पद धारण करेगा।'

६—वर्तमान नियम १०६ के स्थान पर निम्नलिखित रख दिया जाय :

'१०६—(१) यदि भूमि प्रबंधक समिति के आधे या आधे से अधिक सदस्य सभापति या उस सभापति को हटाने के लिये प्रस्ताव पेश करना चाहें, तो वे प्रस्ताव पेश करने के कारण देकर और अपने हस्ताक्षर करके एक लिखित नोटिस परगने के इंचार्ज असिस्टेंट कलेक्टर को प्रस्तुत करेंगे, जो नोटिस की प्राप्ति के पश्चात्, यथाशीघ्र भूमि प्रबंधक समिति की एक बैठक बुलायेगा तथा एक अधिकारी को जो नायब तहसीलदार के पद से कम का न हो, बैठक का सभापतित्व करने के लिये नियुक्त करेगा।

(२) पीठासीन अधिकारी समिति के समक्ष नोटिस पढ़ेगा और तब प्रस्ताव को पेश करने और वादविवाद करने की अनुमति देगा। पीठासीन अधिकारी प्रस्ताव के गुणदोषों पर नहीं बोलेगा और न वह उस पर मत देने का अधिकारी प्रस्ताव केवल तभी पारित हुआ समझा जायगा जब वह बैठक में उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से पारित हो जाय। ऐसी बैठक के लिये कोरम समिति की कुल सदस्यता का तीन चौथाई होगा।

अभियोजन ने साक्षी रूप में प्रस्तुत किया ही नहीं न तो हमें इसी का आभास है कि यदि उसने साक्ष्य दिया होता तो क्या कहा होता।

अपीलकर्ता के विद्वान् वकील ने बहस की है कि रघुवीर जैसा महत्वपूर्ण साक्षी साक्ष्य देने से रोक रखा गया और इससे अभियोजन के प्रतिकूल निष्कर्ष निकलता है और अन्वीक्षा के औचित्य पर भी प्रभाव पड़ता है। ए० आई० आर० १९५४ सर्वोच्च न्यायालय ५१ इसके लिये दिखलाया गया। हम इस बात से सहमत हैं कि सारभूत साक्षी यदि जानबूझकर गलत ढंग से प्रस्तुत नहीं किया गया है तो इसमें अन्वीक्षा के औचित्य पर संदेह पैदा होता है और इस प्रकार इसके परिणाम स्वरूप जो दोषसिद्धि हुई है उस पर आपत्ति की जा सकती है।

तब प्रश्न यह पैदा होता है कि क्या रघुवीर महत्वपूर्ण साक्षी था? ए० आई० आर० १९३६ प्रिवी कौंसिल २८९ में यह सिद्धांत निश्चित हो चुका है। उसमें कहा गया था कि—'वह साक्षी जो उस विवरण को स्पष्ट करने के लिये जिस पर अभियोजन आधारित हो आवश्यक हो उसे अभियोजन द्वारा अवश्य प्रस्तुत करना चाहिए।' यह स्पष्ट है कि इस बात के लिये कि साक्षी महत्वपूर्ण है कि नहीं परीक्षा इस बात से नहीं की जा सकती कि यदि वह साक्ष्य देने के लिये आया होता तो अभियुक्तों के पक्ष में बयान देता। परीक्षा इस आधार पर की जा सकती है कि जिस विवरण पर अभियोजन कहानी आधारित है उसको स्पष्ट करने के लिये साक्षी आवश्यक है कि नहीं। यह इस पर निर्भर करता है कि वह साक्षी क्या अभियोजन कहानी के किसी अंश पर कुछ तथ्य बतलाएगा या उस तथ्य के बारे में साक्ष्य देगा जिस पर अभियोजन निर्भर करता है। अभियोजन के लिये यह भी अनिवार्य नहीं है कि जिन जिन लोगों ने घटना को देखा है उन सबको साक्षी रूप में प्रस्तुत करे और इस प्रकार केवल दोहरा साक्ष्य उपस्थित करे। अभियोजन को महत्वपूर्ण साक्षियों को उपस्थित करना है।

इसलिए अब इस पर विचार करना है कि अभियोजन की ओर से कही जानेवाली बात को खोलने के

२

लिये रघुवीर क्या सारभूत साक्षी था। निश्चय ही रघुवीर कोई आवश्यक साक्षी नहीं था। अभियोजन की ओर से तो केवल यही कहा गया है कि रघुवीर उस समय पहुँचा जब कि मनीराम मारा जा चुका था और उस पर गोली चलाई जा चुकी थी तथा उसे घोड़े पर लाद कर कुछ दूर तक ले जाया गया था। यों तो अभियोजन ने यह स्वीकार किया है कि रघुवीर ने साहीराम पर गोली चलाई किंतु उसका कहना है कि उसने ऐसा अपनी बचत में किया। यह घटना सर्वथा एक भिन्न घटना है। जिन अपराधों के करने का आरोप अपीलकर्ता पर लगा था उसको प्रमाणित करने के लिये इसको प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए रघुवीर ऐसा साक्षी नहीं था जिसका बुलाना अभियोजन के लिये आवश्यक था। एक बात यह हो सकती है कि रघुवीर यदि गवाही देने के लिये आता तो कदाचित् यह कहता कि अभियोजन ने घटना क्रम को जैसा वर्णन किया है उस क्रम में घटना घटी नहीं और यदि वह ऐसा बयान देता तो इसमें संदेह नहीं कि बचत के लिये यह एक अच्छा आधार हो सकता था। यदि ऐसी बात हो भी तो यह रघुवीर बचत का एक आवश्यक साक्षी हो सकता था किंतु जिस कहानी पर अभियोजन आधारित है उसे खोलने के लिये रघुवीर कोई आवश्यक साक्षी नहीं था। अभियोजन को उन साक्षियों को उपस्थित करना आवश्यक नहीं है जो बचत के लिये आवश्यक हों वरन् उसे केवल उन्हीं साक्षियों को उपस्थित करना अनिवार्य होता है जो उसकी निर्णय कहानी को प्रमाणित करने के लिये आवश्यक हों। यहाँ अभियोजन के कहने के अनुसार चूँकि रघुवीर उस समय पहुँचा जब कि सारी घटना घट चुकी थी इसलिए रघुवीर अभियोजन कहानी के बारे में कोई साक्ष्य नहीं दे सकता था। इसलिए हमारे विचार से रघुवीर का साक्ष्य न दिए जाने से अन्वीक्षा (ट्रायल) में किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं हुई इस संबंध में इस पर भी ध्यान रखना है कि अपीलकर्ताओं ने अपनी ओर से रघुवीर की गवाही नहीं दिलाई है।

विद्वान् वकील ने नरायन को दिए हुए दंड के बारे में हम लोगों का ध्यान दिलाया। उनका कहना है कि

उच्च न्यायालय ने नरायन को कड़ी सजा इसलिए दी थी उन्हें समझ में यह आया था कि नरायन ने ही मनीराम को घातक चोटें पहुँचाई। विद्वान् वकील का कहना है कि साक्ष्य से यह बात नहीं प्रतीत होती कि घातक प्रहार नरायन ने ही किया था। वकील का यह तर्क सही प्रतीत होता है किंतु अन्य कारणों से नरायन को कड़ी सजा देना ठीक था क्योंकि जब उसके दल के लोग मुन्ना राम का पीछा कर रहे थे तब नरायन ने ही ललकार कर कहा था कि उसका पीछा छोड़ कर वास्तविक शत्रु मनीराम से निपट लो और इसके बाद ही मनीराम पर घातक प्रहार हुए। इसलिए हमारे विचार से नरायन को कड़ी सजा देना ठीक था।

निर्णय के लिये यहाँ कोई और प्रश्न नहीं है।

अतः अपील असफल होती है और उत्सर्जित की जाती है।

अपील उत्सर्जित

———

विधि पत्रिका १९५९ सर्वोच्च न्यायालय ३४
(नागपुर से)

१ दिसंबर १९५८

एस० जे० इमाम, एस० के० दास और जे० एल० कपूर न्यायमूर्तिगण—

किशोरीलाल अपीलकर्ता
विरुद्ध
छाल्टी बाई, मु० उत्तरवादी

व्यवहार (सिविल) अपील सं० १७७।१९५५

अ—हिंदू विधि—दत्तक ग्रहण (अडाप्शन)—दत्तक ग्रहण को प्रमाणित करने के लिये साक्ष्य की प्रकृति

ब—हिंदू विधि—दत्तक ग्रहण—प्रतिष्टंभ (इस्टा-पेल) के सिद्धांत का दत्तक ग्रहण में लागू होना—लिखित अभिकथन (रिटेन स्टेटमेंट) से भिन्न बात यदि कही जाती है तो गोद लेनेवाली माता के लिये प्रतिष्टंभ का सिद्धांत लागू नहीं होता है। (साक्ष्य अधिनियम (१८७२) धारा ११५—व्यवहार प्रक्रिया संहिता (१९०८) आ० ६ नि० २ और आ० ८ नि० २)

स—साक्ष्य अधिनियम (१८७२), धारा ३१—स्वीकृति (ऐडमिशन) का साक्ष्यिक महत्व

द - साक्ष्य अधिनियम (१८७२), धा० ११४—अभिधारणा (प्रेजंप्शन)

न्यायमूर्ति जे० एल० कपूर—

अतिरिक्त जिला न्यायाधीश ने वादी का वाद उत्सर्जित कर दिया था और उस डिग्री को उलट देनेवाले नागपुर उच्च न्यायालय के निर्णय और डिग्री के विरुद्ध यह अपील दाखिल की गई है।

मुसम्मात छाल्टी बाई मारवाड़ी अग्रवाल जाति की लक्ष्मी नारायण नामक एक व्यक्ति की विधवा थी। उसके मृतक पति लक्ष्मी नारायण का बड़ा भाई बद्री नारायण था। बद्री नारायण का एक लड़का किशोरीलाल था। मुसम्मात छाल्टी बाई ने बद्री नारायण प्रतिवादी सं० १ और उसके पुत्र किशोरी लाल प्रतिवादी सं० २ के विरुद्ध इस घोषणा के लिये एक वाद निवेशित किया था कि अनुसूची बी० और सी० में दी गई संपत्ति मेरे पति लक्ष्मी नारायण के उत्तराधिकारी के रूप में हमारी है और अनुसूची डी० में दी गई संपत्ति के धारण (पोजेशन) के लिये वाद निवेशित किया था।

अपीलकर्ता किशोरी लाल का कहना है कि हमारे चाचा लक्ष्मी नारायण हृदय रोग से पीड़ित थे और इसी से उनकी मृत्यु हो गई। इस रोग के कारण उन्हें लड़का उत्पन्न नहीं हो सकता था इसलिए उनका कहना है कि अपने भाइयों में से सबसे छोटे पुत्र हमीं को उन्होंने गोद ले लिया और उनके मरने के बाद मैंने उनका श्राद्ध दत्तक पुत्र के नाते किया और हमारे पिता बद्री नारायण की अनुमति से छाल्टी बाई ने लक्ष्मी नारायण की तेरही के

दिन मुझे अपने गोद में लिया और इस प्रकार गोद लेने की रस्म पूरी कर दी गई। उसका यह भी कहना है कि हम लक्ष्मी नारायण मृतक की संपदा के धारण में आ गए और उत्तरवादी ने भी हमें दत्तक पुत्र माना और हमारा (अपीलकर्ता) का विवाह किया। उसने कहा कि समारोह में निकट संबंधियों की सहमति से गोद लिया गया और बाद में चलकर जब हमारे पिता बद्री नारायण के परिवार में बँटवारा हुआ तो हमें कोई हिस्सा नहीं दिया गया।

उत्तरवादी ने अपने वादपत्र में इन सबसे इनकार किया। उसका कहना था कि अपीलकर्ता को गोद नहीं लिया गया और न तो हमने कभी उसको व्यवहार में दत्तक पुत्र माना। उसका कहना था कि मैं निरक्षर और पर्दानशीन स्त्री थी तथा कारबार का अनुभव नहीं था इसलिए अपने पति के मरने के बाद बद्री नारायण पर मैंने पूरा विश्वास किया और बद्री नारायण कारबार करते रहे तथा मुकदमा आदि में हमारी ओर से पैरवी करते रहे। इस प्रकार बद्री नारायण के कहने पर मैंने कुछ कागजों पर हस्ताक्षर किया है यद्यपि मैं यह नहीं जानती थी कि उन कागजों में क्या लिखा है। उसका कहना हैं कि कुछ अवसर पर मैंने सादे कागजों पर भी हस्ताक्षर किया है। उत्तरवादी का कहना है कि अब अपीलकर्ता और उसका पिता बद्री नारायण हमें संपत्ति पर से हटा देने के यत्न में हैं। इस संबंध में उसका कहना है कि दं० प्र० संहिता की धारा १०७ और १४५ के अंतर्गत कार्यवाही आरंभ हुई जिसमें बद्री नारायण अंत तक असफल रहा। उस आपराधिक मामले में अपीलकर्ता ने गोद लेनेवाली बात कही थी जिसे छाल्टी बाई ने वाद पत्र में इनकार कर दिया है।

इस अपील में दो वादपदों पर निर्णय देना है। एक यह कि क्या लक्ष्मी नारायण ने अपीलकर्ता को उक्त तिथि को गोद लिया था और क्या विधि के अनुसार यह गोद लेना वैध था और दूसरा यह कि क्या वादी उत्तरवादी सर्वदा से इस गोदनामा को वैध मानती आई और क्या उसने अपीलकर्ता को सर्वदा लक्ष्मी नारायण का पुत्र माना है और यदि ऐसी बात थी तो इसका परिणाम क्या होगा।

अन्वीक्षा न्यायालय ने वाद उत्सर्जित कर दिया। इस न्यायालय ने गोद का लिया जाना ठीक पाया किंतु प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) के प्रश्न पर अपीलकर्ता के विरुद्ध निर्णय दिया। अपील करने पर उच्च न्यायालय ने तथ्य के प्रश्नवाले निष्कर्ष को उलट दिया किंतु प्रतिष्टंभ संबंधी निर्णय को मान लिया। इस प्रकार अपील स्वीकार कर ली गई। प्रतिवादी किशोरीलाल ने उच्च न्यायालय से प्रमाणपत्र प्राप्त कर लेने के बाद यह अपील निवेशित किया है और कई आधारों पर उसने उच्च न्यायालय के निर्णय पर आपत्ति की है। उसका कहना है कि अनेक कारणों से गोद का लिया जाना प्रमाणित हो चुका है और मुसम्मात छाल्टी बाई ने कई मुकदमों के सिलसिले में तथा अन्य प्रकार से यह प्रकट कर दिया है कि अपीलकर्ता उसके पति लक्ष्मी नारायण द्वारा गोद लिया हुआ पुत्र है। अपीलकर्ता के कहने के अनुसार इसमें प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) का सिद्धांत लागू होता है क्योंकि उसका कहना है कि उत्तरवादी को गोद लेनेवाली बात के मानने के कारण हमारी स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है जैसे मैं अपने प्राकृतिक परिवार से हटा कर इस परिवार में मिला दिया गया, मैं अपने वास्तविक परिवार की संपत्ति में हिस्सा बँटाने से वंचित कर दिया गया और तीसरे बहस यह की गई है कि चूँकि उत्तरवादी ने यह स्वीकृति दे दी है कि मैं लक्ष्मी नारायण का दत्तक पुत्र हूँ और उत्तराधिकारी हूँ इसलिए अब यह प्रमाणित करने का भार कि मैं दत्तक पुत्र नहीं हूँ उत्तरवादी पर है और अंत में अपीलकर्ता का कहना है कि चूँकि उत्तरवादी ने बहुत समय से मुझे लक्ष्मी नारायण का दत्तक पुत्र माना है इसलिए जो साक्ष्य इस संबंध में दिए जायँ उनका मूल्यांकन गोद लिए जाने के पक्ष में होना चाहिए।

गोदनामा का कोई औपचारिक विलेख नहीं है इसलिए गोदनामा को प्रमाणित करने के लिये अपीलकर्ता ने मौखिक साक्ष्य दिया है। चूँकि गोदनामा का परिणाम

उत्तराधिकार क्रम को बदल देना होता है, इससे स्त्रियों और लड़कियों का अधिकार समाप्त हो जाता है और संपत्ति अपेक्षाकृत और दूर के संबंधी को हस्तांतरित कर दी जाती है इसलिए यह आवश्यक है कि इसका समर्थन करने वाला साक्ष्य ऐसा होना चाहिए कि यह सभी प्रकार के धोखा और संदेह से मुक्त हो तथा इतना संगत और इतना ठीक प्रतीत होना चाहिए कि इसकी सत्यता के बारे में संदेह करने का कोई अवसर न प्राप्त हो। इस मामले की स्थिति जैसी हैं उसमें लेखा का न दिया जाना एक बहुत संदेह जनक परिस्थिति पैदा करता है जब कि प्रिवी कौंसिल की अनेक रूलिंग्स में लेखा (एकाउंट्स) के महत्व पर बहुत जोर दिया गया है।

गोद लेने के तथ्य के बारे में जो मौखिक साक्ष्य दिए गए हैं वे गोद लेने के तथ्य को प्रमाणित करने में असमर्थ हैं। हमारे विचार से उच्च न्यायालय ने जो यह निर्णय दिया कि गोद लेना प्रमाणित नहीं हुआ सर्वथा ठीक है।

दूसरी बहस अपीलकर्ता की ओर से यह की गई है कि गोद लेने के समर्थन में यदि साक्ष्य पर्याप्त न हो तो भी उत्तरवादी प्रतिष्टंभ के सिद्धांत के आधार पर सही तथ्य नहीं दे सकती कारण कि अनेक लेख्यों और कार्यवाहियों में उसने मुझे लक्ष्मी नारायण का दत्तक पुत्र माना है। लेख्यों पर विचार करने से ऐसी बात नहीं आती। कुछ भी हो इस मामले में दोनों पक्ष सही तथ्यों से अवगत थे इसलिए प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) का सिद्धांत लागू नहीं हो सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि उत्तरवादी ने अपने चालचलन और शब्दों से धूर्तता वश अपीलकर्ता को गोद लेने वाले तथ्य पर विश्वास करने को कहा और उस विश्वास पर कार्य करने के लिये उसने प्रेरित किया और इस प्रकार परिस्थिति में परिवर्तन हुआ जिससे अब वह भिन्न प्रकार के तथ्यों का वर्णन नहीं कर सकती। मोहरी वि० धर्मदास घोष ३० इंडियन अपील्स ११४ में निर्णय हुआ था कि यदि वास्तविक तथ्य की सत्यता दोनों पक्ष जानते हैं तो उसमें प्रतिष्टंभ का सिद्धांत लागू नहीं होता। इसलिए जब दोनों पक्ष असली तथ्य के बारे में बराबर रूप से जानते हैं तो उसमें प्रतिष्टंभ का सिद्धांत नहीं लागू होता।

इसके समर्थन में कुछ लेख्य दिखलाए गए हैं जिनके बारे में अपीलकर्ता का कहना है कि वे प्रतिष्टंभ का समर्थन करते हैं। लेख्यों के देखने से पता चलता है कि उसमें स्वीकृति (ऐडमिशन) या प्रतिष्टंभ नहीं है। लेख्यों से यह बात नहीं प्रतीत होती कि लक्ष्मी नारायण द्वारा अपीलकर्ता को गोद लेने वाली बात स्वीकार की गई हो। इस प्रकार अन्य लेख्यों से स्वीकृति (ऐडमिशन) सिद्ध नहीं होता।

एक बयनामा में अपीलकर्ता का कहना है कि छाल्टी बाई ने यह कहा था कि किशोरी लाल अपीलकर्ता मेरे पति द्वारा गोद लिया गया है। अपीलकर्ता का कहना है कि गोदनामा पहले ही हुआ किंतु इसकी पुष्टि के लिये मुझे छाल्टी बाई ने अपनी गोद में लिया था। इससे यह पता नहीं चलता कि उत्तरवादी के कहने पर अपीलकर्ता ने अपनी स्थिति बदल दी, दूसरे उसने लिखित बयान में जो बात कही है उससे भिन्न बात कहने के लिये उसे अनुमति नहीं प्रदान की जा सकती और न तो इस भिन्न बात पर उसे दत्तक पुत्र के नाते अपने स्वत्व को प्रमाणित करने दिया जा सकता है। आधिकारिक रूप से यह निश्चित हो चुका है कि गोद लेना सामाजिक स्तर प्रदान नहीं करता। जो लोग गोद लिए जाने से इनकार करने की कोशिश करते हैं यह उनका मुँह बंद कर देता है। किंतु जहाँ दोनों पक्ष समान रूप से सही तथ्यों से अवगत हैं वहाँ यह सिद्धांत लागू नहीं होता। प्रतिष्टंभ के बारे में अपीलकर्ता ने दो और तथ्यों पर निर्भर किया है (१) लक्ष्मी नारायण का श्राद्ध करने की अनुमति उसे दिया जाना और (२) गोद लेनेवाली माता के पद से छाल्टी बाई द्वारा अपीलकर्ता का विवाह संपन्न किया जाना। यदि गोद का लिया जाना स्वतः निष्प्रमाणित हो जाता है तो वह प्रतिष्टंभ जो अन्य प्रकार से लागू नहीं होता लागू नहीं होगा (ए० आई० आर० १९२५ प्रिवी कौंसिल ११९)। अपीलकर्ता ने रानी

धरम कुँवर वि० बलवंत सिंह ३९ इंडियन अपील्स १४२ पर निर्भर किया किंतु उस मुकदमे में दोनों पक्ष सही बात नहीं जानते थे तथा अन्य प्रकार से भी उस मुकदमे और इस मुकदमे में अंतर था इसलिए उसके अंतर्गत वाला सिद्धांत इसमें लागू नहीं होगी।

उत्तरवादी छाल्टी बाई का तत्संबंधी आचरण चाहे जैसा रहा हो उसने चाहे जो भी स्वीकृति (ऐडमिशन) किया हो और किशोरीलाल के संबंध में उसका कार्य चाहे जैसा रहा हो यह प्रतिर्ष्टंभ (इस्टापेल) नहीं हो सकता कारण कि दोनों पक्ष तथ्यों से समान रूप से अवगत थे। उन चार कागजों पर जिस पर उसने हस्ताक्षर किया है कहीं यह बात नहीं है कि उसके पति ने अपने जीवन काल में किशोरी लाल को गोद लिया था। १९३८ के बयनामें में उसने कहा कि किशोरीलाल को मैंने गोद लिया और उसका यह कहना अपीलकर्ता किशोरी लाल के तत्संबंधी कथन से मेल नहीं खाता। अन्य कागजों में उत्तरवादी छाल्टी बाई ने जो बात कही है वह बात उक्त बयनामें में कही हुई बात से मेल खाती है और अपीलकर्ता की कही हुई इस बात से मेल नहीं खाती कि लक्ष्मी नारायण ने स्वयं मुझे गोद लिया।

अपीलकर्ता की ओर से बहस तब यह की गई कि चूँकि मुझे दत्तक पुत्र बहुत समय से माना गया है और यही अनेक कागजों में कार्यान्वित भी हो चुका है इसलिए इतनी लंबी अवधि के बाद निष्कर्ष केवल इस बात का निकालना चाहिए कि वह दत्तक पुत्र है। अपीलकर्ता का यह भी कहना है कि सिद्धांत वास्तव में यह है कि जब कोई पक्ष स्वयं किसी बात की सत्यता को स्वीकार करता है तो युक्तिसंगत रूप से उसे सत्य तब तक मानना चाहिए जब तक कि यह अभिधारणा समाप्त नहीं हो जाती। स्वीकार किए हुए तथ्य को स्थापित हो गया हुआ मानना चाहिए और इस प्रकार भार (ओनस) उत्तरवादी पर चला गया (चंद्र कुँवर वि० नरपत सिंह, ३४ इंडियन अपील्स २७)। भार (ओनस) के प्रश्न का महत्व समाप्त हो गया कारण कि इस पर नीचे के न्यायालय में आपत्ति कभी नहीं की गई और इस अवस्था में जब कि पक्षों ने साक्ष्य दे दिया है तो न्यायालय का काम केवल उन्हीं सामग्रियों के आधार पर निर्णय देने का रह जाता है। दूसरे, स्वीकृति (ऐडमिशन) निर्णायक (कानक्लूजिव) नहीं होती और जब तक उनका मूल्य प्रतिर्ष्टंभ (इस्टापेल) का नहीं हो जाता तब तक स्वीकृति करनेवाले को यह स्वतंत्रता रहती है कि वह प्रमाणित कर दे कि वह स्वीकृति असत्य थी या गलती से की गई, ट्रिनी डाड अल्फाल्ट कंपनी वि० कोरियट १८९६ ए० सी० ५८७। स्वीकृति (ऐडमिशन) केवल एक साक्ष्य होता है इसलिए यदि दोनों पक्ष सही बात जानते हों तो चंद्र कुँवर वाला सिद्धांत इसमें लागू नहीं होगा। इस मुकदमे में छाल्टी बाई ने कभी भी यह स्वीकार नहीं किया कि मेरे पति ने जीवनकाल में ही अपीलकर्ता को गोद लिया था। जिस स्वीकृति की बात यहाँ कही गई है वह उस गोद लेने की बात प्रमाणित नहीं कर सकती जो अन्य प्रकार से निष्प्रमाणित हो चुकी है।

लक्ष्मीनारायण के मरने पर उसकी विधवा छाल्टी बाई पर ही परिवार का सब बोझ पड़ा। उस समय उसकी आयु केवल २४, २५ वर्ष की थी। काम काज का उसे अनुभव नहीं था। कचहरी आदि का काम बद्री नारायण ही देखता था तथा साक्ष्यों से पता चलता है कि घर के और कामों की भी देखरेख बद्री नारायण करता था जिसके बारे में छाल्टी बाई का कहना था कि हमें हानि पहुँचाने के विचार से वह जबरदस्ती गोद लेने पर जोर देने लगा। इसलिए इस वातावरण को ध्यान में रख कर साक्ष्य को देखना और उसका परीक्षण करना है। जिस स्थिति में उत्तरवादी छाल्टी बाई थी उस स्थिति में की गई स्वीकृति (ऐडमिशन) का महत्व निश्चय ही बहुत कम होगा।

इन कागजी प्रमाणों के अतिरिक्त किशोरी लाल ने दो तथ्यों पर निर्भर किया। उसका कहना था कि मैंने दाह संस्कार किया किंतु दाह संस्कार करने से यह आवश्यक नहीं है कि गोद का लिया जाना प्रमाणित हो जाय। अपीलकर्ता ने स्वयं जो साक्ष्य दिया है उसमें कहा गया है कि यदि पुत्र न हो तो परिवार के छोटे लोग जैसे छोटा भाई या छोटा भतीजा दाह संस्कार कर सकता है। दूसरे, प्रत्येक परिवार में यह प्रथा भिन्न भिन्न होती

है। प्रिवी कौंसिल के १० मूर्स इंडियन अपील्स ४२६ में कहा गया था कि जब तक यह प्रमाणित न हो जाय कि गोद ऐसी परिस्थिति में लिया गया था कि यह पूर्णरूपेण वैध था तब तक दाह संस्कार करने से गोद का लिया जाना प्रमाणित नहीं हो सकता। इसके बारे में दूसरा तर्क यह है कि अपीलकर्ता को छाल्टी बाई उत्तरवादी ने अपनी गोद में लिया था और इसी अपीलकर्ता ने जब दाह संस्कार किया तो इन दोनों तथ्यों ने मिलकर दत्तक ग्रहण की बात को पुष्ट कर दिया। ऐसा निष्कर्ष निकालने के लिये यह आधार उपयुक्त नहीं है क्योंकि स्वयं बद्री नारायण के बयान में है कि पुत्र को विधवा द्वारा गोद में लेने की कोई प्रथा मेरी बिरादरी में नहीं है और इस मामले में विधवा की ऐसी इच्छा थी इसलिए उसने अपीलकर्ता को गोद में ले लिया था। लक्ष्मी नारायण द्वारा गोद लिए जाने के संबंध में इस साक्ष्य का कोई महत्व नहीं है क्योंकि अपीलकर्ता का कथन यह नहीं रहा है और उसकी पुष्टि में इस कार्यवाही को यदि दिखलाया जाता है तब भी यह सारहीन है क्योंकि लक्ष्मी नारायण द्वारा गोद लिए जाने के संबंध में पर्याप्त साक्ष्य नहीं है।

सरकारी कागजों में संपत्ति पर अपीलकर्ता का नाम चढ़ने की बात कही गई है किंतु जब बद्रीनारायण मुकदमे आदि का काम देखता ही था तो ऐसी प्रविष्टि (ऐंट्रीज) पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता। संपत्ति के प्रबंध करने की जो बात कही गई है वह भी बहुत महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि या तो बद्रीनारायण या किशोरी लाल कोई न कोई तो काम काज देखता ही। इसी प्रकार दत्तक ग्रहण के संबंध में कुछ छोटे मोटे तथ्य दिए गए हैं किंतु वे इस बात के लिये विश्वास करने योग्य नहीं हैं।

इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि उत्तरवादी ने अपीलकर्ता का विवाह किया किंतु गोद लेना यदि निष्प्रमाणित हो चुका है तो विवाह का करना भी पूर्ण रूपेण तटस्थ हो जाता है और गोद लेने की बात का समर्थन नहीं कर सकता।

जिन परिस्थितियों पर अपीलकर्ता ने निर्भर किया है वे अधिक से अधिक उत्तरवादी की मौन संमति (एक्युजेंस) हो सकती है किंतु इस मौन संमति का महत्व भी तब होता जब वे उस प्रश्न पर प्रभाव डालती जो साक्ष्यों के भार (प्रीपांडरेंस) पर निर्भर करता। तथ्यों का निश्चय जब एक बार हो जाता है तब आचरण से प्रतीत होनेवाली अभिधारणा उन अधिकारों की स्थापना नहीं कर सकती जिन्हें स्वयं तथ्य ही निष्प्रमाणित करते हैं (१० मूर्स इंडियन अपील्स ४२६)। यदि समस्त संबंधित व्यक्तियों द्वारा मौन संमति दे भी दी गई हो तो भी अभिधारणा (प्रेजंप्शन) के बल पर गोद का लिया जाना स्थापित नहीं किया जा सकता यदि साक्ष्य से यह प्रतीत होता है कि गोद लिया ही नहीं गया। अपीलकर्ता ने अंत में कहा कि बद्रीनारायण के परिवार में जब बँटवारा हुआ तो मुझे कोई हिस्सा नहीं मिला। यह काम उत्तरवादी का नहीं था इसलिए इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

हमारे विचार से उच्च न्यायालय का निर्णय ठीक है और यह अपील परिव्यय के साथ उत्सर्जित कर दी जाय।

अपील उत्सर्जित

———

विधि पत्रिका १९५९ सर्वोच्च न्यायालय ३६

१४ नवंबर १९५८

एस० आर० दास मुख्य न्यायाधिपति एन० एच० भगवती, बी० पी० सिंह, के० सुब्बाराव और के० एन० वांचू न्यायमूर्तिगण

रघुबीर सिंह तथा अन्य प्रार्थीगण

(कुल ६६ प्रार्थनापत्र)

वि०

अजमेर राज्य (अब राजस्थान) तथा अन्य उत्तरवादीगण

प्रार्थनापत्र सं० २३०, २३६, २४१, २४६, २५१, २५६,

२५७, २६०, ३०३, ३०६, ३४६, ३५१, ३५२, ३५५-३५७ सन् १६५५ और सं० ३३ और ३६ सन् १६५६

अखिल भारतीय संविधान अनुच्छेद ३१—ए० (१) ए० और अनुसूची (शेड्यूल) ७, सूची २, प्रविष्टि १८—अजमेर के मध्यवर्ती उन्मूलन तथा भूमिसुधार अधिनियम, धा० ८—धारा के अधिनियमन का विधान मंडल का अधिकार—उक्त धारा को क्या अनुच्छेद ३१ ए० का संरक्षण प्राप्त है।

ब—भारतीय संविधान, अनुच्छेद ३१—ए० (१) ए०—अजमेर मध्यवर्ती उन्मूलन तथा भूमिसुधार अधिनियम की धारा ३८ क्या उक्त अनुच्छेद से संरक्षित है

न्यायमूर्ति के० एन० वाँचू—

पहले के अजमेर राज्य के भूस्वामियों ने भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३२ के अंतर्गत अधिनियम (अजमेर ३, १६५५) की वैधता पर आपत्ति किया है। इन प्रार्थनापत्रों में मुख्यतया चार आधारों पर ही आपत्ति की गई है।

यह अधिनियम अजमेर विधान मंडल द्वारा पारित किया गया और १६-५ १६५५ को राष्ट्रपति ने इस पर अनुमति दिया।

अधिनियम की धारा ४ में था कि मध्यवर्तियों की समस्त संपदा (इस्टेट्स) राज्य सरकार में एक निश्चित तिथि को निहित होगी जो तिथि बाद में निश्चित की जायगी। १-८-१६५२ यह तिथि निश्चित की गई जिस दिन कि समस्त मध्यवर्तियों की संपदा राज्य सरकार में निहित होनेवाली थी। यह तिथि निश्चित होने के बाद वर्तमान प्रार्थनापत्र निवेशित किए गए।

इसमें झगड़ा नहीं है कि यह अधिनियम संविधान के अनुच्छेद ३१—ए० (१) ए० के अंतर्गत संरक्षित है कारण कि यह एक ऐसा विधान है जो राज्य द्वारा संपदा (इस्टेट) या तदंतर्गत अधिकार को प्राप्त करने के संबंध में है। प्रार्थियों का कहना है कि इस संरक्षण के रहते हुए भी या तो पूरा अधिनियम या इसका कुछ उपबंध अवैध है। थोड़े में निम्नलिखित आधार पर आपत्तियाँ की गई हैं—

१—अधिनियम की धारा ८ अवैध है,

२—अधिनियम की धारा ३८ अवैध है,

३—अजमेर विधान मंडल को इस अधिनियम के पारित करने का अधिकार नहीं था, और—

४—जागीरदार 'मध्यवर्ती में नहीं आता इसलिए उसकी संपत्ति निहित नहीं हो सकती।

धारा ८ में है कि कानून बनने जा रहा है इस बात को समझकर जिन लोगों पट्टा कर दिया है और जो पट्टा व्यापार के सामान्य क्रम में नहीं है उसे निरसित (कैंसेल) करने का अधिकार जिलाधीश को है। इस संबंध में बहस यह की गई है कि जब अपनी संपत्ति के बेचने का मौलिक अधिकार पहले से ही था और इस अधिकार पर कोई प्रतिबंध नहीं था तथा इसी अधिकार के अंतर्गत जब पट्टा लिखा गया तो अतीत प्रभावी ढंग पर (रिट्रास्पेक्टिवली) उसका निरसन नहीं किया जा सकता। कहा गया कि मान लीजिए कि किसी ने एक निश्चित अवधि के पट्टे के लिये सभी रुपया इकट्ठे ही ले लिया है तो ऐसी परिस्थितियों में पट्टा निरसित (कैंसिल) होने पर डर है कि भूस्वामी को प्रतिकर भी देना पड़ेगा। हमारे विचार से संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची २ की प्रवृष्टि (एंट्री) १८ जो भूमि से संबंधित है के अंतर्गत विधानमंडल को ऐसा उपबंध बनाने का अधिकार था। इसमें संदेह नहीं कि कुछ उपयुक्त परिस्थितियों में विधानमंडल को अतीत प्रभावी कानून बनाने का अधिकार है। अनेक प्रमाण हैं जिनसे पता चलता है अनेक बार पहले के संलेख (इंस्ट्रूमेंट) को निरसित करनेवाले कानून बनाए जा चुके हैं इसलिए ऐसा करना कोई नई बात नहीं है। अतः अजमेर विधानमंडल को ऐसा कानून बनाने का अधिकार था और जिस परिस्थिति में यह उपबंध बना है वह अनुच्छेद ३१ ए० द्वारा संरक्षित है। यह धारा ८ कोई स्वतंत्र उपबंध नहीं है

वरन् अधिनियम के उद्देश्य को और प्रभावपूर्ण ढंग से पूरा करने के लिये यह सहायक मात्र है। इस उपबंध द्वारा कलक्टर को यह अधिकार दिया गया है वह जाँच कर ले कि पट्टा वैसा है और निरसित करने योग्य है कि नहीं। पट्टे का इस प्रकार निरसित किया जाना अधिनियम के प्रयोजन को पूरा करता है और प्रमुख उद्देश्य में सहायक मात्र होने पर भी यह अधिनियम का अविछिन्न भाग है और इस प्रकार संविधान के अनुच्छेद ३१ ए० (१) ए० के अंतर्गत संरक्षित है।

धा० ३८—

इस धारा में यह उपबंध है कि कोई भूस्वामी लगान से ५०% से अधिक लगान पर अपने खेत को नहीं उठा सकता। यह नियम इसलिए बनाया गया है कि भूस्वामी अपने खेतों में स्वयं खेती करें और लगान पर उठाकर स्वयं मध्यवर्ती न बन जाँय। इस उद्देश्य की पूर्ति उपर्युक्त उपबंध से हो जाती है कारण कि लगान से केवल ५०% वह अधिक पा सकता है इसलिए निश्चय ही लगान पर देने की अपेक्षा उसे स्वयं खेती करने में लाभ होगा। इसलिए हमारे विचार से अधिनियम के उद्देश्य की पूर्ति के लिये सहायक उपबंध के रूप में धा० ३८ आवश्यक है और इस प्रकार यह भी अनुच्छेद ३१ ए० (१) (ए०) द्वारा संरक्षित है।

सूची १ की निविष्टि ('एंट्री) संघ के लिये संपत्ति प्राप्त करने से संबंध रखती है। इसमें यह नहीं दिया हुआ है कि संपत्ति प्राप्त करने के बाद यह किसमें निहित होगी। इसी प्रकार सूची २ की निविष्टि (एंट्री) ३६ संघ के प्रयोजन को छोड़कर संपत्ति प्राप्त करने से संबंध रखती है और इसमें यह नहीं दिया हुआ है कि संपत्ति प्राप्त होने के बाद वह किसमें निहित होगी। सूची ३ की निविष्टि ४२ में भी यह नहीं दिया गया है कि प्राप्त करने के बाद संपत्ति किसमें निहित होती। उपर्युक्त दो निविष्टियों के अंतर्गत कानून बनाने के विधान मंडल के अधिकार के बारे में निर्णय करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि इस बात पर विचार किया जाय कि प्राप्त करने के बाद संपत्ति कहीं निहित होती है। उपर्युक्त निविष्टियों के अंतर्गत केवल यही देखना है कि पहली में संपत्ति संघ के प्रयोजन के लिये और दूसरी में संघ के प्रयोजन के अतिरिक्त ली जा रही है कि नहीं। इसी आधार पर देखना है कि अजमेर विधान मंडल को उपर्युक्त कानून बनाने का अधिकार था कि नहीं। हमारे विचार से इसका उत्तर यही हो सकता है कि यह अधिनियम राज्य के विधान मंडल द्वारा राज्य के भीतरवाली संपदा की प्राप्ति के लिये पारित किया गया था और इसलिए यह राज्य के प्रयोजन के लिये ही हो सकता था। 'राज्य के प्रयोजन' के अर्थ को सीमित इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि प्राप्त होने के बाद यह किसमें निहित होती है। यह राज्य के प्रयोजन के लिये लिया गया था कारण कि अब अजमेर राजस्थान का एक हिस्सा है और उस अधिनियम के अंतर्गत जो संपदा ली गई वह अब राजस्थान में चली गई है और संघ द्वारा इस आधार पर नहीं रखी गई है कि इसका स्वत्व संघ को था। इसलिए जब यह संपदा अजमेर राज्य के लिये ली गई है तो अजमेर विधान मंडल को इस संबंध में कानून बनाने का अधिकार है क्योंकि यह सूची २ की निविष्टि ३६ के शब्दों के भीतर आती है।

जागीरदार के संबंध में :—

जागीर एक विशेष प्रयोजन के लिये दी गई है। इसलिए यह निश्चित रूप से संपदा (इस्टेट) में आती है। इस आधार पर सरकार उसे अधिनियम की धारा ४ के अंतर्गत ले सकती है।

प्रार्थनापत्र असफल होते हैं और उत्सर्जित किए जाते हैं।

प्रार्थनापत्र उत्सर्जित

———

पुत्रों के विरुद्ध उत्सर्जित कर दिया जाता है और दूसरा वह जब कि यह इसलिए उत्सर्जित कर दिया गया रहता है कि वाद हटा लिया (विदड्रा) कर लिया गया रहता है क्योंकि वादी की इच्छा होती है कि उनके (पुत्रों के) विरुद्ध कार्यवाही न की जाय। इसलिए इसमें निर्णय दिया गया कि तत्व पर विचार करने के बाद पुत्रों के विरुद्ध वाद जब उत्सर्जित कर दिया जाता है और वाद केवल रुपए की डिग्री के लिये होता है तथा डिग्री संयुक्त संपत्ति के विरुद्ध नहीं होती तो पुत्रों का हिस्सा न तो कुर्क किया जा सकता है और न बेचा जा सकता है किंतु दूसरी परिस्थिति में जब वादी किसी कारण से पुत्रों के विरुद्ध मुकदमा चालू नहीं रखना चाहता और वाद हटा लेना चाहता है तो पहलेवाला सिद्धांत इसमें लागू नहीं होगा और पुत्रों के हिस्सों के विरुद्ध भी निष्पादन की कार्यवाही होगी और ऋण यदि कानून के विरुद्ध नहीं है या अनैतिक नहीं है तो ऋणके चुकानेवाले धार्मिक बंधन के आधार पर पुत्रों को डिग्री का रुपया देना पड़ेगा।

इस प्रकार के मुकदमों के लिये दो परिस्थितियाँ हो सकती हैं। एक अवस्था वह हो सकती है जब पुत्रों के विरुद्ध मुकदमें को उसके तत्व पर विचार करके निर्णय देकर उत्सर्जित कर दिया गया रहता है। ऐसा निर्णय प्राङ्न्याय (रेसजुडिकेटा) होता है क्योंकि इसमें प्राङ्न्याय का सिद्धांत लागू होता है। ऐसी अवस्था में संयुक्त परिवार की पुत्र की संपत्ति को कुर्क करने और उसके बेचने के कार्यवाही निष्पादन के सिलसिले में पिता की डिग्री की वसूली के लिये नहीं की जा सकती। दूसरी अवस्था वह हो सकती है जब कि वादी पुत्रों के विरुद्ध कार्यवाही नहीं करना चाहता और उनके विरुद्ध मुकदमा हटा लेता है तथा उस मुकदमें में पिता के विरुद्ध डिग्री हो जाती है तब उस डिग्री की वसूली के लिये डिग्रीदार पुत्रों के हिस्सों के विरुद्ध भी कार्यवाही पिता के ऋण को चुकानेवाले उनके धार्मिक बंधन के सिद्धांत के अनुसार कर सकता है और पुत्रगण इस कार्यवाही से छुटकारा केवल यह प्रमाणित करने के बाद पा सकते हैं कि वह ऋण अनैतिकता या अवैधता से लांछित था।

अपीलकर्ता की यह बात मैं नहीं मानता कि केवल इस कारण कि पुत्रों के विरुद्ध वाद उत्सर्जित हो गया है इसलिए निश्चित रूप से यह तथ्य पर उत्सर्जित हुआ समझा जायगा। बंबई उच्च न्यायालय द्वारा पारित डिग्री को मैंने देखा और उससे यही प्रतीत हुआ कि जब वकील ने बयान दिया कि मैं पुत्रों के विरुद्ध मुकदमा नहीं चलाना चाहता और उसे हटा लेना चाहता हूँ तब वाद उत्सर्जित किया गया। वकील के इस बयान से यह प्रतीत होता है कि इसका निर्णय तत्व पर विचार करके नहीं दिया गया। इस उत्सर्जन का परिणाम इतना ही होगा कि उसी वादमूल पर दूसरा मुकदमा पुत्रों के विरुद्ध नहीं निवेशित किया जा सकता। ऐसी परिस्थिति में हमारे विचार से व्यवहार प्रक्रिया संहिता की धारा ११ का बंधन निष्पादन कार्यवाही में लागू नहीं होगा और केवल सामान्य रुपए की डिग्री जो पिता के विरुद्ध पारित है उसके निष्पादन की कार्यवाही वह पुत्रों के हिस्सों के विरुद्ध कर सकता है। बात उस समय दूसरी होती जब पुत्रोंके विरुद्ध मुकदमा इस आधार पर खारिज किया गया होता पुत्रगण ऋण के देनदार इसलिए नहीं हैं कि वह प्रमाणित नहीं हुआ या यह परिवार की आवश्यकता या परिवार के लाभ के लिये नहीं लिया गया। इसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि पुत्रों के विरुद्ध मुकदमा इस आधार पर उत्सर्जित होना चाहिए कि ऋण अनैतिकता या अवैधता से लांछित था। पुत्रों को देनदार ठहरानेवाली बात यदि पहले उठी और उस मुकदमे में न्यायालय को उस पर निर्णय देना अनिवार्य है तब वादी को उन समस्त आधारों को दिखलाना चाहिए जिन पर वह पुत्रों को देनदार ठहराता है। पुत्रों को देनदार ठहरानेवाली कुछ बातों को यदि वादी ने छोड़ दिया है और जितनी बातें वादी द्वारा कही गई हैं केवल उन्हीं पर विचार करने के बाद न्यायालय पुत्रों को देनदार नहीं पाता तो व्य० प्र० संहिता की धारा ११ के व्याख्या ४ के अनुसार जो बात पहलेवाले मुकदमे में आक्रमण या बचत में

कही जानी चाहिए थी उसे समझा जायगा कि पहले मुकदमें में वादपद में सीधे एवं प्रत्यक्षतः थी तथा उसके बारे में समझा जायगा कि उसका निर्णय कर दिया गया। यह निर्णय कि ऋण के देने का बंधन पुत्रों पर नहीं है परिलक्षित प्राङ्न्याय (कांस्ट्रक्टिव रेसजुडिकेटा) के रूप में निष्पादन कार्यवाही में लागू होगा और पुत्रों के विरुद्ध डिग्री का निष्पादन नहीं किया जा सकता। किंतु वाद की किसी भी अवस्था में यदि मुकदमा हटा लिया जाता है तब यह सिद्धांत लागू नहीं होता। परिलक्षित प्राङ्न्याय का सिद्धांत केवल उसी समय लागू होगा जब कि पुत्रों के विरुद्ध मुकदमा उनके दायित्व पर निर्णय देने के बाद उत्सर्जित कर दिया गया हो।

एक तर्क यह है कि व्य० प्र० संहिता के आ० २३ नि० १ (३) के अनुसार वादी अपीलकर्ता के विरुद्ध कार्यवाही नहीं कर सकता। हमारे विचार से इस कथन में बल नहीं है। इस नियम का मतलब इतना ही है कि वादी उसी वादमूल पर दूसरा मुकदमा दाखिल नहीं कर सकता। वादी ने विधि के किसी अन्य उपबंध के अंतर्गत यदि पुत्रों के विरुद्ध डिग्री के निष्पादन का अधिकार प्राप्त कर लिया है तो आ० २३ नि० १ (३) का उपबंध उसे ऐसा करने से रोक नहीं सकता। हिंदू विधि का यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि पिता चाहे जीवित हो या मर गया हो उसके द्वारा लिया हुआ ऋण यदि अनैतिकता और अवैधता से लांछित नहीं है तो पुत्र उस ऋण का देनदार है। अतः इस विचार से इस कथन में बल नहीं है।

दूसरी बात यह कही गई है कि नीचे के न्यायालय ने जब यह निर्णय नहीं दिया कि ऋण अनैतिकता से लांछित है तब वह आपत्ति को उत्सर्जित नहीं कर सकता था। किंतु अभिलेख के देखने से पता चलता है कि अपीलकर्ता के वकील ने यह बयान दिया था कि हम इस आपत्ति के समर्थन में मौखिक साक्ष्य नहीं देने जा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में नीचे के न्यायालय द्वारा अपीलकर्ता की आपत्ति का उत्सर्जित किया जाना ठीक था।

अपीलकर्ता की ओर से प्रार्थना की गई कि इसे प्रतिप्रेषित (रिमांड) कर दिया जाय ताकि अपने कथन के समर्थन में अपीलकर्ता को साक्ष्य देने का अवसर मिले। इस अवस्था में यह प्रार्थना स्वीकार नहीं की जा सकती कारण कि नीचे के न्यायालय में अपीलकर्ता को पर्याप्त अवसर मिला था किंतु उसने इसका लाभ नहीं उठाया बल्कि इसके विपरीत उसने बयान दे दिया कि अपनी आपत्ति के समर्थन में हम साक्ष्य नहीं देंगे। अतः इस प्रार्थना को स्वीकार करने के लिये कोई संतोषजनक कारण नहीं है और उन्हें अपनी बात कहने के लिये अवसर नहीं प्रदान किया जा सकता।

परिणामतः अपील असफल होती है और परिव्यय के साथ उत्सर्जित की जाती है।

न्यायमूर्ति श्रीवास्तव—

मैं उक्त निर्णय से सहमत हूँ किंतु इस संबंध में मैं कुछ अपनी बात अलग से कहना चाहता हूँ।

पुत्र के धार्मिक बंधनों को लागू करनेवाली बात ४ प्रकार की परिस्थितियों में उठ सकती है—

१—वे मुकदमें जिनमें ऋणदाता केवल पिता के विरुद्ध डिग्री पाता है किंतु इसे समस्त परिवार की संपत्ति के विरुद्ध जिसमें पुत्रों का भी हिस्सा रहता है लागू करना चाहता है।

२—वे मुकदमें जो केवल पुत्र के विरुद्ध पिता के जीवनकाल में या उसके मरने के बाद दाखिल किए जाते हैं।

३—वे मुकदमें जो ऋण की वसूली के लिये पिता और पुत्र दोनों के विरुद्ध निवेशित किए जाते हैं और दोनों के विरुद्ध डिग्री प्राप्त की जाती है।

४—वे मुकदमें जो ऋण की वसूली के लिये पिता तथा पुत्र दोनों के विरुद्ध निवेशित किए जाते हैं किंतु केवल पिता के विरुद्ध डिग्री होती है और पुत्रों के विरुद्ध वे उत्सर्जित कर दिए जाते हैं।

जहाँ तक पहले प्रकार के मुकदमों का संबंध है पिता के विरुद्ध डिग्री पाने के बाद ऋणदाता समस्त

संयुक्त परिवार की संपत्ति के विरुद्ध जिसमें पुत्रों का भी हिस्सा शामिल है निष्पादन की कार्यवाही कर सकता है और केवल निष्पादन विभाग में आकर पुत्रों को यह प्रमाणित करने का अधिकार होगा कि ऋण या तो फर्जी है या यदि यह वास्तविक है तो वह अनैतिकता या अवैधता से लांछित है। यदि पुत्र इन बातों को प्रमाणित नहीं कर पाता है तो उसका हिस्सा भी दायी होगा।

पिता के जीवनकाल में यदि केवल पुत्र के ही विरुद्ध मुकदमा दाखिल किया जाता है तो निश्चय ही इसकी सुनवाई नहीं हो सकती कारण कि जब तक पिता पर इसका दायित्व निश्चित नहीं हो जाता तब तक पुत्र इसके देनदार नहीं बनाए जा सकते। पिता के मरने पर पुत्र के विरुद्ध मुकदमा दाखिल अवश्य हो सकता है और उस अवस्था में पुत्र यह प्रमाणित कर सकता है कि कोई रुपया चाही नहीं था या यह ऋण अनैतिकता या अवैधता से लांछित था इसलिए उसके हम देनदार नहीं हैं।

तीसरी श्रेणी में जो मुकदमें आते हैं और जिनमें पिता तथा पुत्र दोनों के विरुद्ध डिग्री प्राप्त कर ली जाती है तब यह स्पष्ट है कि पुत्र के विरुद्ध निष्पादन की कार्यवाही की जा सकती है। यदि पुत्र दायित्व से बचाना चाहता है तो स्वतः उसी मुकदमे में उसे लड़ना चाहिए और यह दिखलाना चाहिए कि ऋण वास्तविक नहीं है और इसकी प्रकृति के कारण वह ऋण चुकाने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता।

चौथी श्रेणी में वर्तमान मुकदमा आता है। इस संबंध में पुत्र को देनदार ठहराने के लिये जितने तर्क उक्त निर्णय में दिए गए हैं उन्हें मैं मानता हूँ। अपील-कर्ता को इस ऋण से छुटकारा पाने के लिये उस निर्णय में दी गई जितनी बातें कहनी चाहिए थीं नहीं कही गईं इसलिए उनकी आपत्ति सफल नहीं हो सकती।

चूँकि अपीलकर्ता ने पहले के प्राप्त अवसरों से लाभ नहीं उठाया है इसलिए इस अवस्था में पहुँचकर इसे प्रतिप्रेषित करके उन्हें अपनी बात कहने का अवसर प्रदान नहीं किया जा सकता।

मैं सहमत हूँ कि अपील असफल होनी चाहिए। न्यायालय द्वारा—अपील परिव्यय के साथ उत्सर्जित की जाती है। निर्वर्तन के लिये ये अभिलेख नीचे के न्यायालय में शीघ्र भेज दिए जायँ।

—अपील उत्सर्जित

विधि पत्रिका १९५९ इलाहाबाद उच्च न्यायालय ४३

ए० पी० श्रीवास्तव न्यायमूर्ति

आपराधिक प्रकीर्णक (मिसलेनियस) सं० १६३७। १९५८—१६ अक्टूबर १९५८

टेक्सटाइल ट्रेडर्स सिंडिकेट लिमिटेड बुलंदशहर— प्रार्थी

विरुद्ध

उत्तर प्रदेश राज्य तथा अन्य— विपक्षीगण

अ—दंड प्रक्रिया संहिता, १८९८, धा० १५५ (२), १५६ और ५५१-सी० आई० डी० के निरीक्षक (इंस्पेक्टर) राज्य भर में थानेदार के अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं। प्रयोजन विशेष के लिये विशेष प्रकार से नियुक्त करना आवश्यक नहीं है।

ब—दं० प्र०सं०, १८९८, धा० ५२३ के अंतर्गत निदेश कब जारी किया जा सकता है।

स- दं० प्र० सं०, १८९८, धारा ९५—यदि पोस्ट मास्टर को कोई पत्र, धनादेश (मनीआर्डर) पार्सल इत्यादि रोक रखने का आदेश दिया गया किंतु इस बात पर विचार नहीं किया गया कि धा० ९४ के के अंतर्गत उनका देना आवश्यक होगा तो यह आदेश गलत है।

प्रश्न—दं० प्र० संहिता की धारा ९५ (२) के अंतर्गत जो 'लेख्य (डाकूमेंट), पार्सल या वस्तु' शब्दों का प्रयोग किया गया है उसमें 'धनादेश' (मनीआर्डर) आता है कि नहीं।

न्यामूर्ति श्रीवास्तव—

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा ५६१ ए० के अंतर्गत यह प्रार्थनापत्र दिया गया है। कहा गया है कि इसमें प्रार्थी एक सार्वजनिक सीमित कंपनी है जो बुलंदशहर में न्यू सरस्वती सूगर मिल्स के नाम से बुलंदशहर में

चीनी का कारबार करती है। प्रार्थी और सी० आई० डी० विभाग के पुलिस निरीक्षक द्वारिका सिंह के बीच झगड़ा हुआ है और प्रार्थी का कहना यह है कि द्वारिका सिंह नाराज हो गए और उन्होंने बुलंदशहर के जिलाधीश के यहाँ एक प्रतिवेदन दिया और जिलाधीश ने उन्हें कुछ मामलों की छानबीन करने के लिये अधिकृत कर दिया जिसमें धोखेबाजी और जालसाजी का भी अपराध था और जिसके बारे में कहा गया था कि कंपनी के कुछ संचालकों ने यह अपराध किया है।

इस छानबीन के संबंध में जिलाधीश ने एक आदेश पारित किया जिसके बारे में कहा जाता है कि यह दं० प्र० संहिता की धारा ६५ के अंतर्गत पारित किया गया है। उस आदेश द्वारा बुलंदशहर के पोस्ट मास्टर को आदेश दिया गया कि प्रार्थी कंपनी के नाम से जो भी पत्र, धनादेश या पार्सल या अन्य कोई कागज पत्र आए उसे प्रार्थी को न दिया जाय और वह तब तक रोक रखा जाय जब तक कि इन कंपनियों के विरुद्ध चलनेवाले मामले में निर्णय न हो जाय। इस आदेश में था कि वे पत्र, धनादेश या पार्सल आदि द्वारिका सिंह को दिखलाए जा सकते हैं। दूसरा आदेश प्रार्थी के कहने पर जो दं० संहिता की धारा ५२३ के अंतर्गत प्रतीत होती है। उसके द्वारा एस० डी० ओ० ने पंजाब नेशनल बैंक के व्यवस्थापक को आदेश दिया कि इन फर्मों का को रुपया है उसे अपनी अभिरक्षा (कस्टडी) में रखें।

प्रार्थी की ओर से यह कहा गया है कि द्वारिकासिंह को इस मामले की छानबीन करने का अधिकार नहीं था और उन्होंने जो कुछ भी किया वह अधिक्षेत्र के बाहर था।

प्रार्थी का कहना है कि धा० ६२ और धा० ५२३ में जो उपर्युक्त आदेश पारित किये गए वे उन धाराओं की शर्तों के अनुसार नहीं है। प्रार्थना की गई है कि यह पूरी कार्यवाही और उपर्युक्त दोनों आदेश विशेष रूप से अभिखंडित कर दिए जाँय।

द्वारिकासिंह ने एक प्रतिशपथपत्र निवेशित किया है जिसमें उन्होंने इन सभी बातों से इनकार किया है और उनका कहना है कि इस कार्यवाही के लिये कारण पर्याप्त थे तथा प्रश्नगत् आदेश सही हैं।

पहला प्रश्न यह है कि द्वारिका सिंह को क्या कंपनी के संचालकों द्वारा धोखेबाजी जालसाजी और अपहरण आदि अपराध किए जाने की छानबीन का अधिकार था। प्रार्थी का कहना है केवल धारा १५५ और १५६ के अंतर्गत ही द्वारिकासिंह छानबीन कर सकते हैं। धारा १५५ लागू नहीं होती क्योंकि यह केवल अहस्तक्षेप्य (नान काग्निजेबुल) मामलों में लागू होती है। धारा १५६ भी लागू नहीं हो सकती कारण कि इसके अंतर्गत केवल थानाध्यक्ष को ही यह अधिकार है और द्वारिका सिंह ऐसे अधिकारी नहीं है। प्रार्थी की ओर से यह भी कहा गया कि कुछ छानबीनवाले अपराध अहस्तक्षेप्य (नान काग्निजेबुल) हैं जैसे जालसाजी इत्यादि। इन अपराधों के बारे में धा० १५५ (२) के अंतर्गत मजिस्ट्रेट द्वारा अधिकृत होने पर द्वारिका सिंह छानबीन कर सकते हैं अन्य अपराधों के बारे में जो हस्तक्षेप्य (काग्निजेबुल) है द्वारिका सिंह धा० १५६ (धा० ५५१ के साथ) थानाध्यक्ष के अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं कारण कि वे इंस्पेक्टर हैं और थानाध्यक्ष से बड़े हैं। सरकार के तत्संबंधी आदेश और सी० आई० डी० नियमावली से भी यही बात प्रतीत होती है।

विद्वान वकीलों की बात सुनने से यही आता है कि राज्य के वकील की बात में बड़ा बल है। यह निश्चित है कि पुलिस का निरीक्षक होने के नाते द्वारिका सिंह का पद थानाध्यक्ष से बड़ा है। थानाध्यक्ष प्रायः उपनिरीक्षक के पद के होते हैं। इसलिए धारा ५५१ में द्वारिका सिंह उत्तर प्रदेश भर में थानाध्यक्ष के अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं। निरीक्षक होने के नाते उपनिरीक्षक से उनका पद अवश्य ही बड़ा है इसलिए धोखेबाजी और अपाहरण (मिसएप्रोप्रिएशन) के अपराध की छानबीन करने का उन्हें अधिकार है। जहाँ तक जालसाजी (फोर्जरी) आदि का संबंध है द्वारिका सिंह निस्संदेह एक पुलिस के अधिकारी हैं और (नान काग्निजेबुल) अपराध की छानबीन करने के लिये

यदि उन्हें निर्देश दिया गया है तो संहिता की धारा १५५ (२) के अंतर्गत वे छानबीन कर सकते हैं।

प्रार्थी के विद्वान् वकील ने इस संबंध में ए० आई० आर० १९२७ बंबई ५०१ पर निर्भर किया। उन्होंने इसपर भी संदेह किया कि संहिता की धारा ५५१ के अंतर्गत क्या द्वारिका सिंह को एक क्षेत्र विशेष के लिये नियुक्त हुआ माना जा सकता है ?

ए० आई० आर० १९२७ बंबई ५०१ में तथ्य इस प्रकार थे। सूरत के जीलाधीश को एक एस० डी० ओ० के आचरण पर संदेह हुआ जो उनके नीचे काम करते थे। उन्होंने सी० आई० डी० से बातचीत किया और पुलिस के उप महानिरीक्षक (डिप्टी इंसपेक्टर जनरल आफ पुलिस) ने इसकी जाँच आदि करने के लिये श्री कोथावाला को जिलाधीश को दे दिया कि वे गुप्त जाँच करके प्रतिवेदन देंगे। श्री कोथावाला ने गुप्त जाँच करने के बाद प्रतिवेदन दे दिया। उन्होंने स्थानापन्न जिलाधीश श्री जयकर के यहाँ एक परिवाद भी निवेशित किया और जयकर ने उन्हें दं० प्र० संहिता की धारा १५५ (२) के अंतर्गत छानबीन करने का अधिकार भी दिया। कोथावाला ने जो पहले बयान लिया था उनके अतिरिक्त और बयान लिया और इन सबके आधार पर अभियोग पत्र (चार्ज शीट) दिया। इस आधार पर एस० डी० ओ० पहले अस्थायी रूप से कार्यच्युत कर दिए गए और तब दंड संहिता की धारा १६१ के अंतर्गत दंडनीय अपराध के लिये उनकी अन्वीक्षा आरंभ हुई। इस मामले में यह प्रश्न उठा कि धारा १५५ के अंतर्गत अधिकृत होने के पहले उन्होंने जो गुप्त जाँच की थी और उसमें जो बयान लिया था वह क्या संहिता की धारा १६२ के अंतर्गत छानबीन में लिया हुआ बयान कहा जा सकता है ? इसमें निर्णय हुआ था कि यह १६२ में नहीं आ सकता। उस निर्णय से यह पता नहीं चलता श्री कोथावाला पुलिस के किस श्रेणी के अधिकारी थे। इसमें संहिता की धारा ५५१ पर विचार नहीं किया गया कि गुप्त जाँच के संबंध में उसने जो कुछ बयान लिया उसे यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी छानबीन के सिलसिले में लिया गया वरन् वह केवल विभागीय जाँच के समान है। इसलिए वह निर्णय इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि हस्तक्षेप्य (काग्निज़ेबुल) अपराध के लिये सी० आई० डी० का कोई निरीक्षक (इंसपेक्टर) थानाध्यक्ष के अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकता या मजिस्ट्रेट द्वारा अधिकृत होने पर भी वह अहस्तक्षेप्य अपराध की छानबीन नही कर सकता।

यह कहा गया है कि धारा ५५१ लागू होने के लिये आवश्यक है कि 'स्थानीय क्षेत्र' (लोकल एरिया) को स्पष्ट रूप से कह दिया गया हो जिसके अंतर्गत द्वारिका सिंह को अधिकार होता किंतु यह बात मानी नहीं जा सकती कारण कि ज्योंही द्वारिका सिंह की नियुक्ति निरीक्षक पद पर हुई उसी समय यह मान लिया जायगा कि धारा ५५१ के लिये थानाध्यक्ष से ऊँचे पद पर उनकी नियुक्ति हो गई है। एक प्रयोजन विशेष के लिये उनकी विशेष प्रकार की नियुक्ति का होना आवश्यक नहीं है। सरकार के आदेश में यह स्पष्ट रूपेण दिया हुआ है कि समस्त उत्तर प्रदेश में द्वारिका सिंह का अधिकार है। सारे राज्य का स्थानीय क्षेत्र (लोकल एरिया) में आ जाना कोई गंभीर संदेह का कारण नहीं है क्योंकि ए० आई० आर० १९५२ इलाहाबाद ७० में यह निर्णय हो चुका है कि संहिता की धारा १४ के अंतर्गत स्थानीय क्षेत्र (लोकल एरिया) में समस्त राज्य आ सकता है।

राज्य की ओर से आई० एल० आर० ३५ मद्रास ३९७ पर ध्यान दिलाया गया। इस मामले में सी० आई० डी० के एक निरीक्षक को हत्या के एक मामले की छानबीन करने का काम सौंपा गया। इसके पहले इसकी कोई चर्चा नहीं थी कि यह अपराध आपराधिक षड्यंत्र के परिणाम स्वरूप हुआ किंतु छानबीन करने पर उक्त अधिकारी ने प्रतिवेदन दिया कि यह हत्या षड्यंत्र के फलस्वरूप हुई। बाद में चलकर आपराधिक षड्यंत्र (क्रिमिनल कांस्पिरेसी) के संबंध में जब अन्वीक्षा आरंभ हुई तो इसमें यह आपत्ति की गई कि आपराधिक षड्यंत्र के संबंध में जो बयान लिया गया था वह साक्ष्य अधिनियम की धारा १५७ के अंतर्गत विधिक रूप से छानबीन करने में समर्थ व्यक्ति द्वारा लिया गया बयान

नहीं है। यह प्रश्न पूर्ण न्यायासन के समक्ष निर्णय के लिये आया और बहुमत से निर्णय हुआ कि सी० आई० डी० के निरीक्षक साक्ष्य अधिनियम की धारा १५७ के अंतर्गत छानबीन करने में समर्थ व्यक्ति हैं। मद्रास सरकार की एक विज्ञप्ति दिखलाई गई जिसके अनुसार उस निरीक्षक को मद्रास प्रेसीडेंसी भर में अधिकार प्राप्त था। जब यह आपत्ति की गई कि संपूर्ण मद्रास प्रेसीडेंसी स्थानीय क्षेत्र (लोकल एरिया) में नहीं आ सकता तो इसे नहीं माना गया। इसलिए मद्रास उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायासन के न्यायाधीशों के द्वारा यहाँ राज्य के कथन का समर्थन होता है।

प्रार्थी के विरुद्ध जो कार्यवाही चल रही है वह इस आधार पर अभिखंडित नहीं की जा सकती कि द्वारिका सिंह ने बिना अधिक्षेत्र के छानबीन किया।

दूसरा प्रश्न है कि मजिस्ट्रेट ने पंजाब नेशनल बैंक को आदेश दिया था कि प्रार्थी का रुपया रोक रखें। यह आदेश दं० प्र० संहिता की धारा ५२३ के अंतर्गत प्रतीत होता है। किंतु इस धारा के अंतर्गत इस प्रकार का आदेश तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि वह धा० ५१ के अंतर्गत पकड़ (सीज) न ली गई हो। अतः दं० प्र० सं० की धारा ५२३ के अंतर्गत मजिस्ट्रेट ने जो आदेश पारित किया था वह गलत था।

तीसरा प्रश्न मजिस्ट्रेट के उस आदेश के बारे में है जिसके द्वारा प्रार्थी के नाम के समस्त पत्र, धनादेश और पार्सल आदि को रोक रखने के लिये पोस्ट मास्टर को आदेश दिया गया था। इसके लिये दं० प्र० संहिता की धारा ९४ और ९५ पर ध्यान देना है। इसके अनुसार ये वस्तुएँ आवश्यक होना चाहिए और किसी दूसरे मजिस्ट्रेट द्वारा आदेश पारित होना चाहिए।

इस मामले में इस बात पर ध्यान देना है कि बुलंदशहर के जिलाधीश ने आदेश पारित करते समय कहीं पर यह नहीं कहा है कि ये पत्र, धनादेश और पार्सल किसी छानबीन या जाँच के संबंध में आवश्यक हैं। उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि हमें सूचना मिली है कि कुछ अपराध किए गए हैं या किए जानेवाले हैं। यह स्पष्ट है कि उन्होंने इस बात पर सोचा ही नहीं कि ये पत्रादि धारा ९४ के प्रयोजन के लिये आवश्यक है कि नहीं। केवल इस कारण कि अपराध होने की सूचना उन्हें मिली इससे अनुमान नहीं लगाया जा सकता उक्त प्रयोजनों के लिये या किसी एक प्रयोजन के लिये ऐसे लेख्यों का उपस्थित किया जाना आवश्यक है।

यहाँ इस पर भी ध्यान देना है कि जिलाधीश ने स्वयं वह आदेश दिया है, किसी दूसरे मजिस्ट्रेट ने नहीं।

इस प्रश्न पर भी विचार करना है कि 'धनादेश' "लेख, पार्सल या वस्तु" (डाकूमेंट, पार्सल और थिंग) में आ सकता है कि नहीं। 'धनादेश' से यदि, धनादेश का प्रपत्र समझा जाता है तो वह न तो रुपया पानेवाले को दिया जाता है और न रुपया भेजनेवाले को। यह धनादेश प्रपत्र (मनीआर्डर फार्म) सर्वदा डाकघर में रहता है और यह डाकघर की संपत्ति है। धनादेश का मतलब यदि उस प्रपत्र पर लिखा हुआ रुपया होता है तो समझ में नहीं आता कि इसे लेख पार्सल या वस्तु कैसे कहा जा सकता है, रुपया निश्चय ही न तो लेख्य है और न पार्सल। इस रुपए को 'वस्तु' (थिंग) कहना भी सरल नहीं है क्योंकि जो जो रुपया भेजनेवाला डाकघर में भेजने के लिये देता है कि वही वही रुपया डाकघर नहीं भेजता। कुछ भी हो हमें इस प्रश्न पर यहाँ अंतिम निर्णय देने की आवश्यकता नहीं है।

अतः धारा ९५ के अंतर्गत यह आदेश सही आदेश नहीं है और इसे पारित नहीं किया जाना चाहिए था।

अतः यह प्रार्थना पत्र अंशतः सफल हो सकता है। प्रार्थी के कहने के अनुसार उसके विरुद्ध जो कार्यवाही चल रही है उसे अभिखंडित कर देना संभव नहीं है। धा० ९५ के अंतर्गत जिलाधीश ने जो आदेश दिया है और धा० ५२३ के अंतर्गत एस० डी० ओ० ने जो आदेश दिया है वे विधि के विचार से अवैध है इसलिए अभिखंडित किए जाते हैं।

प्रार्थनापत्र अंशतः स्वीकृत

———

विधि पत्रिका १९५९ इला० उच्च न्यायालय ४७

न्यायमूर्ति जगदीश सहाय

सय्यद उल्लाह खाँ— प्रार्थी

वि०

स्थायी व्यवहार न्यायाधीश, सुल्तानपुर तथा अन्य— विपक्षीगण

व्यवहार प्रकीर्णक (सिविल मिसलेनियस) लेख सं० २७०४।१९५८ दिनांक २६-१०-१९५८

पंचनिर्णय अधिनियम (आर्बिट्रेशन ऐक्ट) १९४०, धा० ३९, ४६ और ४७--उ० प्र० चकबंदी अधिनियम के अंतर्गत निर्णय (अवार्ड)--इस संबंध में अपील करने का अधिकार है अतः लेख प्रार्थनापत्र निवेशित नहीं किया जा सकता (उ० प्र० चकबंदी अधिनियम (५, १९५३), धा० १२ और ३७) (भारतीय संविधान अनुच्छेद २२६)

आदेश--

प्रार्थीगण और कुछ उत्तरवादीगण एक गाँव में काश्तकार थे जहाँ चकबंदी शुरू थी। कुछ खेतों के स्वामित्व अधिकार के बारे में उनमें झगड़ा हुआ और इसे सुल्तानपुर के व्यवहार न्यायाधीश के पास उ० प्र० चकबंदी अधिनियम की धारा १२ के अंतर्गत पंच के पास भेजने के लिये भेज दिया गया।

पंच ने अपना निर्णय प्रार्थियों के विरुद्ध दिया। उन्होंने विद्वान् व्यवहार न्यायाधीश के समक्ष आपत्ति निवेशित किया कि पंच निर्णय निराकृत कर दिया जाय। विद्वान् व्यवहार न्यायाधीश ने यह आपत्ति अस्वीकार कर दिया। इसके बाद इस न्यायालय में यह लेख प्रार्थनापत्र निवेशित किया गया है। मैं इस मामले में नोटिस जारी नहीं करना चाहता क्योंकि मेरे विचार से इस मामले में प्रार्थी को वैकल्पिक (आल्टरनेटिव) उपाय उपलब्ध है। यह अधिकार पंच निर्णय अधिनियम की धारा ३९ के अंतर्गत है।

धारा ३९ में है कि यदि पंचों के निर्णय को निराकृत करने से इनकार कर दिया जाता है तो इसके विरुद्ध अपील निवेशित की जा सकती है। इस मामले में व्यवहार न्यायाधीश ने पंचनिर्णय को निराकृत करने से इनकार कर दिया था इसलिए यदि पंच निर्णय अधिनियम के उपबंध उ० प्र० चकबंदी अधिनियम में लागू होते हैं तब निश्चय ही प्रार्थीगण अधिनियम की धा० ३९ (१) (६) के अंतर्गत अपील निवेशित कर सकते हैं। चूँकि इस विषय पर अभी तक इस न्यायालय का एक भी निर्णय नहीं हुआ है इसलिए इस बात के लिये कि ऐसे मामले में अपील की जा सकती है मैं अपना विस्तृत तर्क देता हूँ।

वर्तमान पंच निर्णय अधिनियम की धारा ४६ में यह स्पष्ट दिया हुआ है कि धा० ६ (१), ७, १२, और ३७ छोड़कर इस अधिनियम के उपबंध समस्त पंच निर्णय में लागू होंगे। यह अपवाद धा० ३९ के लिये नहीं है। इस झगड़े में जो पंच निर्णय है वह उ० प्र० चकबंदी अधिनियम के अंतर्गत है इसलिए उस अधिनियम में जो यह उपबंध है कि यह उस समय लागू किसी अन्य अधिनियम के पंच निर्णय में लागू होगा उसके अनुसार यह इस मामले भी लागू होगा।

उ० प्र० चकबंदी अधिनियम की धारा ३७ के पढ़ने से मुझे यही प्रतीत होता है कि चकबंदी अधिनियम के अंतर्गत की जानेवाली कार्यवाही में पंच निर्णय अधिनियम के उपबंध लागू होंगे। यों तो चकबंदी अधिनियम की धारा १२ (६) में दिया हुआ है कि उपधारा (४) के अंतर्गत पंच का निर्णय अंतिम होगा किंतु मेरे विचार से पंच निर्णय के अंतिम होने का मतलब यह होता है कि भारतीय पंच निर्णय अधिनियम जो इसमें लागू किया गया है उसके उपबंधों के अधीन यह अंतिम होगा। धारा १२ (६) को उ० प्र० चकबंदी अधिनियम की धारा ३७ के साथ पढ़ना चाहिए। यहाँ इस बात पर ध्यान देना है कि उ० प्र० चकबंदी अधिनियम की धारा १२ (४) के अंतर्गत पंच निर्णय का पुष्टिकरण जब तक व्यवहार न्यायाधीश नहीं कर देते तब तक वह पंच निर्णय स्वतः अंतिम नहीं हो सकता है।

चकबंदी अधिनियम की धा० १२ (४) में हैं कि निर्णय के लिये वह झगड़ा सीधे पंच के पास नहीं भेजा जा सकता। चकबंदी अधिकारी को पहले इसे व्यवहार

न्यायाधीश के समक्ष भेजना पड़ता है और उसके बाद व्यवहार न्यायाधीश इसे पंचों के पास भेजते हैं।

उ० प्र० चकबंदी अधिनियम के अंतर्गत बनाया हुआ नियम ६३ उपवाक्य ४ में है कि व्यवहार न्यायाधीश जितना आवश्यक समझें वादपद (ईशूज) बना करके पंच के पास भेज देंगे। उपवाक्य (६) और (७) में वह कार्यवाही दी हुई है जिसे पंच को करना पड़ता है। उपवाक्य (७) में है कि पंच जब अपना निर्णय दे चुकेगा तो वह इसे फिर संबंधित व्यवहार न्यायाधीश के पास भेज देगा। उपवाक्य (८) में दिया हुआ है कि न्यायाधीश को विचार करना पड़ेगा कि भारतीय पंच निर्णय अधिनियम की धारा १६ के अंतर्गत इस निर्णय को वह भेज दें या अधिनियम की धारा ३० के अंतर्गत उसे निराकृत कर दें। यदि पंच निर्णय पंच के पास भेजा जाता है तब नियम के उपवाक्य ६ के अंतर्गत पंच को फिर निर्णय देकर उसे फिर न्यायाधीश के पास भेजना पड़ता है। उपवाक्य १० में व्यवहार न्यायाधीश सहायक चकबंदी अधिकारी को कागज शुद्ध कर देने का आदेश देते हैं। धारा १२ (४) और नियम ६३ के उपबंधों से यह स्पष्ट है कि धारा १२ (६) के अंतर्गत पंच का निर्णय अंतिम केवल तभी होता है जब कि यह पंचनिर्णय न्यायालय का आदेश हो जाता है। मैंने पहले कह दिया है कि भारतीय पंच निर्णय अधिनियम के उपबंध उ० प्र० चकबंदी अधिनियम में लागू होते हैं। यह भारतीय पंच-निर्णय अधिनियम की धारा ४६ और ४७ तथा चकबंदी अधिनियम की धारा ३७ के अनुसार है। धारा ३६ के उपबंध भी उ० प्र० चकबंदी अधिनियम के अंतर्गत पंच निर्णय में लागू होते हैं। यह सच है कि अपील का अधिकार मूलभूत अधिकार होता है और इसे परिनियम द्वारा स्पष्ट रूप से दिया जाना चाहिए। मुझे प्रतीत होता है कि अपील का अधिकार भारतीय पंचनिर्णय अधिनियम तथा चकबंदी अधिनियम धारा ३७ के अंतर्गत स्पष्ट रूप से प्रदान किया गया है। यह आवश्यक नहीं है कि उ० प्र० चकबंदी अधिनियम के अंतर्गत कोई अलग से धारा रहनी चाहिए जिसमें अपील का अधिकार दिया गया हो। ऐसी अवस्था में मैं इस प्रार्थनापत्र को स्वीकार (ऐडमिट) करने में असमर्थ हूँ। तदनुसार प्रार्थनापत्र अस्वीकार किया जाता है।

—प्रार्थनापत्र अस्वीकृत

विधि पत्रिका १९५९ इलाहाबाद उच्च न्यायालय ४८

न्यायमूर्ति एन० यू० बेग

ईएक्स० एस० ए० सं० ४७३।१९५३—१० दिसंबर १९५८

मथुरा दास — डिग्रीदार अपीलकर्ता

वि०

हरिश्चंद्र तथा अन्य — निर्णीत ऋणी उत्तरवादीगण

मथुरा के अतिरिक्त व्यवहार न्यायाधीश के निर्णय और डिग्री दिनांक १३-११-५२ के विरुद्ध द्वितीय अपील

निष्पादन प्रार्थनापत्र (एक्जीक्यूशन अप्लिकेशन)– वह गलती जो प्रार्थनापत्र को विधि के अनुसार नहीं दिया हुआ बना देती है—व्याज जोड़ने गलती करना—पैरवी न करने में प्रार्थनापत्र उत्सर्जित कर देना और इस बात पर विचार न करना कि कोई गलती है कि नहीं–इसका प्रभाव

न्यायमूर्ति बेग—

यह डिग्रीदार की अपील है। यह एक निष्पादन कार्यवाही के संबंध में है। निष्पादन के लिये चौथा प्रार्थनापत्र दिया गया। इस प्रार्थनापत्र पर निर्णीत ऋणी ने आपत्ति किया कि यह कालबाधित है क्योंकि इसके पहलेवाला विधि के अनुसार प्रार्थनापत्र नहीं था। यदि इसके पहलेवाला प्रार्थनापत्र विधि के अनुसार नहीं था तब अपीलकर्ता ने यह मान लिया है कि वर्तमान प्रार्थनापत्र कालबाधित होगा। फिर भी डिग्रीदार अपीलकर्ता का कहना है कि इसके पहलेवाला प्रार्थनापत्र विधि के अनुसार था। डिग्रीदार ने प्रार्थनापत्र दिया था। और सब प्रकार से यह प्रार्थनापत्र ठीक था केवल सूद लगाने में थोड़ी गलती हो गई थी। अपीलकर्ता के विद्वान वकील का कहना है कि डिग्री में कितना सूद दिलाया गया उससे सूद कम ही लगाया गया था। यह स्तंभ ७ में था। इसके बारे में बहुत से प्रमाण हैं कि ऐसी गलती सारभूत गलती नहीं मानी जायगी।

इसमें मतभेद नहीं हैं कि राज्य विवाह के संबंध में विधान बना सकता है। इसलिए यदि विधानमंडल विचार विमर्श के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि राज्य के हित के लिए एक विवाह लाभप्रद है तो न्यायालय का काम उस निष्कर्ष पर निर्णय देना नहीं है। इसलिए यह विधान संविधान के अनुच्छेद २५ का उल्लंघन नहीं करता।

सारांश यह है कि इस अधिनियम के लागू होने के बाद कोई हिंदू जब दो विवाह करता है तो यह अपराध है और दंड संहिता की धारा ४९४ के अंतर्गत वह दंड का भागी होगा।

———

हुकुमचंद मलहोत्रा — अपीलकर्ता

वि०

भारत संघ — उत्तरवादी

ए० आई० आर० १९५९ सर्वोच्च न्यायालय ५३६

व्यवहार अपील सं० २८८।१९५८

भारतीय संविधान अनुच्छेद ३११ (२) कारण दिखलाने के लिये जो नोटिस दी गई उसमें तीनों प्रमुख दंडों की चर्चा थी—यह नोटिस बुरी नहीं है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद ३११ (२) के अंतर्गत जो युक्तिसंगत अवसर प्रदान करने की बात कही गई है उसमें निम्नलिखित बातें आती हैं : १—सरकारी नौकरों को अपने जुर्म से इनकार करने और अपनी निर्दोषिता स्थापित करने का अवसर दिया जाय २—अपनी बचत का अवसर दिया जाना और ३—इस बात के दिखलाने का अवसर दिया जाना कि प्रस्तावित दंड उसे क्यों न दिया जाय। यह केवल तभी हो सकता है जब कि कोई समर्थ अधिकारी जाँच समाप्त होने के बाद सरकारी नौकर के विरुद्ध प्रमाणित आरोप की गंभीरता पर विचार करने के बाद अस्थायी रूप से तीनों में से कोई एक दंड दिए जाने का विचार करता है और इसकी सूचना वह सरकारी नौकर को दे देता है।

यदि किसी सरकारी नौकर को उपयुक्त अवसर प्रदान किया गया है तो केवल इस बात से कि दूसरी अवस्था में जो नोटिस दी गई उसमें अनुच्छेद ३११ में दिए गए तीनों दंडों का उल्लेख था नोटिस खराब न समझी जायगी यद्यपि इसे वास्तव में जो दंड दिया गया वह सेवा से अलग करना (रिमूवल फ्राम सर्विस) था।

यह कहना कि अनुच्छेद ३११ (२) का मतलब यह होता है कि प्रत्येक अवस्था में दूसरी बार कारण दिखलाने के लिये जो नोटिस दी जाती है उसमें सरकारी नौकर को जो दंड दिया जानेवाला है ठीक उस दंड को लिख देना चाहिए सही प्रतीत नहीं होता। ३११ (२) में दूसरी नोटिस देने का मतलब यह होता है कि सरकारी नौकर को यह दिखलाने का अवसर प्रदान करना चाहिए कि उसे प्रस्तावित दंड क्यों न दिया जाय, उदाहरणार्थ यदि प्रस्तावित दंड पदच्युति (डिसमिसल) है तो उक्त सरकारी नौकर को यह अवसर रहता है कि अपने प्रतिनिवेदन में वह यह कह सके कि यों तो उसके विरुद्ध आक्षेप प्रमाणित हो चुके हैं तब भी उसे पदच्युति का सबसे कड़ा दंड नहीं मिलना चाहिए किंतु उसे कम सजा जैसे उस श्रेणी से हटाना या श्रेणी से कम करनेवाला दंड मिलना चाहिए। यदि दंड देनेवाले अधिकारी के लिये यह अनिवार्य होता कि दूसरी नोटिस में वही दंड लिखे जो उसे देना है तब सरकार उस नौकर के प्रतिवेदन को यदि स्वीकार कर लेती है तो ऐसी अवस्था में तीसरी नोटिस देने की आवश्यकता पड़ेगी। यदि ऐसी बात होगी तो जिस बात के लिये दूसरी नोटिस जारी की गई है उसके यह सर्वथा विपरीत पड़ेगी।

जब दंड देनेवाला अधिकारी अस्थायी रूप से इस विचार का हो जाता है कि सरकारी नौकर के विरुद्ध जो आरोप लगाए गए हैं वे प्रमाणित हो चुके हैं और इस आधार पर वह तीनों प्रमुख दंडों में से किसी एक दंड का भागी है तथा इसी आधार पर यदि वह कारण दिखलानेवाली नोटिस में पूछता है कि उसे विकल्पतः तीनों दंडों में से कोई एक दंड क्यों न दिया जाय तो इसमें कोई गलती नहीं है। विकल्पतः एक से अधिक दंडों को दिखलाना प्रस्तावित कार्यवाही को ऐसा नहीं है कि निश्चित नहीं होने देता वरन् इसके विपरीत सरकारी

नौकर को कारण दिखलाने का यह और अच्छा अवसर प्रदान करता है क्योंकि उन दंडों में से प्रत्येक के विरुद्ध वह कारण दिखला सकता है। यदि उसमें सबसे कड़ा दंड लिखा होता और वास्तव में उसे वह दंड दिया गया होता जो नोटिस में लिखा नहीं है तब उसे उपर्युक्त अवसर नहीं मिलता।

भारतीय संविधान अनुच्छेद ३११ (२) आदेश में अयथार्थ निर्देश होने का प्रभाव

जब किसी सरकारी नौकर के विरुद्ध जाँच का आधार और उसे सेवा से हटाने का आदेश सब कुछ इसी आधार पर था कि उसने वैयक्तिक (प्राइवेट) नौकरी कर ली है और ऐसी नियुक्ति में उसने सरकार की अनुमति नहीं ली तब यदि गलती से सेवा से हटानेवाला आदेश दूसरे नियम के अंतर्गत हुआ तो निर्देश की यह गलती इतनी महत्व की नहीं है कि उसके विरुद्ध पारित आदेश की वैधता पर प्रभाव डाल दे।

भानु — प्रार्थी

वि०

डालमियाँ ऐंड कंपनी, जुनरदेव तथा अन्य-विपक्षी

ए० आई० आर० १९१९ मध्य प्रदेश १६६

व्यवहार पुनरीक्षण सं० २०१। १९५७ दिनांक २३-६-१९५८

व्यवहार प्रक्रिया संहिता (१९०८) आ० ३३ नि० ७ और धा० १४९—निर्धन प्रार्थनापत्र (पापर अप्लिकेशन) अस्वीकृत हो जाने पर अवधि-आरंभिक अवधि बीत चुकने पर इसके आगे समय बढ़ाने की अनुमति दी जा सकती है कि नहीं।

निर्धन रूप में मुकदमा चलाने के लिये न्यायालय के समक्ष दो चीजें रहती हैं? १—वादपत्र और २—निर्धन रूप में मुकदमा चलाने के लिये प्रार्थना पत्र। प्रार्थना पत्र के उत्सर्जित हो जाने पर भी वादपत्र रहता है और न्यायालय शुल्क देने के लिये यदि समय दिया जाता है और न्यायालय शुल्क दे दिया जाता है तब जिस दिन वादपत्र निवेशित किया गया था उस दिन से वादपत्र ठीक रहता है। यह न्यायालय की परंपरा मात्र नहीं है वरन् इस न्यायालय का यह निश्चित सिद्धांत हो चुका है।

जो समयावधि निर्धारित हो चुकी है उसे बढ़ाने के लिये पर्याप्त कारण दिखलाना चाहिए। यह सिद्धांत अब न्यायालय का एक निश्चित विधि हो चुका है।

साधूराम — प्रार्थी

वि०

मु० अमर कौर तथा अन्य — उत्तरवादीगण

ए० आई० आर० १९५९ पंजाब २२८

गुरुदासपुर के जिला और सत्र न्यायाधीश के आदेश दिनांक २८-१०-१९५८ से आपराधिक पुनरीक्षण सं० १३७८। १९५८

दंड प्रक्रिया संहिता (१८९८) धारा २०५, ३४२ और ५४० ए०—अभियुक्त की व्यक्तिगत उपस्थिति यदि क्षमा कर दी गई है तो भी धारा ३४२ के अंतर्गत परीक्षण के लिये उसका हाजिर होना आवश्यक है।

दं० प्र० संहिता की धारा ३४२ का अभिप्राय यह है कि यह अभियुक्त के लिये व्यक्तिगत रूप में लागू होती है और उस अवस्था में भी जब कि साधारणतया धा० २०५ के अंतर्गत अभियुक्त की हाजिरी माफ कर दी गई है अभियोजन साक्ष्य के समाप्त होने पर उन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये जिनका पूछना न्यायालय के लिये अनिवार्य है उसका न्यायालय में स्वयं उपस्थित होना आवश्यक है।

धारा ३४२ का उपबंध अधिदेशक (मैंडेटरी) है इसलिए यह धारा २०५ के विवेक पर निर्भर करनेवाले उपबंध को दबा देता है।

धारा ३४२ के अंतर्गत न्यायालय को जो किसी समय अभियुक्त से कोई प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया है उसके अतिरिक्त अभियोजन साक्ष्य के समाप्त होने पर अभियुक्त से पूरा प्रश्न करना न्यायालय के लिए अनिवार्य होता है और उस अवस्था में जब कि अभियुक्त की

हाजिरी धा० २०५ या धा० ५४० ए० के अंतर्गत माफ रहती है यदि यह उपबंध लागू न होता तो समझ में नहीं आता कि स्पष्ट रूप से धारा में परंतुक (प्राविजो) के रूप में अपवाद क्यों न रहता।

राजुलपति सोमिया तथा अन्य अपीलकर्तागण
वि०
राजुलपति रातम्मा तथा अन्य उत्तरवादीगण

ए० आई० आर० १९५९ आंध्र प्रदेश २४

मछलीपट्टम के उप न्यायाधीश की डिग्री दिनांक ४-३-१९५४ के विरुद्ध अपील संख्या ६८६। १९५४ दिनांक २२-६-१९५८

अ - हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम (१९५६) धा० १४, १५-अतीत प्रभावी होने की सीमा-प्रत्यावर्ती (रिवर्सनर्स) का अधिकार कहाँ तक समाप्त किया जा चुका है— हिंदू विधवा ने जो दत्तक ग्रहण (एडाप्शन) लिया उसकी वैधता पर आपत्ति करने के लिये प्रत्यावर्तियों ने जब इस अधिनियम के पहले वाद निवेशित किया तो वह वाद अधिनियम के बाद चालू रहेगा कि नहीं।

दत्तक ग्रहण की वैधता पर आपत्ति करने के लिये निकटतम प्रत्यावर्तियों द्वारा मुकदमा यदि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम के लागू होने के पहले दाखिल किया गया और उस आपत्ति का आधार यह था कि वादीगण निकटतम सपिंड थे किंतु दत्तक ग्रहण के लिये विधवा ने उनकी स्वीकृति नहीं लिया तो ऐसे मुकदमे में न्यायालय यदि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि विधवा ने उन लोगों की स्वीकृति लिया और यह स्वीकृति विधि के विचार से पर्याप्त थी तो तत्व पर वाद उत्सर्जित हो जायगा। दूसरी स्थिति में विधवा द्वारा दत्तक ग्रहण पति की अनुमति के बिना या उसके मरने पर उसके निकटतम सपिंडों की अनुमति के न रहने से यदि दत्तक ग्रहण अवैध हो जाता है तब विधि के अंतर्गत समझा यह जायगा कि विधवा अपने पति की संपदा के धारण में है कारण कि ऐसी स्थिति में वह संपदा गोद लिए हुए पुत्र में निहित नहीं होगी। ऐसी परिस्थिति में अधिनयम की धारा १४ (१) इस संपत्ति में लागू होती है और चूँकि यह उसकी संपूर्ण संपदा हो जाती है इसलिए प्रत्यावर्तन (रिवर्सन) का प्रश्न पैदा नहीं होता और मुकदमा संधार्य (मेनटेनबुल) नहीं हो सकता। इन सब काप रिणाम यह होता है कि दत्तक ग्रहण वैध हो या अवैध प्रत्यावर्तीगण (रिवर्सनर्स) असफल अवश्य होंगे।

धारा १४ और १५ का अर्थ यह होता है कि धा० १४ (१) का संबंध केवल उस संपत्ति से होता है जिसे कोई हिंदू स्त्री धारण किए हुए हो (पोजेस्ड)। इससे कोई मतलब नहीं कि अधिनियम के प्रारंभ होने के पहले उसने इसे प्राप्त किया है या बाद में। उपधारा (२) के अंतर्गत अवश्य कुछ संपत्ति इससे परे रखी गई है जिसमें वह संपत्ति है जो दान या इच्छा पत्र द्वारा प्राप्त की गई है या किसी अन्य संलेख (इंस्ट्रूमेंट) के अंतर्गत प्राप्त की गई है या वह व्यवहार न्यायालय की किसी डिग्री के अंतर्गत या किसी पंच निर्णय के अंतर्गत प्राप्त की गई है तथा दान, इच्छापत्र या अन्य संलेख या डिग्री या पंच निर्णय की शर्तों के अनुसार उसे ऐसी संपत्ति में केवल सीमित अधिकार प्रदान किया गया है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की संपत्ति की स्वामिनी वह हिंदू स्त्री एक सीमित स्वामिनी के रूप में रहती है। ऐसी संपत्ति में अभिधारणा यह रहती है कि वही पुराना नियम लागू रहेगा। धारा १५ में कोई बात ऐसी नहीं कही गई है कि जिसका प्रभाव यह हो कि पुराना नियम लागू होने से केवल इन्हीं संपत्तियों में रोका गया हो वरन् उस संपत्ति में जिसे हिंदू विधवा ने अधिनियम के प्रारंभण में प्राप्त किया हो किंतु उसका धारण उसने खो दिया है और अब वह धारण पा नहीं सकती।

हिंदू विधवा द्वारा इस अधिनियम के प्रारंभण के पहले का दत्तक ग्रहण जब अवैध हो जाता है तब इसकी अवैधता कुछ तथ्यों के न रहने के कारण होती है जिनका रहना विधि के अंतर्गत आवश्यक होता है और जब तक पहले उन शर्तों का पालन नहीं हो जाता तब तक दत्तक ग्रहण वैध नहीं हो सकता जैसे पति द्वारा अधिकृत होना या निकटतम सपिंडों की अनुमति पाना। यदि विधवा दत्तक लिए जानेवाले पुत्र से या उसके पिता से यह कहे

कि हमें ऐसा अधिकार प्राप्त हुआ है जब कि वास्तव में उसे कोई अधिकार नहीं है और ऐसे प्रतिनिवेदन (रिप्रजेंटेशन) के आधार पर दत्तक ग्रहण किए पुत्र की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन कर देती है तब वह व्यक्तिगत रूप से प्रतिष्टंभ (इस्टापेल) के सिद्धांत के अनुसार दत्तक ग्रहण की वैधता पर आपत्ति नहीं कर सकती और कम से कम संपत्ति का जो हिस्सा उसके धारण में है उसके बारे में समझा यह जायगा कि वह दत्तक ग्रहण किए पुत्र के धारण में चली गई है। जिस संपत्ति के बारे में विधि के अनुसार समझा यह गया है कि वह दत्तक ग्रहण किए हुए पुत्र के धारण में चली गई है वह संपत्ति विधवा के मरने पर विधवा की संपत्ति के रूप में उत्तराधिकार क्रम में नहीं आ सकती, उस संपत्ति के बारे में जिस पर उसका हिंदू स्त्री के संपत्ति अधिकार अधिनियम के अंतर्गत अधिकार चाहे जैसा हो। उस संपत्ति के बारे में जहाँ तक उसका संबंध है समझा जायगा कि वह विधवा के धारण के बाहर जा चुकी है और उसके मृतक पति की संपदा का अभी भी एक हिस्सा है और आज के विधि के अंतर्गत भी प्रत्यावर्तीगण को यह अधिकार होगा कि वे इसके पाने का दावा इस आधार पर करें कि विधवा द्वारा दत्तक ग्रहण अवैध है और जो संपत्ति दत्तक ग्रहण किए हुए पुत्र के धारण में है धारा १४ के अंतर्गत विधवा उसकी पूर्ण स्वामिनी नहीं हुई। उस स्थिति में जब कि दत्तक ग्रहण पूर्णरूपेण अवैध हो जाता है जैसे जब कि कोई दत्तहोम नहीं हुआ और इसका होना आवश्यक था तब माना जायगा कि अवैध दत्तक ग्रहण के रहते हुए भी विधवा अपने पति की संपूर्ण संपदा के धारण में है। ऐसी परिस्थिति में पहले धारा १४ लागू होगी और उसके मरने पर धारा १५। इसी प्रकार का नियम अध्यर्पण (सरेंडर) में लागू होगा।

यह कहना गलत है कि हिंदू विधि में जिन्हें प्रत्यावर्तीगण (रिवर्सनर्स) कहा गया है उनका वर्ग ही धारा १५ के कारण समाप्त हो गया। यह बात अवश्य है कि हिंदू स्त्री की उस संपत्ति के बारे में जिसे वह बिना इच्छा पत्र लिखे मर गई है प्रत्यावर्तीगण नहीं रह गए हैं किंतु उस संपत्ति के बारे में जिसे हिंदू स्त्री ने उत्तराधिकार में प्राप्त किया है और जिसका उसने धारण छोड़ दिया है (वास्तविक धारण के ही अभिप्राय में नहीं वरन् धारण प्राप्त करने के अधिकार के संबंध में) धारा १४ इन संपत्तियों के बारे में लागू नहीं होती और उस संपत्ति के बारे में अधिनियम के प्रारंभण के बाद भी वही कानूनी स्थिति होती है जो कि पहले थी। ऐसी संपत्ति के बारे में पुराने नियम लागू होते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष या ध्वनितार्थ में वे लागू नहीं किए गए हैं।

हिंदू विधि—दत्तक ग्रहण—निकटतम सपिंडों की अनुमति—वैधता।

विधवा के लिये यों तो यह आवश्यक है कि निकटतम सपिंडों में से सभी की अनुमति प्राप्त कर ली जाय किंतु जहाँ पर केवल दो सपिंड हैं और एक ने अवैध रूप से अनुमति देने में इनकार दिया है तो दूसरे की ही संमति पर्याप्त है।

———

मेजर जनरल शांता शमशेर जंग बहादुर राना—वादी
वि०
कामिनी ब्रदर्स प्राइवेट लिमिटेड तथा अन्य—प्रतिवादीगण

ए० आई० आर० १९५९ बंबई २०१
वाद सं० ३००।१९५५, दिनांक ६-१-१९५८

क—विशिष्ट साहाय्य अधिनियम (स्पेसिफिक रिलीफ ऐक्ट) १८७७, धा० ४२, ५४—विधिक प्रकृति (लीगल कैरेक्टर) किसे कहते हैं—कंपनी का प्रबंधकारी संचालन क्या विधिक प्रकृति का होता है—घोषणा के लिये वाद की संधार्यता (मेनटेनेबिलिटी)—वादी के अधिकार में हस्तक्षेप करने से कंपनी को रोकने लिये निषेधाज्ञा

विशिष्ट साहाय्य अधिनियम की धारा ४२ उस समय लागू होती है जब कि कोई व्यक्ति किसी विधिक प्रकृति या संपत्ति के किसी अधिकार का अधिकारी होता है। 'विधिक प्रकृति' (लीगल कैरेक्टर) दो परिनियमों में प्रयुक्त हुआ है, एक विशिष्ट साहाय्य अधिनियम की धारा ४२

में और दूसरा साक्ष्य अधिनियम की धारा ४१ में किंतु इन दोनों में से किसी भी धारा में इस पद की परिभाषा नहीं दी गई है ऐसा निर्णय नहीं हुआ है जिसमें 'विधिक प्रकृति' की परिभाषा दी गई हो या उसमें कोई सिद्धांत निर्धारित किया गया हो जिसके अनुसार उसका निश्चय किया जा सके।

धारा ४२ में विधिक प्रकृति (लीगल कैरेक्टर) तथा किसी संपत्ति के बारे में घोषणा करने के बारे में दिया हुआ है। विधिक प्रकृति और किसी संपत्ति के बारे में अधिकार ये दो श्रेणियाँ अलग अलग दिखलाई गई हैं इसलिए निश्चय ही ये दोनों भिन्न तथा अपना अलग अभिप्राय रखती हैं। धारा ४२ में घोषणात्मक डिग्री के बारे में उपबंध है जिसका मतलब होता है किसी व्यक्ति के अधिकार की घोषणा करनेवाली डिग्री और इस अधिकार का मतलब होता है विधिक अधिकार (लीगल राइट्स)। इसलिए यह प्रतीत होता है कि धारा ४२ में जो दो प्रकार की श्रेणियाँ बतलाई गई हैं वे एक ही वर्ण अर्थात् 'विधिक अधिकार' की दो जातियाँ हैं। कुछ भी हो 'विधिक प्रकृति' (लीगल कैरेक्टर) विधि शास्त्र में सामान्यतः प्रयुक्त नहीं हुआ है, यह परिनियमों में भी प्रयुक्त नहीं हुआ है केवल विशिष्ट साहाय्य अधिनियम की धारा ४२ में और साक्ष्य अधिनियम की धारा ४१ में इस पद का प्रयोग हुआ है।

'विधिक प्रकृति' का प्रयोग 'विधिक स्थिति' (लीगल स्टेट्स) के अर्थ में किया गया है जो कि विधि शास्त्र में प्रचलित है। विधान मंडल ने जब उपर्युक्त दोनों धाराओं में 'विधिक प्रकृति' पद का प्रयोग किया तब इसे मान लेना उचित है कि विधान मंडल ने उसका प्रयोग किसी सुपरिचित विधिक धारणा के अर्थ में किया और विशिष्ट साहाय्य अधिनियम की धारा ४२ के प्रसंग से पता चलता है कि 'विधिक प्रकृति' (लीगल कैरेक्टर) का अर्थ वही होता है जो विधिक स्थिति (लीगल स्टेट्स) का होता है। यह जान लेना आवश्यक है कि 'अधिकार' (राइट्स) 'विधिक अधिकार' (लीगल राइट्स) और 'विधिक स्थिति' (लीगल स्टेट्स) का अर्थ क्या होता है।

सालमंड के कथनानुसार 'अधिकार' (ए राइट) एक हित (इंटरेस्ट) होता है जो अधिकार के नियम द्वारा मान्य एवं संरक्षित है। यह एक ऐसा हित है जिसका संमान करना कर्तव्य होता है और जिसकी अवहेलना करना एक गलती है।

हालैंड के कथनानुसार 'अधिकार' किसी व्यक्ति की उस क्षमता को कहते हैं जो किसी दूसरे के अधिकार पर प्रभाव डालती है और ऐसा वह अपनी निजी ताकत के बल पर नहीं वरन् समाज की राय से या समाज के बल पर करता है।

सालमंड और हालैंड दोनों के कहने के अनुसार प्रत्येक हित या अधिकार जो राज्य द्वारा अर्थात् राज्य के विधि द्वारा मान्य और संरक्षित है वह विधिक अधिकार होता है और ऐसे प्रत्येक विधिक अधिकार में एक विधिक बंधन होता है।

विधिक अधिकार या तो स्वामित्व जन्य (प्रोप्राइटरी) अर्थात् संपत्ति की प्रकृति का होता है या व्यक्तिगत होता है और बादवाला यही व्यक्तिगत विधिक अधिकार स्थिति (स्टेट्स) बनाता है।

किसी विधिक अधिकार का वर्गीकरण व्यक्तिगत अधिकार में किया जा सकता है और यह उसकी सामाजिक स्थिति (स्टेट्स) होती है। यह स्वामित्व अधिकार से तब भिन्न होता है जब कि स्वतः कार्य की प्रकृति से निरपेक्ष यह किसी वस्तु से पैदा होनेवाले व्यक्तित्व विशेष से होता है और जिसे संलग्न व्यक्ति (परसन आफ इनहरेंस) आपात व्यक्ति (परसन आफ इंसिडेंस) के विरुद्ध लागू कर सकता है। व्यक्ति संबंधी विधि में जिस व्यक्तित्व को मान्यता दी गई है वह ऐसा है कि उस विधिक संबंध में अनिश्चयात्मक परिवर्तन कर देता है जिसमें वह व्यक्ति उस व्यक्तित्व के साथ प्रवेश करता है। इस प्रकार यह विधिक स्थिति विशिष्ट साहाय्य अधिनियम की धारा ४२ में प्रयुक्त 'विधिक प्रकृति' की कसौटी है।

विधि का क्षेत्र स्वतः व्यक्तिगत विधि (प्राइवेट ला) अर्थात् वह विधि जो एक प्रजा और दूसरी प्रजा के बीच अधिकारों का विनियमन करता है और लोक विधि (पब्लिक ला) अर्थात् जो राज्य और उसकी प्रजा के

बीच अधिकारों का विनियमन करता है, इसकी तीसरी शाखा अंताराष्ट्रिय विधि (इंटरनेशनल ला) है। 'स्थिति' (स्टेट्स) के अर्थ पर हम इस समय विचार नहीं कर रहे हैं। वस्तुओं की विधि (ला आफ थिंग्स) के विपरीत व्यक्तिगत विधि (ला आफ परसंस) है और वही 'स्थिति' (स्टेट्स) का निर्माण करता है।

व्यक्तियों के विधि में और वस्तुओं के विधि में अथवा 'सामान्य' (नार्मल) और 'असामान्य' (ऐब्नार्मल) व्यक्तियों में जो अंतर होता है उसकी सूक्ष्म परिभाषा लोक विधि में न देकर केवल व्यक्तिगत विधि में दी गई है।

किसी प्रजा की सामाजिक स्थिति व्यक्तिगत विधि के संबंध में और लोक विधि के संबंध में पैदा हो सकती है। किसी व्यक्ति का मताधिकार या किसी सार्वजनिक पद पर रहने का अधिकार लोक विधि के संबंध में सामाजिक स्थिति का निर्माण करता है।

'स्थिति' (स्टेट्स) संलग्न व्यक्ति (परसन आफ इनहरेंस) या आपात व्यक्ति (परसन आफ इंसिडेंस) की कुछ विशेषताओं से पैदा होती है। 'व्यक्ति' स्वाभाविक व्यक्ति जैसे मनुष्य हो सकता है या वह कृत्रिम व्यक्ति जैसे कंपनी इत्यादि हो सकता है। कृत्रिम व्यक्ति का व्यक्तित्व सामान्य और स्वाभाविक व्यक्ति से भिन्न होता है और यही उस व्यक्ति की कानूनी सामाजिक स्थिति का निर्माण करती है।

धारा ४२ में प्रयुक्त 'विधिक प्रकृति' शब्द 'विधिक स्थिति' के समान है और विधिक स्थिति एक विधिक अधिकार होता है जब कि इसमें व्यक्तित्व की एक विशेषता होती है जो स्वयं कार्य की प्रकृति से असंबद्ध किसी वस्तु से पैदा होता है और जिसे संलग्न व्यक्ति (परसन आफ इंसिडेंस) आपात व्यक्ति (परसन आफ इंसिडेंस) के विरुद्ध लागू कर सकता है।

कंपनी अधिनियम १९५६ की धारा २ (२६) के अंतर्गत कोई संचालक प्रबंधकारी संचालक तब होता है जब कि उसे प्रबंध करने का अधिकार दिया रहता है। प्रबंध करने का यह अधिकार कंपनी से किसी संविद् के आधार पर हो सकता है या सामान्य समिति में कंपनी द्वारा पास किए हुए प्रस्ताव द्वारा हो सकता है या संचालकों के बोर्ड द्वारा यह अधिकार दिया जा सकता है या स्मृति पत्र द्वारा या संघ नियम (आर्टिकिल्स आफ असोसिएसंस) द्वारा यह अधिकार दिया जा सकता है। कंपनी अधिनियम में प्रबंधकारी संचालक की जो परिभाषा दी गई है उस आधार पर पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि 'संलग्न व्यक्ति' (परसन आफ इनहरेंस) कौन है, 'कार्य' जैसे अधिकार कौन सा है और 'आपात व्यक्ति' (परसन आफ इंसिडेंस) कौन सा है। प्रबंधकारी संचालक ही 'संलग्न व्यक्ति' है। यही वह व्यक्ति है जो प्रबंधकारी संचालक होने के नाते अपने लिये कुछ अधिकारों का दावा करता है। 'कार्य' जैसे अधिकार वे शक्तियाँ हैं जो जैसा उपर्युक्त परिभाष में दिया हुआ है प्रबंधकारी संचालक को सौंपा गया है। कंपनी ही आपात व्यक्ति (परसन आफ इंसिडेंस) है अर्थात् इसी के विरुद्ध प्रबंधकारी संचालक को अधिकार और शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। ऐसा हो सकता है कि कंपनी ही नहीं वरन् सहसंचालकगण भी कदाचित् आपात व्यक्ति की श्रेणी में आ सकते हैं।

प्रबंधकारी संचालक को जो भी अधिकार और शक्तियाँ प्राप्त हैं वे उस विशेष कार्य के सौंपने के कारण हैं। विशेष प्रकार से सौंपा हुआ वह कार्य या संविद् विशेष या प्रस्ताव या स्मृतिपत्र या संघ के नियम जो धारा २ (२६) में है पूरे तौर से प्रबंधकारी संचालक की शक्ति या अधिकार की प्रकृति और उसकी सीमा का निर्धारण करता है।

प्रबंधकारी संचालक के व्यक्तित्व में कोई विशेषता संचालक के नाते उक्त शक्तियों या अधिकारों से असंबंधित या उससे स्वतंत्र नहीं है। इसलिए संभवतः कोई ऐसा विधिक अधिकार प्रबंधकारी संचालक नहीं रख सकता जिसमें व्यक्तित्व की ऐसी विशेषता वर्तमान हो जो स्वतः अधिकार और शक्ति निरपेक्ष हो और जिसे प्रबंधकारी संचालक कंपनी के विरुद्ध या अपने सह संचालकों के विरुद्ध लागू कर सकता हो। प्रबंधकारी संचालक की स्थिति पूर्णरूपेण पत्नी या अवयस्क की सी नहीं है।

जो अधिकार उसे प्रदान किया गया है उससे स्वतंत्र उसकी कोई विशेषता या विधिक स्थिति नहीं है जो उसके अधिकार और उसकी शक्तियों पर प्रभाव डालती हो या उसमें परिवर्तन करती हो। इसलिए प्रबंधकारी संचालक को यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी कोई विधिक स्थिति (लीगल स्टेट्स) है। हालैंड ने जो १६ प्रकार की विधिक स्थितियों (लीगट स्टेटस) को उदाहरण में गिनाया है उसके ८ वें में 'श्रेणी, जाति और कार्याधिकारी की स्थिति (आफिशियल पोजिशन)' है। किंतु हालैंड द्वारा गिनाए गए उन १६ प्रकार की स्थितियों को समझने के लिये हालैंड द्वारा निर्धारित सामान्य सिद्धांतों को समझ लेना आवश्यक है क्योंकि इसी के प्रकाश में वे निर्धारित हैं। यदि ऐसा नहीं होगा तो कुछ प्रकार की स्थितियों में कुछ गड़बड़ी हो सकती है। प्रबंधकारी संचालन 'कार्याधिकारी स्थिति' (आफिशियल पोजीशन) या 'पद' (आफिस) में नहीं आ सकता जिसकी गणना ८ वें प्रकार में की गई है। अधिकारों का दावा जब संविदा के आधार पर किया जाता है तब धारा ४२ के अंतर्गत वह 'विधिक प्रकृति' (लीगल कैरेक्टर) नहीं हो सकता। 'विधिक प्रकृति' का निर्धारण न तो इसी प्रश्न के आधार पर हो सकता है कि उस विशेष मुकदमे का निर्णय सर्व बंधक (जजमेंट इन रेम) होता है क्योंकि अधिकारों का विभाजन सर्वबंधक अधिकार और व्यक्ति बंधक अधिकार में जो किया गया वह विधिक प्रकृति का निश्चय करने के लिये सर्वथा निरर्थक है। विधिक प्रकृति के निर्णय के लिये किसी संपत्ति का स्वामी होना या स्वामी न होना भी कोई आधार नहीं है। संलग्न व्यक्ति के व्यक्तित्व की विशेषता ही विधिक प्रकृति का निर्णय करती है संपत्ति के स्वामित्व का होना या उसका न होना इसके लिये कोई मतलब नहीं रखता।

इस प्रकार प्रबंधकारी संचालक धारा ४२ के अंतर्गत किसी विधिक प्रकृति का अधिकारी नहीं है। इसलिए वह इस घोषणा का अधिकारी नहीं है कि वह अभी भी प्रबंधकारी संचालक चला आता है और ऐसे प्रबंधकारी संचालक के रूप में उसे काम करने का अधिकार है तथा इस पद से वह समस्त अधिकारों और कर्तव्यों का प्रयोग कर सकता है। क्योंकि यह घोषणा इस आधार पर की जा सकती है कि वादी विधिक प्रकृति का अधिकारी है जैसे वह कंपनी का प्रबंधकारी संचालक है और इस विधिक प्रकृति को वह अभी भी धारण किए हुए है।

(यदि यह मान भी लिया जाय कि वह विधिक प्रकृति है तब भी वह इस प्रकार की घोषणा नहीं पा सकता कारण कि न्यायालय ऐसी घोषणा नहीं देता जो कार्यान्वित ही नहीं हो सके अर्थात् कंपनी अपनी साधारण समिति में इसे नकार सके।)

एक बार जब यह तय हो जाता है कि वादी उपर्युक्त घोषणा नहीं कर सकता क्योंकि उसे किसी विधिक प्रकृति का अधिकार नहीं है तब उसने जो निषेधाज्ञा (इंजंक्शन) की प्रार्थना की है वह भी नहीं प्रदान की जा सकती।

विशिष्ट साहाय्य अधिनियम (१८७७) धारा ४२—वादी कंपनी का हिस्सेदार नहीं है—एक प्रस्ताव द्वारा वह एक संयुक्त प्रबंधकारी संचालक नियुक्त किया गया – कंपनी ने यदि उसे हटा दिया—इस घोषणा के लिये वाद निवेशित किया जाना कि उसका उस पद से हटाना विधि विरुद्ध है तथा उक्त प्रस्ताव शक्ति परस्तात् (अल्ट्रावारस) है—उसके प्रमाण की प्रकृति—वादी संघ नियम पर निर्भर नहीं कर सकता—निर्णय हुआ कि वादी इस घोषणा का अधिकारी नहीं है—(कंपनी अधिनियम (१९५६) धा० २ (२६) और (३६)

धारा ४२ के अंतर्गत वादी, जो लोग उसकी विधिक प्रकृति को इनकार करते हैं उसके विरुद्ध घोषणा के लिये वाद निवेशित कर सकता है।

वादी जब हिस्सेदार नहीं है यदि इस घोषणा के लिये वाद निवेशित करता है कि कंपनी के संयुक्त संचालक के पद से हटाया जानेवाला कंपनी का प्रस्ताव शक्ति परस्तात् है तो वादी को यह प्रमाणित करना पड़ेगा कि वाद निवेशित करने के दिन वह विधिक प्रकृति का अधिकारी था। इसलिए वादी को प्रमाणित करना चाहिए कि वादी संयुक्त प्रबंधकारी संचालक के पद पर वैध रूप से नियुक्त है (यह मानकर कि संयुक्त प्रबंधकारी

संचालन विधिक प्रकृति का है) और वाद की तिथि को वादी प्रबंधकारी संचालक के पद पर था। वादी की नियुक्ति उस समय प्रमाणित नहीं करना चाहिए जब कि यह नियुक्ति स्वतः स्वीकार कर ली गई हो किंतु केवल ऐसी स्वीकृति द्वारा केवल यह स्थापित करना कि वादी इस प्रकार नियुक्त है पर्याप्त नहीं है। यदि ऐसी नियुक्ति वादी को विधिक प्रकृति प्रदान करती है तो वादी को ऐसी विधिक प्रकृति का लक्षण प्रमाणित करना चाहिए और यह प्रमाण इस नियुक्ति की प्रकृति को स्थापित करके दिया जा सकता है जिसमें और बातों के साथ साथ यह रहना चाहिए कि यह नियुक्ति किस प्रकार समाप्त की जा सकती है। जब वादी अपनी विधिक प्रकृति को सब प्रकार से स्थापित कर देता है जिसमें नियुक्ति समाप्त करने की शर्त भी है तब प्रतिवादी कंपनी को यह प्रमाणित करना होगा कि वादी को उचित ढंग पर हटाया गया है। उदाहरण के लिये वादी यदि यह कहता है कि उसको कंपनी की साधारण समिति में एकमात्र विशेष प्रस्ताव द्वारा ही हटाया जा सकता है केवल तभी कंपनी के लिये यह प्रमाणित करना आवश्यक होगा कि उक्त प्रकार का प्रस्ताव विशेष पारित हुआ और उसके लिये सभी शर्तों को पूरा किया गया है। तथाकथित विधिक प्रकृति को प्रमाणित करने के लिये वादी को ही और बातों के साथ साथ यह दिखलाना पड़ेगा कि यह नियुक्ति क्या समाप्त की जा सकती थी, और यदि समाप्त की जा सकती थी तो किस प्रकार और इस बात को प्रमाणित करने के लिये वादी को कंपनी के नियमों पर निर्भर करना चाहिए।

किंतु वादी जब प्रतिवादी कंपनी का सदस्य नहीं है तो वह प्रतिवादी कंपनी के नियमों पर निर्भर नहीं कर सकता। और भी, वादी का वादमूल उसके और प्रथम प्रतिवादी कंपनी के बीच किसी उपलक्षित संविदा पर भी आधारित नहीं था इसलिए कंपनी की नियमावली उसके और कंपनी के बीच ध्वनितार्थ में कोई संविदा नहीं बनाता था। इसलिए वादी कंपनी की नियमावली पर निर्भर नहीं कर सकता और इस प्रकार की घोषणा पाने का वह अधिकारी नहीं है।

सार्वजनिक कोआपरेटिव बैंक लिमिटेड—अपीलकर्ता
वि०
पार्वती आपाना पिलई　—　उत्तरवादी

ए० आई० आर० १९५९ केरल १३३
ए० एस० सं० ३०४।१९५४ (ई०) दिनांक २८-१०-१९५७

व्यवहार प्रक्रिया संहिता (१९०८) आ० ९ नि० ९-वादी ने प्रतिवादी सं० १ को अधिकार प्रदान किया-प्रतिवादी सं० १ का वादी के रूप में स्थित करने और मुकदमा जारी रखने का प्रार्थनापत्र दिया जाना-प्रतिवादी सं० २ द्वारा इस प्रार्थनापत्र पर आपत्ति किया जाना-वाद का उत्सर्जित होना-प्रतिवादी सं० १ द्वारा मुकदमा दाखिल करना—प्रतिवादी सं० २ इस पर बाधित होने (बार्ड) की आपत्ति नहीं कर सकता—प्रतिष्टम (इस्टापेल)—(साक्ष्य अधिनियम) (१८७२, धारा ११५)

द्वितीय उत्तरवादी ब से संपत्ति वापस पाने के लिये अ ने एक मुकदमा दाखिल किया। क रीत्यानुसार (प्रोफार्मा) प्रथम उत्तरवादी बनाया गया था। वाद जब विचाराधीन था उसी समय अ ने अपना हित (इंटरेस्ट) क को हस्तांरित कर दिया और इसके बाद क ने अतिरिक्त वादी बनकर मुकदमा चालू रखने के लिये प्रार्थनापत्र दिया। ब ने इस प्रार्थनापत्र पर आपत्ति इस आधार पर किया कि क को इसके लिये दूसरा मुकदमा दाखिल करना चाहिए और चूँकि अ ने अपने अधिकार का हस्तांतरण कर दिया है इसलिए वाद उत्सर्जित हो जाना चाहिए। न्यायालय ने इस आपत्ति को मान लिया और प्रर्थनापत्र को उत्सर्जित कर दिया तथा वाद को अनुपस्थिति में उत्सर्जित कर दिया। इसके बाद क ने ब से संपत्ति वापस पाने के लिये जब एक मुकदमा दाखिल किया तब ब ने कहा कि यह मुकदमा आ० ९ नि० ९ से बाधित है।

निर्णय हुआ कि जब ब ने विरोध करके पहले मुकदमें में उसे वादी नहीं बनने दिया तब वह अब यह नहीं कह सकता कि मुकदमा बाधित है। अनुमोदन और अननुमोदन दोनों वह एक साथ नहीं कर सकता।

Interrupt	विघ्न डालना
Interrupted	खंडित
Interruption	विघ्न, बाधा
Interstate	अंताराज्य
„ movement	अंताराज्य वहन
„ trade	अंताराज्य व्यापार
Interval	अंतर, अंतरावधि, समयांतर
Intervene	बीच में आना
Intervening	बीच में आनेवाला
Intervention	अंतरायण, अंतराय
Interventionist	अंतरायणवादी
Interview	साक्षात्कार
Intervivos	जीवितों में
Intestate	इच्छापत्रहीन
„ holdings	इच्छापत्रहीन धृत क्षेत्र
Intestate succession	इच्छापत्रहीन उत्तराधिकार
In that behalf	उस विषय में, तत्संबंधी, उस बारे
In that respect	तद्विषयक
In the absence of a contract to the contrary	यदि कोई संविदा इसके प्रतिकूल न हो
In the abstract	सिद्धांततः
„ „ capacity	के रूप में
„ „ case of	की स्थिति में, की अवस्था में, के विषय में
„ „ course of	के क्रम में, के बीच में
„ „ „ „ business	व्यापार क्रम में
„ „ dealing	के व्यवहारों में
„ „ discharge of official duties	शासकीय कर्तव्यों के पालन में
„ „ event of	के होने पर, की अवस्था में
„ „ „ „ an attachment order	कुर्की का आदेश होने पर
„ „ first case	प्रथमतः
„ „ „ instance	प्रथमतः, प्रथम बार
„ „ „ place	प्रथमतः
„ „ following	निम्नलिखित में
„ „ form and manner prescribed by	द्वारा विहित रूप और रीति में
„ „ „ appended	संलग्न प्रपत्र में
„ „ interest of	के हित में, के हेतु, के लिये

In the least	कम से कम
„ „ „ degree	कदापि नहीं
„ „ light of	का ध्यान रखते हुए
„ „ male line	पितृ परंपरा में
„ „ manner	रीति से
„ „ „ aforesaid	पूर्वोक्त रीति से
„ „ „ provided	उपबंधित रीति से
„ „ „ specified	निर्दिष्ट रीति से
„ „ meantime	इस बीच में, इतने में
„ „ meanwhile	इतने में
„ „ name of	के नाम से
„ „ „ „ a nominee	निर्दिष्ट व्यक्ति के नाम में
„ „ nature of	के प्रकार का
„ „ ordinery course of business	सामान्य व्यापार क्रम में
„ theory	सिद्धांततः
„ the performance of	के पालन में
„ „ prescribed form	विहित रूप में
„ „ presence of	के समक्ष, की उपस्थिति में
„ „ public interest	लोक हित के लिये
„ „ record	अभिलेख में
„ „ right way	ठीक रीति से
„ „ same act on transaction	उसी क्रिया अथवा व्यवहार में
„ „ „ capacity	उसी परिस्थिति में
„ „ „ place	वही, उसी स्थान पर
„ „ „ way	उसी भाँति
In the second instance	द्वितीयतः
„ „ sense	अभिप्राय में
„ „ shape of	के रूप में
„ „ strongest terms	कठोरतम शब्दों में
„ „ teeth of the rules	नियमों के होते हुए भी
„ „ usual way	सामान्य प्रकार से
„ „ way	बाधक होना
„ this behalf	इस विषय में, इस बारे में, एतदर्थ, इसके लिये
„ „ connection	इस संबंध में
Intimacy	घनिष्टता
Intimate	घनिष्ट, निकट

Intimate contact	निकट संपर्क
,, knowledge	गहन ज्ञान
Intimation	प्रज्ञापन, सूचना
,, card	सूचना पत्रक
,, renewal	नवकरण की सूचना
,, report	सूचना प्रतिवेदन
In time	समय पर
Intimidate	अभित्रासन, धमकी देना
Coercion	बल प्रयोग करना
Torture	यातना देना
Extortion	बलात् लेना
Intimidation	अभित्रास, डराना
In token of	के प्रमाण स्वरूप
Intolerable	असह्य
Intolerance	असहिष्णुता
Intolerant	असहिष्णु
In toto	संपूर्णतः
Intoxicant	मादक, मादक द्रव्य
Intoxicate	सुरामत्त करना, मत्त करना
Intoxicated	मत्त
,, person	मत्त व्यक्ति
Intoxicating	मादक
,, liquor	मादक पान, मदिरा
Intoxication	मद, मादकता
Intra vires	शक्ति अंतर्गत
Intricacy	जटिलता
Intricate	जटिल, दुर्गम
,, details	जटिल विस्तार
Intrigant	षड्यंत्रकारी
Intrigue	षड्यंत्र, षड्यंत्र करना
Intriguer	षड्यंत्रकारी
Intriguery	षड्यंत्र रचना
Intrinsic	निज, आंतर, आभ्यंतर
,, characteristics	निज लक्षण
,, value	धात्विक मूल्य
,, weight	निज भार

In triplicate	तीन प्रतियों में
Introduce	प्रवेश करना, प्रस्तुत करना, परिचय कराना
Introduction	विषय प्रवेश, भूमिका, प्रस्तावना
Introductory	परिचायक
Intrude	बलात्प्रवेश करना, घुस आना
Intruder	बलात्प्रवेष्टा
Intrusion	बलात्प्रवेश, घुस आना, अपधारण
In trust	न्यास में
" " for	के लिये न्यास में
Inure	अभ्यस्त होना, काम में आना, उपयोग में आना
Inured	अभ्यस्त
Invade	चढ़ाई करना, आक्रमण करना
In vain	व्यर्थ
Invalid	१ दुर्बल २ अवैध
" adoption	अवैध दत्तकग्रहण
Invalidate	अमान्य करना, अमान्य ठहराना
Invalid election	अमान्य निर्वाचन
Invalidity	अमान्यता, अवैधता, असमर्थता
Invalid or inoperative	अमान्य अथवा अप्रवर्ती
Invariable	सतत, अपरिवर्ती
" rule	सतत् नियम
Invasion	आक्रमण, चढ़ाई
Invective	गाली
Invention	उपज्ञा, आविष्कार
Inventions and Designs Act	उपज्ञा अथवा आकल्प अधिनियम
Inventor	उपज्ञाता
Inventory	तालिका
Inventory of the goods	वस्तुओं की तालिका
Inverse	विपरीत, विलोम
Invert	उलटा
Invest	नियोजन, लगाना, देना
Invested with powers	शक्तियों से युक्त
Investigate	अनुसंधान करना, अन्वेषण
Investigating officer	अनुसंधान अधिकारी
Investigation and prosecution	अनुसंधान और अभियोजन
" of crime	अपराध अनुसंधान

Investigator	अनुसंधाता
Investing powers	नियोजी शक्तियाँ
Investor	नियोजक
Invest with a right	अधिकार देना, अधिकारयुक्त करना
In view of	को दृष्टि में रखते हुए
Invigilate	वीक्षण
Invigilator	वीक्षक
Invincible	अजेय
Inviolable	अनतिक्रम्य
Inviolate	अनतिक्रम्य
In virtue of	के सामर्थ्य से
Invisible	अदृश्य
Invite	निमंत्रित करता, माँगना, आकर्षित करना
Invite attention	ध्यान आकृष्ट करना
Invited error	प्ररोचित भूल
In vogue	प्रचलित
Invoice	बीजक
Involuntary	अनैच्छिक
„ alienation	अनैच्छिक अन्यक्रामण
„ bankrupt	अनैच्छिक नष्ट निधि
„ bankruptcy	अनैच्छिक नष्ट निधित्व
Involved	अंतर्ग्रस्त, ग्रस्त
„ in accident	दुर्घटना ग्रस्त
In wholl on in part	पूर्णतः अथवा अंशतः
„ witness whereof	जिसके साक्ष्य में
„ words	अक्षरों में
„ writing	लेखबद्ध, लिखित
I. O. U. (I owe you)	धा० ते०, (धारयामि ते)
I. P. C. (Indian Penal Code)	भा० दं० सं० (भारतीय दंड संहिता)
Irony	व्यंग, विडंबना
„ of fate	विधि विडंबना
Irreconcilable	असमाधेय
Irrecoverable	अप्रत्यादेय
„ claim	अप्रत्यादेय अभ्यर्थना
„ loss	अप्रत्यादेय हानि
Irredeemable	अशोध्य

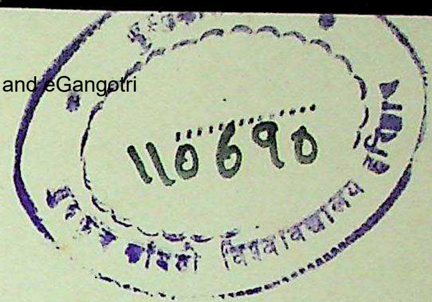
Irredeemable debentures	अशोध्य ऋणपत्र
Irredeemable debt	अशोध्य ऋण
Irrefutable	अकाट्य
Irregular	अनियमित
„ commitment	अनियमित उपार्पण
Irregularity	अनियमितता
„ of procedure	प्रक्रिया की अनियमितता
Irregularly	अनियमित रूप से
Irregular process	अनियमित आदेशिका
Irrelevance	असंगति
Irrelevant	असंगत, अप्रासंगिक
Irreparable	अपूर्य
„ damage	अपूर्य हानि
„ injury	अपूर्य क्षति
„ loss	अपूर्य हानि
Irresistible	अरोध्य
„ force	अरोध्य शक्ति
„ impulse	अरोध्य आवेग
„ injury	अरोध्य क्षति
„ violence	अरोध्य हिंसा
Irrespective	अनपेक्ष, चाहे…कुछ भी न हो, असंबद्ध, अनाश्रित
Irresponsible	अनुत्तरदायी
Irretrievable	अपूर्य
Irreversible	अपरिवर्त्य
Irrevocable	अप्रतिसंहार्य
Irrigate	सिंचाई करना
Irrigation	सिंचाई
Irritant	शून्यकारी
„ clause	शून्यकारी खंड
Issuable	निर्गम्य
Is subject to	के अधीन हैं
Issue	वादपद, परिणाम, पद
„ of fact	तथ्य वादपद
„ „ law	विधि वादपद
„ „ orders	आदेश निकालना
„ „ process	आदेशिका निकालना

Issue of the body (heir of the body) आत्मजदायाद
„ „ void marriage प्रवृत्तिहीन विवाह की संतान
„ price निर्गम मूल्य
„ statement निर्गम विवरण
Issuing aurthority निर्गमन प्राधिकारी
Item पद, वस्तु, बात
„ by item पदशः
Itemize पदबद्ध करना
Item number पदसंख्या
„ of trade ब्यापार मद
„ on the agenda कार्यावलि पद
Items of expenditure व्यय पद
Itemwise पदशः

J

Jactitation (दूसरे को हानि पहुँचाने वाली एक बहक) विकत्थन
„ of marriage विवाह विकत्थन
Jail कारागार
„ department कारागार विभाग
Jailor कारापाल
Jail manual कारागार नियमावलि
Jar कलश
Jarring effect कर्कश प्रभाव
Jerk झटका
Job कृत्य, कृत्यक
Joinder संयोजन
„ in action बाद में संयोजन
„ „ issue वादपद में संयोजन
„ of parties पक्ष संयोजन
Joining report कार्य ग्रहण प्रतिवेदन
Joint संयुक्त, सह
„ action संयुक्त कार्यवाही, संयुक्तवाद
„ and several संयुक्त और पृथक्
„ „ „ liability संयुक्त और पृथक् दायित्व
„ „ „ promissory note संयुक्त और पृथक् वचनपत्र
„ annuity संयुक्त वार्षिकी
„ bond संयुक्त बंधपत्र

Joint claimants — संयुक्त अध्यर्थक
„ commission — संयुक्त आयोग
„ committee — संयुक्त समिति
„ contract — संयुक्त संविदा
Joint director — संयुक्त संचालक
„ electorate — „ निर्वाचक वर्ग
„ enquiry — „ जाँच
„ executor — „ निष्पादक
„ family — „ परिवार
„ „ property — „ परिवार संपत्ति
„ farming — „ खेती
„ Hindu family — „ हिंदू परिवार
„ holders — „ धारी
„ indictment — „ अभ्यारोप
„ in estate — संपदा में संयुक्त
„ interest — संयुक्त हित
„ landlords — „ भूमिपति
„ liability — „ देयता
Jointly — „ रूप से
„ interested — „ हितबद्ध
Joint meeting — „ अधिवेशन
„ ownership — „ स्वामित्व
„ petition — „ याचिका
„ promissee — „ प्रतिज्ञाग्रहीता
„ promisor — „ प्रतिज्ञाता
„ resolution — „ संकल्प
„ session — „ सत्र
„ sitting — „ बैठक
Joint tenancy — संयुक्त भू धारण
„ tenant — संयुक्त कृषक
„ tort feasors — संयुक्त जिह्मकर्ता
„ trespass — संयुक्त अनधिप्रवेश
„ trustees — संयुक्त न्यासी
„ undivided estate — „ अविभक्त संपदा
Jointure — विधवा धन
„ of lands — विधवा भूधन



विधि पत्रिका के नियम

(१) "विधि पत्रिका" का वार्षिक, षाण्मासिक और त्रैमासिक शुल्क क्रमशः १०), ५॥) और २॥) है; एक प्रति का मूल्य १) है। शुल्क मनीआर्डर या वी० पी० द्वारा देय है। वी० पी० से मँगाने में डाकव्यय अतिरिक्त लगेगा।

(२) शुल्क 'मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, "विधि पत्रिका" विभाग, वाराणसी—१' के पते से आना चाहिए।

(३) "विधि पत्रिका" प्रत्येक अँगरेजी मास के अंतिम सप्ताह में प्रकाशित होगी।

(४) "विधि पत्रिका" में विधि संबंधी लेख तथा विधि विषयक पत्रों, पुस्तकों आदि की समालोचनाएँ भी प्रकाशित होंगी। समालोचनार्थ पुस्तकों की दो दो प्रतियाँ आनी चाहिए। लेख, समालोचनार्थ पुस्तकें आदि 'संपादक, "विधि पत्रिका", नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी—१' के पते से भेजनी चाहिए।

सोल एजेंट :—

श्री भगवानदास गोवर्धनदास शाह,
के० २७।११, कूचा माधोदास सामिया,
भैरो बाजार,
वाराणसी।



प्रकाशक और मुद्रक—नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी की ओर से तथा उसके लिये श्री सिद्धनाथ सिंह,
नागरी मुद्रण, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।